गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

(तृतीय खण्ड)

प्रकाशक : श्रीरामानन्द पुस्तकालय, सुदामाकुटी, वृन्दावन

सीता राम, सीता राम
सीता राम, जय सीता राम
राधे श्याम, राधे श्याम
राधे श्याम, जय राधे श्याम

राधे श्याम, राधे श्याम
राधे श्याम, जय राधे श्याम
सीता राम, सीता राम
सीता राम, जय सीता राम

॥ श्रीसीतारामाभ्यां नमः ॥

श्रीरामानन्द पुस्तकालय प्रकाशनमाला का नवम पुष्प-

श्रीमद् गोस्वामी श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

तृतीय-खण्ड

श्रीमत् प्रियादास जी कृत कवित्तमयी

भक्तिरस-बोधिनी

(टीका सहित)

मूल छप्पय ७९ से १२८ तक - टीका कवित्त ३४० से ५०७ तक

●

टीकाकार :

श्रीगणेशदासजी 'भक्तमाली' (गोवर्धन)

●

भाष्यकार :

रामायणी श्रीरामेश्वरदास जी (चित्रकूटी)

●

सम्पादक :

जगन्नाथदास शास्त्री

●

प्रकाशक :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन (मथुरा)

मूल्य ३५०/- रुपये

ISBN : 978-93-84836-05-4

•

प्रकाशक :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा)

•

अष्टम संस्करण : ४००० प्रतियाँ

•

प्रकाशन तिथि :

श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य जयन्ती

माघ कृष्ण सप्तमी, सम्वत् २०७२

•

मूल्य-३५०/- रुपये

•

प्राप्ति-स्थान :

श्रीरामानन्द पुस्तकालय

सुदामाकुटी, वृन्दावन, पिनकोड-२८११२१ (जिला-मथुरा)

मोबाइल : ०९२१९८८०१११

•

खण्डेलवाल ग्रन्थालय

अठखम्बा, वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा)

•

मुद्रण-संयोजन :

श्रीहरिनाम प्रेस

बाग बुन्देला, लोई बाजार, वृन्दावन-२८११२१

पुरोवाक्

डॉ० प्रेमनारायण श्रीवास्तव 'प्रियादास'

एम.ए., बी.एस.सी., पी-एच.डी., रिसर्च फेलो ऑफ् डी. लिट्., प्रोफेसर तथा शोध निदेशक,
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, इंस्टीट्यूट ऑफ् ओरियण्टल फिलॉसफी, वृन्दावन

गाऊँ रामकृष्ण नहीं पाऊँ भक्तदावँ को।।

जहाँ भक्तों ने "हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता।।' कहकर भगवान् और उनकी कथा को अनन्त कहा है, वहाँ भगवान् ने "न मे भक्तः प्रणश्यति।" कहकर अपने भक्तों को भी अजर-अमर माना है। भगवान् और उनके भक्तों का यह अन्योन्याश्रित भाव है, जिसकी पुष्टि भगवान् के "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" इस वाक्य से होती है। इसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि जब से भगवान् हैं, तभी से उनके भक्त हैं और जब से भगवान् की कथा है, तभी से भक्तों की भी कथा है। यहाँ यह कह देना भी अत्युक्ति न होगी कि भक्तों के बिना भगवान् की कोई लीला बन ही नहीं सकती। भक्तवर अम्बरीषजी न होते तो भगवान् की दशावतार लीला कैसे बनती? ऐसे ही भक्त प्रह्लादजी न होते तो भगवान् का नृसिंह अवतार भी क्यों होता आदि। यही कारण है कि भक्तवत्सल भगवान् अपने दीन-हीन निष्किंचन भक्तों को अपने से भी बड़ा मानते हैं-"सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते अधिक सन्त करि लेखा।" बात ठीक भी है। यदि भक्त भगवान् से बड़े न होते तो वे अपने छोटे से हृदय में भगवान् के विराट्-स्वरूप को भला कैसे बन्द कर पाते?

दूसरी बात यह है कि भगवान् अपने भक्त को उतना महत्व नहीं देते, जितना कि अपने भक्त के भक्तों को देते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं-"मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः।" तब भक्तमाल के टीकाकार वैष्णवरत्न श्रीप्रियादासजी ने जो यह लिखा है कि-गाऊँ रामकृष्ण नहीं पाऊँ भक्तदावँ को।।" ठीक ही लिखा है, अर्थात् भगवान् राम और कृष्ण का अहर्निश गुणगान करने पर भी भक्त का स्वरूप एवं रहस्य भली प्रकार समझ में नहीं आता भला ऐसा क्यों? तब फिर भगवद्-भक्ति के स्वरूप-ज्ञान का और उसकी प्राप्ति का अन्य क्या उपाय है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं-"शोभित तिलक भाल माल उर राजै ऐपै बिना भक्तमाल भक्तिरूप अति दूर है।।" इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि कण्ठी-मन्त्र, तिलक-छाप आदि वैष्णव-स्वरूप धारण करके अहर्निश भगवान् का गुणानुवाद करते रहने पर भी बिना

सन्तों-भक्तों के कथा-श्रवण एवं सत्संग आदि के भगवद्-भक्ति की प्राप्ति एवं उसके स्वरूप का ज्ञान कथमपि सम्भव नहीं कहा जा सकता। भागवतकार ने भी जड़भरत-रहूगण प्रसंग में ''विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।'' कहकर उक्त बात की पुष्टि की है।

भक्तवत्सल भगवान् सदैव अपने भक्तों के वशीभूत रहते हैं। अम्बरीष-दुर्वासा प्रसंग में द्विज श्रेष्ठ दुर्वासा ऋषि के प्रति भगवान् के श्रीमुख से प्रस्फुटित यह वाणी कितनी मार्मिक है-''अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'' इसी प्रसंग में भगवान् ने यह भी कहा है कि सन्तजन मेरे हृदय हैं और मैं सन्तों का हृदय हूँ-''साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।'' इतना ही नहीं अपने निष्किंचन प्रेमीजनों के पीछे भगवान् निरन्तर गो-वत्स की भाँति घूमते ही रहते हैं-''अनुव्रजाम्यहं नित्यम्।'' तब श्रीप्रियादासजी ने ''गाऊँ राम कृष्ण नहीं पाऊँ भक्तदावँ को।'' कहकर निश्चय ही भक्त और भक्ति के महत्व का प्रतिपादन किया है। अर्थात् भगवद्-भक्ति के स्वरूप का ज्ञान एवं उसकी प्राप्ति का एकमात्र अमोघ साधन भगवद् गुणानुवाद और नाम-संकीर्तन के साथ-साथ भगवद्-भक्तों का संग एवं भक्तचरितावली अथवा श्रीभक्तमाल का निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना ही है। इसके अतिरिक्त भगवद्-भक्ति प्राप्ति एवं उसके स्वरूप ज्ञान का अन्य कोई साधन नहीं है, नहीं है, नहीं है।

प्रसन्नता की बात है कि श्रीभक्तमाल के तृतीयखण्ड का प्रथम संस्करण भी भक्तवत्सल भगवान् के श्रीचरण-कमलों में समर्पित होने जा रहा है। श्रीभक्तमाल के लेखन एवं प्रकाशन का श्रेय ''बाबा श्रीगणेशदासजी ''भक्तमाली'' एवं रामायणी श्रीरामेश्वरदासजी'' को ही है। जिनका सम्पूर्ण जीवन ही श्रीभक्तमाल के लिए समर्पित है इसके प्रकाशन से ''श्रीरामानन्द पुस्तकालय'' सुदामाकुटी, वृन्दावन का संस्थापन सार्थक हो गया। यह भी परम हर्ष का विषय है कि अनन्य गो-सन्तसेवी महन्त श्रीसुदामादासजी महाराज के संरक्षकत्व में एवं श्रीभक्तमाल के अमर-गायक परम सन्त ब्रजरजलीन पंडित श्रीजगन्नाथप्रसादजी की अध्यक्षता में श्रीवृन्दावन में यमुनापुलिन की परम पुनीत स्थली सुदामाकुटी के विशाल प्रांगण में ''श्रीभक्तमाल सचित्र-शिलालेख मन्दिर'' का निर्माण कार्य भी प्रारम्भ हो चुका है। निश्चय ही इस महत् कार्य से भक्ति का चतुर्दिक् प्रचार-प्रसार होगा-ऐसी पूर्ण आशा है।

भक्तकिंकर :

प्रियादास

श्रीभक्तमाल सचित्र शिलालेख मन्दिर समिति (रजि०)

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन

श्रीभक्तमाल-जयन्ती
फाल्गुन कृष्ण सप्तमी
वि. सं. २०३७

❖ श्रीजानकीवल्लभो विजयते ❖

श्रीरामचरितमानस में-

भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु

लेखक - गो-सन्तसेवी, महामहिम महन्त श्रीनृत्यगोपालदासजी शास्त्री)
श्रीमणिरामदासजी की छावनी, श्रीअयोध्या

उपासनासार सर्वस्व ''भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु'' को ''चतुर नाम वपु एक'' कहकर श्रीनाभाजी (श्रीनारायणदासजी) ने श्रीभक्तमाल में जिस सार्वभौम सिद्धान्त का उद्घाटन किया है, वह सर्वथा श्रुति, शास्त्र सम्मत है तथा उसके सार्वभौमत्व के सम्बन्ध में सन्तों एवं सदाचार्यों का मतैक्य है। कलिपावनावतार, प्रातःस्मरणीय, भक्त शिरोमणि, कविकुलकुमुदकलाधर, कविताकानन केशरी पूज्यपाद श्रीमद् गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने ''नाना पुराणनिगमागम सम्मत'' श्रीरामचरितमानस में किस आदर के साथ इस सिद्धान्त का अभिनन्दन किया है? प्रस्तुत निबन्ध में इसका दिग्दर्शन कराया जा रहा है। श्रीरामचरितमानस का श्रीगणेश ही ''भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु'' की वन्दना से होता है। यथा-

भक्त-वन्दना

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि। मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ।।
भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यति सिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरम्।।
सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ। वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ।।

सोरठा- जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिवर वदन।
करउ अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुण सदन।।
कुन्द इन्दु सम देह उमा रमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह करउ कृपा मर्दन मयन।।

दोहा- वन्दउँ सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोइ।।
सन्त सरल चित जगत् हित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु।।

सन्तों-भक्तों के कथा-श्रवण एवं सत्संग आदि के भगवद्-भक्ति की प्राप्ति एवं उसके स्वरूप का ज्ञान कथमपि सम्भव नहीं कहा जा सकता। भागवतकार ने भी जड़भरत-रहूगण प्रसंग में "विना महत्पादरजोऽभिषेकम्।" कहकर उक्त बात की पुष्टि की है।

भक्तवत्सल भगवान् सदैव अपने भक्तों के वशीभूत रहते हैं। अम्बरीष-दुर्वासा प्रसंग में द्विज श्रेष्ठ दुर्वासा ऋषि के प्रति भगवान् के श्रीमुख से प्रस्फुटित यह वाणी कितनी मार्मिक है-"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।" इसी प्रसंग में भगवान् ने यह भी कहा है कि सन्तजन मेरे हृदय हैं और मैं सन्तों का हृदय हूँ-"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।" इतना ही नहीं अपने निष्किंचन प्रेमीजनों के पीछे भगवान् निरन्तर गो-वत्स की भाँति घूमते ही रहते हैं-"अनुव्रजाम्यहं नित्यम्।" तब श्रीप्रियादासजी ने "गाऊँ राम कृष्ण नहीं पाऊँ भक्तदावँ को।" कहकर निश्चय ही भक्त और भक्ति के महत्व का प्रतिपादन किया है। अर्थात् भगवद्-भक्ति के स्वरूप का ज्ञान एवं उसकी प्राप्ति का एकमात्र अमोघ साधन भगवद् गुणानुवाद और नाम-संकीर्तन के साथ-साथ भगवद्-भक्तों का संग एवं भक्तचरितावली अथवा श्रीभक्तमाल का निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना ही है। इसके अतिरिक्त भगवद्-भक्ति प्राप्ति एवं उसके स्वरूप ज्ञान का अन्य कोई साधन नहीं है, नहीं है, नहीं है।

प्रसन्नता की बात है कि श्रीभक्तमाल के तृतीयखण्ड का प्रथम संस्करण भी भक्तवत्सल भगवान् के श्रीचरण-कमलों में समर्पित होने जा रहा है। श्रीभक्तमाल के लेखन एवं प्रकाशन का श्रेय "बाबा श्रीगणेशदासजी "भक्तमाली" एवं रामायणी श्रीरामेश्वरदासजी" को ही है। जिनका सम्पूर्ण जीवन ही श्रीभक्तमाल के लिए समर्पित है इसके प्रकाशन से "श्रीरामानन्द पुस्तकालय" सुदामाकुटी, वृन्दावन का संस्थापन सार्थक हो गया। यह भी परम हर्ष का विषय है कि अनन्य गो-सन्तसेवी महन्त श्रीसुदामादासजी महाराज के संरक्षकत्व में एवं श्रीभक्तमाल के अमर-गायक परम सन्त ब्रजरजलीन पंडित श्रीजगन्नाथप्रसादजी की अध्यक्षता में श्रीवृन्दावन में यमुनापुलिन की परम पुनीत स्थली सुदामाकुटी के विशाल प्रांगण में "श्रीभक्तमाल सचित्र-शिलालेख मन्दिर" का निर्माण कार्य भी प्रारम्भ हो चुका है। निश्चय ही इस महत् कार्य से भक्ति का चतुर्दिक् प्रचार-प्रसार होगा-ऐसी पूर्ण आशा है।

भक्तकिंकर :

प्रियादास

श्रीभक्तमाल सचित्र शिलालेख मन्दिर समिति (रजि०)

सुदामाकुटी, श्रीधाम वृन्दावन

श्रीभक्तमाल-जयन्ती
फाल्गुन कृष्ण सप्तमी
वि. सं. २०३७

❖ श्रीजानकीवल्लभो विजयते ❖

श्रीरामचरितमानस में-

भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु

लेखक - गो-सन्तसेवी, महामहिम महन्त श्रीनृत्यगोपालदासजी शास्त्री)
श्रीमणिरामदासजी की छावनी, श्रीअयोध्या

उपासनासार सर्वस्व "भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु" को "चतुर नाम वपु एक" कहकर श्रीनाभाजी (श्रीनारायणदासजी) ने श्रीभक्तमाल में जिस सार्वभौम सिद्धान्त का उद्घाटन किया है, वह सर्वथा श्रुति, शास्त्र सम्मत है तथा उसके सार्वभौमत्व के सम्बन्ध में सन्तों एवं सदाचार्यों का मतैक्य है। कलिपावनावतार, प्रातःस्मरणीय, भक्त शिरोमणि, कविकुलकुमुदकलाधर, कविताकानन केशरी पूज्यपाद श्रीमद् गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ने "नाना पुराणनिगमागम सम्मत" श्रीरामचरितमानस में किस आदर के साथ इस सिद्धान्त का अभिनन्दन किया है? प्रस्तुत निबन्ध में इसका दिग्दर्शन कराया जा रहा है। श्रीरामचरितमानस का श्रीगणेश ही "भक्त, भक्ति, भगवन्त और गुरु" की वन्दना से होता है। यथा-

भक्त-वन्दना

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि। मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ।।
भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।।
सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ। वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ।।

सोरठा- जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करिवर वदन।
करउ अनुग्रह सोइ बुद्धि रासि सुभ गुण सदन।।
कुन्द इन्दु सम देह उमा रमन करुना अयन।
जाहि दीन पर नेह करउ कृपा मर्दन मयन।।

दोहा- वन्दउँ सन्त समान चित हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलि गत सुभ सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोइ।।
सन्त सरल चित जगत् हित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु।।

कपिपति रीछ निसाचर राजा। अंगदादि जे कीश समाजा।।
वन्दउँ सबके चरन सुहाये। अधम सरीर राम जिन्ह पाये।।
रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते।।
वन्दउँ पद सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे।।
सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिवर बिग्यान बिसारद।।
प्रनवउँसबहिंधरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा।।

भक्ति-वन्दना

उद्भवस्थिति संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्। सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।
जनक सुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की।
ताके युग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निरमल मति पावउँ।।

भगवन्त-वन्दना

यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा-
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां,
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।।

पुनः- मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन।।
नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम सदा छीर सागर सयन।।

चौपाई- पुनि मन वचन कर्म रघुनायक। चरण कमल वन्दउँ सब लायक।।
राजिवनयन धरें धनु सायक। भगत विपति भंजन सुखदायक।।

गुरु-वन्दना

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्। यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।।

पुनः- वन्दउँ गुरुपद कंज कृपासिन्धु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज जासु वचन रवि कर निकर।।

चौपाई- वन्दउँ गुरुपद पदुम परागा। सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।।
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।
श्रीगुरु पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।। आदि

वाणी- (सरस्वती), विनायक (गणेश), भवानी-शंकर और कवीश्वर (वाल्मीकि), कपीश्वर (हनुमानजी) आदि सभी भक्त हैं। यथा-

(वाणी)- भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई।।
रामचरित सर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये।।

(विनायक)- महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ।।

(भवानी)- सहस नाम सम सुनि शिव बानी। अपि जेईं पिय संग भवानी।।

(शंकर)- 'वैष्णवानां यथा शम्भुः' (श्रीभागवत)
रामहिं भजहिं तात शिव धाता। नर पावँर कै केतिक बाता।।

(कवीश्वर)- वन्दउँ मुनि पद कंज, रामायन जेहिं निरमयउ।
सखर सुकोमल मंजु, दोष रहित दूषन सहित।।

(कपीश्वर)- अतुलित बलधामं हेमशैलाभदेहं, दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकल गुणनिधानं वानराणामधीशं, रघुपति प्रियभक्तं वातजातं नमामि।।

श्रीजानकीजी भक्ति हैं। यथा-

सानुज सीय समेत प्रभु, राजत परन कुटीर।
भगति ज्ञान वैराग्य जनु, सोहत धरे सरीर।।

श्रीराम भगवान् हैं। यथा-

धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा राम स्वबस भगवानू।।
निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।। आदि

'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं' में तो गुरु-वन्दना स्पष्ट रूप से है ही।

इस प्रकार जैसे श्रीभक्तमाल में सर्वप्रथम 'भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु' की वन्दना की गयी है। उसी प्रकार श्रीरामचरितमानस में भी सर्वप्रथम 'भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु' की वन्दना की गयी है। पुनः जैसे श्रीनाभाजी ने 'चतुर नाम वपु एक' कहकर चारों की एकता का प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार श्रीरामचरितमानस में भी इनका तत्वैक्य प्रतिपादित है।

यथा-भक्त और भगवन्त की एकता-'जानेसु सन्त अनन्त समाना।' भगवान् और भक्ति की एकता-यथा-

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दउँ सीताराम पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न।।

भगवान् और गुरु की एकता-यथा-वन्दउँ............नर रूप हरि।

श्रीभक्तमाल की ही भाँति श्रीरामचरितमानस में आद्योपान्त 'भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु' की महिमा ओत-प्रोत है-यथा-

भक्त-महिमा

मुद मंगल मय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू।।
राम सिन्धु घन सज्जन धीरा। चन्दन तरु हरि सन्त समीरा।।
सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा।।
भक्तन कै महिमा रघुराई। बहुविधि वेद पुराणन गाई।।

भक्ति-महिमा

प्रेम भक्ति जल बिनु रघुराई। अभि अन्तर मल कबहुँ न जाई।।
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा।।
जाते वेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।।
जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।।

भगवन्त-महिमा

मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई।।
राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुराण साधु सुर साखी।।
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।।
कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आये सरन तजउँ नहिं ताहू।।

गुरु-महिमा

गुरु बिन भवनिधि तरइ न कोई। जौ विरंचि शंकर सम होई।।
गुरु के वचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।।
जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं।।
जे गुरु पद अम्बुज अनुरागी। ते लोकहुँ वेदहुँ बड़भागी।।

तथ्य तो यह है कि जैसे श्रीभक्तमाल में 'भक्त' का स्थान सर्वोपरि है, उसी प्रकार श्रीरामचरितमानस में भी भक्तों को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। यथा-

मोरे मन प्रभु अस विस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोते सन्त अधिक करि लेखा।।

जैसे श्रीनाभाजी ने भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु में सर्वप्रथम भक्त का ही स्मरण किया है, उसी प्रकार श्रीरामचरितमानस में भी श्रीमद् गोस्वामी तुलसीदासजी ने सर्वप्रथम वाणी विनायक भक्त की वन्दना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीरामचरितमानस और श्रीभक्तमाल का हृदय एक है। विस्तार भय से यहाँ अति संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया है।

गो-सन्तसेवी : **महन्त नृत्यगोपालदास शास्त्री**

।।श्रीराम।।

सम्पादकीय निवेदन

भक्त-भगवान् की विशेष प्रेरणा एवं अनुकम्पा से विशद् व्याख्या सहित प्रकाशित होने वाले श्रीभक्तमाल के चार खण्ड हैं- प्रथम जिसे पूर्वार्द्ध कहा जाता है, जिसमें सतयुग, त्रेता, द्वापर पर्यन्त के भक्तों के चरित्र हैं। इसमें मूल २७ छन्द हैं एवं भक्तिरसबोधिनी टीका के १०५ कवित्त हैं। दूसरे खण्ड में जिसे उत्तरार्द्ध का प्रथम कहा जाता है, उसमें चतुःसम्प्रदायाचार्यों के अतिरिक्त श्रीनामदेवजी, श्रीजयदेवजी, श्रीकबीरजी, श्रीरैदासजी, श्रीपीपाजी, श्रीनित्यानन्दजी, श्रीचैतन्य महाप्रभुजी, श्रीसूरदासजी, श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीहरिव्यासदेवजी आदि लगभग १०० विशिष्ट सन्तों के चरित्र हैं। इसमें मूल छन्द २८ से ७८ तक अर्थात् ५१ छन्द हैं एवं टीका १०६ से ३३९ तक २३४ कवित्त हैं। तृतीय खण्ड में जिसे उत्तरार्द्ध का द्वितीय कहते हैं जो पाठकों के हाथों में है। इसमें मूल ७९ से १२८ तक अर्थात् ५० छन्द हैं और टीका ३४० से ५०७ तक १६८ कवित्त हैं। गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीरूप-सनातनजी, श्रीहितहरिवंशजी, श्रीस्वामीहरिदासजी, श्रीहरिरामव्यासजी, श्रीजीवगोस्वामीजी, श्रीकुम्भनदासजी, श्रीनन्ददासजी, श्रीगोविन्दस्वामीजी, श्रीमीराबाईजी, श्रीनरसीजी आदि लगभग १२५ भक्तों के पावन-चरित्र इसमें हैं। चतुर्थ खण्ड जिसे उत्तरार्द्ध का तृतीय कहेंगे। यह खण्ड श्रीभक्तमाल के सुमेरु श्रीतुलसीदासजी से आरम्भ हुआ। इसमें श्रीगदाधरभट्टजी, श्रीरत्नावतीजी, श्रीछीतस्वामीजी, श्रीचतुरोनगन (श्रीनागाजी), श्रीकरमैतीजी, श्रीप्रेमनिधिजी, आदि लगभग १०० प्रेमी भक्तों के विशद् चरित्रों का वर्णन है। इसमें १२९ छन्द से २१४ तक ८६ मूल छन्द हैं एवं टीका ५०८ से ६३४ अंत तक १२७ कवित्त हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ में मूल २१४ एवं टीका-कवित्त ६३४ हैं। एवं यह चार खण्डों में विभक्त है।

निःसंदेह परम पवित्र श्रीभक्तमाल साम्प्रदायिक ग्रन्थ है। इसमें भक्ति रस की सभी उपासनाओं की विधियाँ हैं एवं उनका पोषण है। सभी सम्प्रदायों में समन्वय एवं उन्हें एक सूत्र में बाँधना उनका लक्ष्य है। इसमें वर्णित साम्प्रदायिकता परस्पर सद्भाव को उत्पन्न कर जोड़ने वाली है। वस्तुतः सम्प्रदाय शब्द का एवं सम्प्रदायों का वास्तविक रहस्य प्रकट करने वाला यही ग्रन्थ है। मूल एवं टीकाकार ने पक्षपात अथवा द्वेषवश एक शब्द भी नहीं लिखा है। उन्हीं की भावनाओं का आदर करते हुए इसकी व्याख्या में भी पक्षपात एवं द्वेष का लेश नहीं है। भक्त-चरित्रों का संग्रह करते समय तत्तत् सम्प्रदायों के ग्रन्थों का ही सहारा लेना पड़ता है अर्थात् उन्हीं के अनुसार उन-उनके चरित्रों को लिखना पड़ता है। प्रेमी पाठकजन इसकी व्याख्या का अध्ययन कर उक्त विषय को समझेंगे और मेरी अल्पज्ञतावश हुई अनेक त्रुटियों को सुधारकर पढ़ेंगे। यदि सूचना देने की कृपा करेंगे तो आगे के संस्करणों में यथासम्भव सुधार का प्रयत्न किया जा सकेगा। भक्त-भगवन्त से ऐसे सभी सहयोगों की कामना है, जिससे लक्ष्य की पूर्ति हो।

दासानुदास - गणेशदास

।। रामः सर्वत्र राजते।।

हर्षोद्गार

(लेखक-श्रीभगीरथरामजी ब्रह्मचारी, शान्तिकुटी, वशिष्ठकुण्ड, श्रीअयोध्याजी)

धन्याहमप्यद्य चिराय राघवस्मृतिर्ममासीद् भवपाशमोचिनी।
तद्भक्तसंगोऽप्यति दुर्लभो मे प्रसीदताम् दाशरथिः सदा हृदि।।

श्रीभगवत्कृपा से संविभूषित श्रीभक्तमालजी की विशद् व्याख्या प्रकाशित होकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। जिसका लेखन-प्रकाशन बड़े सौहार्द एवं उत्साह के साथ लेखक और प्रकाशक ने किया है। इसके पूर्व प्रकाशित टीका-टिप्पणियों से भी भक्तजन श्रीभक्तमाल के स्वाध्याय का लाभ उठाते रहे हैं, परन्तु इस ग्रन्थ की विशद् व्याख्या की अपेक्षा सभी भक्तमाल प्रेमियों के हृदय में बनी थी। प्रस्तुत प्रकाशन से वह स्वप्न अब साकार हुआ। भक्त-भगवन्त की सहकारिता इसे अलंकृत करने में सहायक हुई।

आज चारों दिशाओं से यह हर्षध्वनि सुनाई दे रही है कि भक्त-जगत् में नवजीवन संचार के लिये यह प्रकाशन संजीवनी का कार्य कर रहा है। इस सम्बन्ध में गो-सन्तसेवी महन्त श्रीसुदामादासजी द्वारा संस्थापित 'श्रीरामानन्द पुस्तकालय' का प्रकाशन विभाग बधाई का पात्र है। आशा है कि वह इसी प्रकार चिरकाल तक ऐसे ही महत्वपूर्ण सद्ग्रन्थों का प्रकाशन करके भक्ति का प्रचार-प्रसार करता रहेगा।

श्रीभक्तमाल की विशेषताओं में यह कहना अत्युक्ति न होगी कि अन्यान्य भक्ति साहित्यों में वैधी-भक्ति का निरुपण विस्तार के साथ किया गया है। प्रेमा-भक्ति जो कि भक्तों का चरम लक्ष्य है, उसे आवरण के साथ ही वर्णन किया है जैसे कि-

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। (गीता ७-१६)

गीताकार ने चार प्रकार के भक्तों का प्रतिपादन करके पुनः 'च' कहकर प्रेमा-भक्ति का ही संकेत किया है। उसी को सुस्पष्ट करने में प्रयत्नशील भक्ति-सूत्रकार श्रीनारदजी ने 'अनिर्वचनीय प्रेम स्वरूपम्।' कहकर विराम लिया। उसी गम्भीर तत्व को श्रीभक्तमालकार ने सरल, सरस, सुन्दर एवं रहस्यमय विविध भक्त-चरित्रों को आधार बनाकर प्रेमा-भक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया है। इसके पठन-पाठन से मनुष्य का हृदय सरल एवं सरस बनेगा और वह सर्वदा अहंकार शून्य होकर विनम्रता का पुजारी बनेगा एवं सभी सद्गुण उसमें आकर विराजेंगे। उसका हृदय 'भक्त-भक्ति-भगवन्त-गुरु' का निज-निकेतन होगा। ऐसा ही यह आशीर्वाद 'ग्रंथरत्न' है। जिसका लाभ मानव मात्र को उठाना चाहिए। सम्पूर्ण भक्त-जगत् की तथा मेरी शुभ-कामनायें इस प्रकाशन के साथ हैं।

विनीत : **भगीरथराम ब्रह्मचारी**

सूची पत्र

❖

छन्द

इस धन्य नाभा भारती की आरती आरति हरै।
यह भक्त भगवत् की कथा सब विश्व का मंगल करै।।
नर जाति जब माया विवश अज्ञान तम में पग गई।
जन भारती आभा तभी जग, जग गई जगमग गई।।
अज्ञान माया मोह तम की कालिमा कलई धुली।
सत्प्रेम समता सत्य सुख सुचि कंज कलिकायें खिलीं।।
उल्लूक खल कलिमल सकल उड़गन प्रभाहत हो गये।
तब सब पथिक सुन्दर सुखद हरिभक्ति पथ को पा गये।।
इस भक्तमाला के सकल हरि भक्तगण दाया करो।
सच्ची अहिंसा भक्तिमय विज्ञान दै माया हरो।।

❖

दृष्टान्त-सूची

❖

अकारादि क्रम से पद-सूची

पद

साँचे सन्त हमारे संगी।
और सबै स्वारथ के लोभी चंचल मति बहुरंगी।।
मन काया माया सरिता में बहते आनि उछंगी।
'नागरिया' राख्यौ वृन्दावन जिहि ठाँ ललित त्रिभंगी।।

❖

भक्त-भक्ति-भगवन्त-गुरु

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः।।
(भक्त)- **ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।**
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः।। (भा. ११-२-४५, ४६)

सभी प्राणियों में सर्वत्र जो अपने इष्टदेव भगवान् को एवं भगवान् में सभी चराचर को देखता है, वह उत्तम भागवत (भक्त) है। ईश्वर में प्रेम, भगवद्-भक्तों में मैत्री, अज्ञानियों पर कृपा, अपने से द्वेष करने वालों की उपेक्षा करने वाले मध्यम श्रेणी के भक्त हैं।

पर उपकार वचन मन काया। सन्त सहज सुभाव खगराया।।

(भक्ति)-"सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।" (नारद भ०), भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा है। श्रीनारदजी के मत से अपने समस्त कर्मों को श्रीभगवदर्पण करना और उनके विस्मरण में अत्यन्त व्याकुलता होना ही भक्ति है। "द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।।" (भक्तिरसायन), श्रीभगवद्गुण श्रवण से प्रवाहिता श्रीभगवद्विषयिणी धारावाहिकवृत्ति को ही भक्ति कहते हैं। "अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।' (भ०र०सि०) अन्य अभिलाषाओं से रहित, ज्ञान-कर्म आदि से अनावृत श्रीकृष्ण प्रीति के अनुकूल आचरण करना भक्ति है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, धर्मस्य यशसः श्रियः।
(भगवन्त)- **ज्ञानवैराग्ययोश्चैव, षण्णां भग इतीरणा।।**
उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव, भूतानामगतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च, स वाच्यो भगवानिति।। (वि०पु०)

ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य-इन छहों को 'भग' कहते हैं। ये सम्यक् सम्पूर्ण रूप से सर्वदा जिनमें रहें, उन्हें भगवान् कहते हैं। 'भगः अस्यास्ति इति भगवान्।' जो जीवों की उत्पत्ति, नाश, आगमन, गमन, विद्या और अविद्या को जानते हैं तथा इनके मूल कारण स्वामी हैं, उन्हें भगवान् कहते हैं। 'पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्। कारुण्यं षड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्।।' (महारामायण) भरणकर्ता, पोषणकर्ता, शरणागत रक्षक, सर्वव्यापक, सबके आधार, करुणापूर्ण-इन छहों से पूर्ण भगवान श्रीरामजी हैं।

'गु' शब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति 'रु' शब्दस्तन्निरोधकः।
(गुरु)- **अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते।।** (गुरु गीता)
सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः।
गुरुः प्रकाशकः तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः।। (प०पु०)

'गु' शब्द अन्धकारवाची है और 'रु' शब्द अन्धकार का नाशक है। अज्ञानरूपी अंधकार के नाशक को गुरु कहते हैं, जैसे सूर्य सभी को प्रकाश देते हैं इसी प्रकार से ही शिष्यों को विद्या-बुद्धि प्रदान कर 'गुरु' प्रकाशित करते हैं।

❖

भक्तों से विनय

जय जय सन्त अनन्त महाप्रभु जय जय जन हितकारी।
जय जय भक्त भक्ति सुखसागर विनती सुनहु हमारी।।
महा भयंकर समय देखकर भारत जन अकुलाये।
विविध भाँति करि विनय साधना तुमको यहाँ बुलाये।।
अमित रूप से भक्तवृन्द आचार्यवर्य तुम आये।
रुचि अनुरूप श्रेय साधन के सरल सुपन्थ बताये।।
चहुँदिशि ते उन ऊपर चलकर चलना हमें सिखाये।
जड़ चैतन्य सकल जग भीतर प्रभु को प्रगटि दिखाये।।
कालचक्र गति विवश भये हम तव उपदेश भुलाये।
चलकर भी नहिं चल पाते हैं अटकि रहे अकुलाये।।
अन्धकार में अन्ध बने हम रवि समान तुम आओ।
हमें दृष्टि दै पन्थ प्रकाशो चलना फेरि सिखाओ।।
प्रलयकाल के अस्त्र-शस्त्र सब चलन चहत हैं धाये।
ज्वालामुख के सम्मुख हम तब विमुख तूल सम आये।।
असद् भावना बढ़ी परस्पर बन्धु मित्र भे बैरी।
महा मोह सागर में डूबे पार न पावत पैरी।।
रक्षक बनकर भक्षि रहे हैं नीति सेतु को तोरी।
ऊपर ते उपकारी दीखैं भीतर मोरी मोरी।।
बार बार पद बन्दि नाथ हम विनय करैं कर जोरी।
मेटि देहु मानव के मन से हिंसा मिथ्या चोरी।।
आओ फेरि प्रगट ह्वै आओ न्याय नीति सिखलावो।
प्राणिमात्र में परमेश्वर के दर्शन हमें करावो।।
आज आप यदि इसी तरह से तम को बढ़ने दोगे।
तो राग, द्वेष के दावानल में जलता विश्व लखोगे।।
होने कभी न दोगे यह तव विश्व वाटिका प्यारी।
प्रभु प्रेरित मम विनय सुनत ही करिहै अब रखवारी।।
महामहिम उपकारी करुणासागर जग दुःख हारी।
पाहि पाहि तव चरण शरण हम रक्षा करहु हमारी।।

❖

अकारादिक्रमेण श्लोक-सूची

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
भक्ते तुष्टे हरिः	५११	यस्याहमनु	४४९	श्रृणुतं दत्तचित्तौ	७४
भुक्तिमुक्ति स्पृहा	२४०	यः स्वानुभाव	४८१	श्रवणं कीर्तनं	४८३
म		यावन्ति पशु	२५५	श्रवणाद् दर्शनाद्	३८९
मज्जन्मनः फल	५६३	यावन्ति भगवद्	४८४	श्रीकृष्णचरणौ	१६२
मतिर्न कृष्णे	४३३	यावत्स्वस्थमिदं	६९	श्रीराधायाः	१०३
मर्त्योयदा त्यक्त	४४५	युगायितं निमिषेण	३६२	श्रीमद्भागवतं	४८०
मथुरायां कल्प	२७४	यैर्नश्रुतं भागवतं	४८१	श्रुति वागदृष्टि	१५६
मन्त्रतस्तन्त्रतः	३७३	यो न हृष्यति	४४८	श्लाघ्यः स	३४६
मन्मुद्रांकित	५९	र		श्लोकार्धश्लोक	४८१
मन्वन्तरसहस्त्रैः	२७४	रहो दास्यं तस्याः	१०३	ष	
महाप्रसादे गोविन्द	३५२	राधादास्यमया	१०२	षष्टिवर्ष सहस्रा	२७४
माता रामो मत्	३६	राममन्त्रोपदेशेन	५८३	षष्टिवर्ष सहस्रा	३४०
माता रामो मत्	५४१	रामः सत्यं परं	५४१	स	
मातृवत्पर	२४२	ल		संवत्सरं वा	५४५
मुखबाहूरु	३५१	लिखिता चित्रगुप्तेन	४२७	सकृदेव प्रपन्नाय	४८६
य		व		सकृदेव प्रपन्नाय	५२१
यत्प्रादुरस्ति	१०२	वंशीविभूषित	३८४	संगं न कुर्यात्	४१८
यत्र भागवतो	५५२	वंशीविभूषित	५४१	संगो यः ससृतेः	४२०
यत्तु प्रत्युपकारा	५१३	वदन्ति तत्तत्व	५४१	सभायां पण्डिताः	५९
यथा भागवतानां	५११	वयंचत्वंच	३७०	सम दुःख सुखः	२४२
यथा प्रयान्ति	३७०	वरं हुतवह	३९२	स यदा वितथो	१३
यथा धानासु	३७०	बलयानां नूपुरा	३८६	सर्वसाधन	१०
यथोपश्रयमाण	३५५	वांछाकल्पतरु	२३१	सर्वेषामाश्रमाणां	५१४
यदि तुष्टोऽसि	१०	वासे बहूनां कलहो	१६४	सवनशस्तदुप	३८६
यदि स्नेहाद्राधे	१००	विवेकः सहसं	५५२	स वै पतिस्यात्	३१३
यद् दैन्यंत्वत्	१०	विविध गोपचर	३८६	स्तीषु नर्मवि	२१३
यद् यदिष्टतमं	४९६	विश्वामित्र पराशर	३४७	स्मर्तव्यः सततम्	१०३
यस्मात्क्षरम	४९२	विसृजित हृदयं	३७४	स्मेरां भगीत्रय	७९
यस्माद्यस्मात्	३५२	वैकुण्ठाज्जनि	७५	स्वशक्त्या	५११
यस्य नास्तिस्वयं	४१९	वृन्दावनं सखि	७४	ह	
यस्यास्ति वित्तं	४३५	वृन्दावन तरूद्	३७३	हन्तायमद्रिरबला	२५
यस्यदेवे परा	५०३	श		हा नाथरमण	३८९
यस्यात्म बुद्धिः	३६९	शंखचक्रांक	५९		
यस्याहमनु	१३	शमो दमस्तपः	१३१		

❖

।।श्रीवृन्दावनविहारिणे नमः।।

श्रीभक्तमाल-परम्परा

(लेखक-दीनबन्धुदासजी, टटियास्थान, श्रीधाम वृन्दावन)

(श्री)'नाभा'कृत भक्तमाल 'गोविन्द' ने लई धारि, 'प्रियादास' पाय 'राधाकृष्ण कूं सुनाई है।
'भगवत रसिक' 'श्रीबिहारीबल्लभ' गही, 'दम्पति' 'सम्पति' शरन नीकी भाँति गाई है।।
'श्रीगोपालदास' धारी 'माधोदास' सुखराम, 'जगन्नाथ परसाद' गंगा सी बहाई है।
इनके अपार शिष्य 'दीनबन्धु' हू कों मिली, भक्तमाल परम्परा या विधि चलि आई है।।

श्रीअग्रदेवजी के कृपापात्र गोस्वामी १-श्रीनाभाजी महाराज ने श्रीभक्तमाल की रचना करिकैं अपने शिष्य २- श्रीगोविन्ददासजी कूं पढ़ायौ। यथा-'भक्तरत्नमाला सुधन गोविन्द कण्ठ विकास किय। (छ०१९२) इनसे प्राप्त कर ३-श्रीप्रियादासजी ने भक्तिरसबोधिनी टीका की। उनसे ४- श्रीराधाकृष्णदासजी ने अध्ययन किया। (ये स्वामी श्रीहरिदासजी की परम्परा के छठवें आचार्य श्रीरसिकदेवजी के शिष्य थे।) इनके सम्बन्ध में निजमत सिद्धान्त अवसान खण्ड में लिखा है कि 'भक्तमाल ऐसी मुख गाई। नर नरेन्द्र सुनि करत बड़ाई।।' इनसे ५-श्रीभगवतरसिकदेवजू को मिली। इनसे उनके शिष्य ६-श्रीविहारीबल्लभजू ने प्राप्त कर 'श्रीभक्त-नामावली' की रचना की। इनके बाद ७-श्रीदम्पतिशरणजी एवं ८-श्रीसम्पतिशरणजी हुए। ये श्रीललितमोहिनीदेवजू के शिष्य, श्रीराधाशरणजू के शिष्य थे) उनसे उत्सवी ९-श्रीगोपालदासजी ने अध्ययन किया। इनसे टोपी वाली कुंज के महन्त १०- श्रीमाधवदासजी ने पढ़ी। इनसे पंडित ११-श्रीजगन्नाथ प्रसादजी भक्तमाली, बाबाश्रीयुगलदासजी वृन्दावन तथा श्रीरामशरणदासजी वैद्य अयोध्या आदि ने अध्ययन किया। पं० श्रीजगन्नाथ प्रसादजी ने श्रीभक्तमाल के माध्यम से ऐसी भक्ति-भागीरथी प्रवाहित की जिसमें भावुक भक्तजन निमग्न हो गए। वर्तमान भक्तमालियों में अधिकांश ने श्रीपंडितजी से ही अध्ययन किया है। उनमें श्रीगर्वीलीशरणजी महाराज वृन्दावन, श्रीगिरिधारीदासजी वृन्दावन, श्रीमथुरादासजी, श्रीश्रीमन्नारायणदासजी बक्सर, श्रीरामकृपालदासजी अयोध्या श्री रामकृपाल दासजी शिष्य श्रीशालग्रामाचार्यजी रैवासा, श्रीरामकृपालदासजी बाल-तपस्वी। श्रीरामगंगाशरणजी, श्रीरेवतीशरणजी, श्रीगणेशदासजी, श्रीवैष्णवदासजी (गोरेदाऊजी), श्रीरामसेवकदासजी आदि प्रसिद्ध हैं। चतुःसम्प्रदाय ही नहीं, षड्वेष गृहस्थ विरक्त सभी ने श्रीपंडितजी से कथा श्रवण कर भागवत, रामायण एवं भक्तमाल पर प्रवचन एवं सन्त-सेवा को महत्व दिया। मुझ दास को भी श्रीपंडितजी से ही अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

-दीनबन्धुदास

।।श्रीवृन्दावनविहारिणे नमः।।

श्रीभक्तमाल-परम्परा

(लेखक-दीनबन्धुदासजी, टटियास्थान, श्रीधाम वृन्दावन)

(श्री)'नाभा'कृत भक्तमाल 'गोविन्द' ने लई धारि, 'प्रियादास' पाय 'राधाकृष्ण कूं सुनाई है।
'भगवत रसिक' 'श्रीबिहारीबल्लभ' गही, 'दम्पति' 'सम्पति' शरन नीकी भाँति गाई है।।
'श्रीगोपालदास' धारी 'माधोदास' सुखराम, 'जगन्नाथ परसाद' गंगा सी बहाई है।
इनके अपार शिष्य 'दीनबन्धु' हू कों मिली, भक्तमाल परम्परा या विधि चलि आई है।।

श्रीअग्रदेवजी के कृपापात्र गोस्वामी १-श्रीनाभाजी महाराज ने श्रीभक्तमाल की रचना करिकैं अपने शिष्य २- श्रीगोविन्ददासजी कूं पढ़ायौ। यथा-'भक्तरत्नमाला सुधन गोविन्द कण्ठ विकास किय। (छ०१९२) इनसे प्राप्त कर ३-श्रीप्रियादासजी ने भक्तिरसबोधिनी टीका की। उनसे ४- श्रीराधाकृष्णदासजी ने अध्ययन किया। (ये स्वामी श्रीहरिदासजी की परम्परा के छठवें आचार्य श्रीरसिकदेवजी के शिष्य थे।) इनके सम्बन्ध में निजमत सिद्धान्त अवसान खण्ड में लिखा है कि 'भक्तमाल ऐसी मुख गाई। नर नरेन्द्र सुनि करत बड़ाई।।' इनसे ५-श्रीभगवतरसिकदेवजू को मिली। इनसे उनके शिष्य ६-श्रीविहारीबल्लभजू ने प्राप्त कर 'श्रीभक्त-नामावली' की रचना की। इनके बाद ७-श्रीदम्पतिशरणजी एवं ८-श्रीसम्पतिशरणजी हुए। ये श्रीललितमोहिनीदेवजू के शिष्य, श्रीराधाशरणजू के शिष्य थे) उनसे उत्सवी ९-श्रीगोपालदासजी ने अध्ययन किया। इनसे टोपी वाली कुंज के महन्त १०- श्रीमाधवदासजी ने पढ़ी। इनसे पंडित ११-श्रीजगन्नाथ प्रसादजी भक्तमाली, बाबाश्रीयुगलदासजी वृन्दावन तथा श्रीरामशरणदासजी वैद्य अयोध्या आदि ने अध्ययन किया। पं० श्रीजगन्नाथ प्रसादजी ने श्रीभक्तमाल के माध्यम से ऐसी भक्ति-भागीरथी प्रवाहित की जिसमें भावुक भक्तजन निमग्न हो गए। वर्तमान भक्तमालियों में अधिकांश ने श्रीपंडितजी से ही अध्ययन किया है। उनमें श्रीगर्वीलीशरणजी महाराज वृन्दावन, श्रीगिरिधारीदासजी वृन्दावन, श्रीमथुरादासजी, श्रीश्रीमन्नारायणदासजी बक्सर, श्रीरामकृपालदासजी अयोध्या श्री रामकृपाल दासजी शिष्य श्रीशालग्रामाचार्यजी रैवासा, श्रीरामकृपालदासजी बाल-तपस्वी। श्रीरामगंगाशरणजी, श्रीरेवतीशरणजी, श्रीगणेशदासजी, श्रीवैष्णवदासजी (गोरेदाऊजी), श्रीरामसेवकदासजी आदि प्रसिद्ध हैं। चतुःसम्प्रदाय ही नहीं, षड्वेष गृहस्थ विरक्त सभी ने श्रीपंडितजी से कथा श्रवण कर भागवत, रामायण एवं भक्तमाल पर प्रवचन एवं सन्त-सेवा को महत्व दिया। मुझ दास को भी श्रीपंडितजी से ही अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

-दीनबन्धुदास

श्रीविहारीवल्लभजी कृत-

श्रीभगवद् भक्त-नामावली

दोहा

(जै श्री)रसिकाचार्य नरेश गुरु, भगवत रसिक अनन्य। जिनकी कृपा बिहारी बल्लभ होहु सन्त परसन्न।।१।। श्रीगुरु नाभा भक्तमाल जन, वंदि नाम गुन गाइ लड़ाऊँ। जीवन जुगल बिहारी बल्लभ, श्रीभगवतरसिक अनन्य रति पाऊँ।।२।। वेद पुरान महान् सत् गुरु उपदेश विचार। भक्त भक्ति भगवंत गुरु, सनेत सबको सार।।३।। जै जै मीन बराह आदि कच्छप हरि बामन। नरसिंह परशुराम रघुनाथ जू पावन।। श्रीकृष्ण बौध कलिकी ऋषि व्यास। पृथु हरि हंस मन्वन्तर आस।।४।। ध्रुववर जग्यदत्त कपिलादि। हयग्रीव बद्री धन्वन्तर सनकादि।। धरि अवतार भक्त हित सारे। ए निज चिह्न चरन में धारे।।५।। अंकुश अंबर कुलिश कमल जव धुजा धेनु पद। शंख चक्र स्वस्तिक जम्बूफल कलश सुधाह्रद।। अर्धचन्द्र षटकोण मीन बिन्दु ऊरधरेखा जानौ। पुरुष कोंन त्रै-कोंन अष्ट धनु इन्द्र सु मानौ।।६।। प्रथमहिं अन्तरंग विधि नारद शंकर सनक कपिल मनु भूप। श्रीप्रह्लाद जनक बलि भीषम शुक मुनि धर्म स्वरूप।। अजामेल विष्वक्सेन जय विजय नन्द सुनन्द सुभद्र भद्र पुनीत चण्ड प्रचण्ड कुमुद कुमुदाक्ष सील सुशील विनीत।।७।। कमला गरुड़ हनू जामवंत सुग्रीव विभीषन शिवरी खग उद्धव प्यारे। अक्रूर अंबरीष विदुर सुदामा ग्राह गज पांडव चन्द्रहास चित्रकेतु मैत्रेय कुन्तीबधू सम्हारे।। जोगेश्वर श्रुतिदेव अंग मुचकुन्द प्रियव्रत पृथु परीक्षित सूत सौनक हरि गाये। परचेता सतरूप सुता सुनीति सती मन्दालस यज्ञपत्नी ब्रज-नारिन हरि पाये।।८।। प्राचीन वरहि सत्तव्रत भागीरथ सगर रहुगण हरिचन्द धर्मधुज धारी। बाल्मीकि मिथलेश भरत दधीचि रुक्मांगद सुरथ सुधन्वा शिविर विन्ध्यावलि महिमा भारी। नील मोरध्वज ताम्रध्वज अलरक रिभ इक्ष्वाकु ऐलशुचि शतधन्वा। गाधि रघु रन्ति अमूर्ति नहुष उतंग भूरि देवल वैवस्वत मन्वा।।९।। नहुष जजाति दिलीप पुरु यदु गुह मान्धाता। पिप्पल निमि भारद्वाज दक्ष शरभंग शँघाता।। संजय समीक उत्तानपाद याज्ञवल्क्य जश साजा। निमि कवि हरि करभाजन अन्तरिक्ष अरु चमस प्रबुध आविर्होता पिपल द्रुमिल जयन्तीसुत सुक साजा।।१०।। अगस्त्य पुलस्त्य पुलह चिमन वशिष्ठ सौभरि कर्दम जानौ। अत्रि रिचीक गौतम गर्ग व्यास लोमश भृगु दालभ्य अंगिरा मानौ।। श्रृंगि माण्डव विश्वामित्र दुर्वासा जावालि यमदग्नि उजागर। मायादर्श कश्यप पर्वत पाराशर सुख सागर।।११।। ब्रह्मा विष्णु शिव लिंग पद्म स्कन्द बामन मीन बराह उदारा। अग्नि कूरम गरुड़ नारद भविष्य ब्रह्मवैवर्त

मार्कण्डेय ब्रह्माण्ड भागवत सारा।। मनुस्मृति अत्रवी हार्तिक सामर्तक जाग्यवलिक अंगिरा शनैश्चर वैष्णवी नामी। कात्यायिनी शांखिल्य गौतमी वशिष्ठी दाछी सुरगुरु आतातापि पाराशर क्रतु मुनि साखी।।१२।। जयन्त विजयी सुराष्टर राष्टरवर्द्धन जानौ। अशोक धर्मपालक तत्त्ववेत्ता वरज सुमन्त बखानौ।। दधिमुख दुबिध मयन्द उलका नील नल कुमुद दरीमुख सुभट रीछपति। शरभंग गवाच्छ सुखेन गंधमादन अंगद सुग्रीव सेनापति।।१३।। ब्रज बड़े गोप परजन्य नन्दध्रुव धरानन्द नन्द अभिनन्द सुख सिन्धुहि मानौ। कर्मा धर्मानन्द सुनन्द उपनन्द आदि सब गोप बखानौ।। जसुधा कीरति भानुनन्द सब गोप दुलारी। सखा श्याम के संग सखी पल होत न न्यारी।।१४।। मधुमंगल सुबल सुबाहु भोज अर्जुन श्रीदामा। ललितादिक सब सखी भानु सुत संग सुखधामा।। रक्तक पत्रक पत्री मधुकण्ठ मधुवर्त रसाल विशाला। प्रेमकंद मकरंद चन्द्रहास रसदान पयद वकुल रसाला।।१५।। जम्बू खार समुद्र पलास ईष सालमलि मदिरा समुद्र है। कुस घीव क्रौंच दूध साक दधि पुहकर जलमय है।। पर्वत लोकालोक भूमि कंचन हरिजन जहाँ जो हैं। तिनको करैं प्रनाम खण्ड नव मध्य बसत जो जो हैं।।१६।। इलावर्त संकर्षण सदाशिव रमनक मछ मनु हिरण्य कूर्म अर्जम इव सोहै। कुरु बराह भू वर्ष हरि सिंह प्रह्लाद किंपुरुष राम कपि भरत नारायण वीणाधर मोहै।। भद्रासु ग्रीवहय भद्रश्रव केत काम श्री जानि। तिनको करत प्रनाम मैं सदा जोरि जुगि पानि।।१७।। श्वेतद्वीप में बसत भक्त सबै नारायण रूप उपासी। बामन पुहकर ऋषभ पराजित दिग्गज सुखरासी।। भू अरु भूवरलोक स्वह महर्जन तप सत लोकै गाऊँ। शिव अरु विष्णुलोक के ऊपर श्री गोलोकै ध्याऊँ।।१८।। तल अरु अतल सुतल के नीचे वितल तलातल जानौं। वन्द रसातल शेषनाग जहँ सो पातालहँ बखानौं।। सर्प अष्टकुल इलापत्र पदम संकू वासुकि हरि प्यारे। अंसु कंवल तच्छक करिकोटक अनन्त हरि नाम उचारे।।१९।। रामानुज माध्वाचारज विष्णुस्वामि प्रगटे निम्बादित्य आचारज। विश्वक्सेन सठकोप मंगल मुनि वोपदेव श्रीनाथ पुंडरीकाक्ष सम्हारे कारज।। राममिश्र परांकुश यामुन मुनि रामानुज श्रुति वेद धर। श्रुतिधामा श्रुति उदधि श्रुतिप्रज्ञा श्रीलालाचारज सुघर वर।।२०।। गुरुनिष्ठी देवाचारज हरियानंद राघवानन्द रामानन्द अनन्तानन्द सज। नरहरियानन्द भावानन्द जोगानन्द गयेश सदानन्द कर्मचन्द भज।। पैहारी कृष्णदास श्रीरंग रामदास व्रतहठी नारायन। सूरज पुरुषा प्रथू तिपुर टीला पद्म गोपाल जुगयन देवा हेम कल्यान।।२१।। विष्णुदास कान्हर चाँदन गंगा गंगा सम नारी। सविरी रंगा गदाधारी बाई कील सुमेर देव श्रीअग्रदास सुखकारी।। शंकराचारज नामदेव जयदेव रसिक दुःख मोचन। पद्मावति श्रीधर विलमंगल चिन्तामणि ज्ञानदेव विष्णुपुरी तिलोचन।।२२।। वल्लभाचारज भक्तदास नरसिंह वन दशरथ तन त्यागौ।

बँधे कृष्णगढ़ि आन छोड़ि गई करी अवज्ञा पानि काटि नृप लै प्रसाद जस जागौ।। करमा सिलपिल्ले सुत विष दै प्रेम पदारथ पायो। भावुक मामा संग भाँनजो हंस महाजन को जस छायो।।२३।। कमध्वज देवा भुवन जस जैमल श्रीधर संग सिधारे। निशकंचन संग श्याम खुरदहां रायदास के सदन पधारे।। जसू स्वामि अरु बारमुखी ठग बीच राम दै तिय पर रीझे। अल्हनन्द जनभूप भागवत अंतरनेष्टी गुरु रस भीजे।।२४।। श्रीरैदास कबीरा पीपा धना सेन सुखानन्द धीर। सुरसुरानन्द नारी पति राखी नरहरियानन्द पदम मति धीर।। तत्वा जीवा दास सु माधौ श्रीरघुनाथ गुसाईं आप। नित्यानन्द चैतन्य महाप्रभु कृष्ण रूप धरि मेटि ताप।।२५।। सूरदास परमानन्द केशव भट्ट श्रीभट्ट श्रीहरिव्यास। दास दिवाकर विट्ठलेश श्रीगिरिधर गोविन्ददास।। बालकृष्ण रघुनाथ जू गोकुल श्रीयदुनाथ पगे घनश्याम।। कृष्णदास वर्धमान जू गंगल भीषम रामदास खेम सुखधाम।।२६।। विट्ठलदास हरीराम कमलाकर श्रीनारायण भट्ट सुजान। ब्रजवल्लभ अरु रूप सनातन श्रीहरिवंश गुसाईं मान।। श्रीस्वामी हरिदास रसिकवर व्यास गुसाईं जीव सुजान। भट्ट गोपाल ऋषिकेश भगवान विपुलवीठल रसखान।।२७।। श्रीरंग थानेश्वरी लोकनाथ जगन्नाथ महामुनि सो हैं। मधु घमण्डी जुगलकिशोर भूगर्भ गुसाईं कृष्णदास पुजारी दो हैं।। रसिकमुरारि गुरु श्यामानन्द हरिनाभ तिलोचन धीर। आसाधर सोझा सींवा द्योराज अधार गंभीर।।२८।। काशीश्वर अरु सदन कसाई नीर पदारथ नाम। कृष्णदास कटहरिया डूंगर सोभू ऊदाराम।। जतीराम रावल विमलानन्द रामदास सन्त सीहा। खोजी श्याम मनोरथ दाला पद्मा राँका द्यौगू जप जीहा।।२९।। चाचागुरु सवाई जाड़ा चाँदा नाप पुजई आस। लछिमन लफरा खेम विमानी लाड़ू सूरज कुंभनदास।। भावन विरही भरत फरत हरिकेश लुटेरा झाँझू जगन विठलाचारज। हरिदास तिलोक पुखरदी चक्रपानि लाला हरिभू राघो लाखा आरज।।३०।। उद्धव बिजली सोम भीम महदा मुकुन्द सोमनाथ विको विसाखा। लमध्याना अरु बाल्मीकि वृद्ध व्यास गनेश त्रिविक्रम जश लाखा।। छीतर उद्धव घाटम घूरी देवानन्द कपूरी खेम सुमाधौ जानि। श्रीमुकुन्द नरहरिया बींदा विष्णु महीपत सन्तराम हैं मानि।।३१।। बाजू सुत छीतम माधव श्रीरंग द्वारकादास दामोदर रूप। नरहरि कान्हर सुन्दर केशव श्रीभगवान गोपाल अनूप।। नागू सुत प्रयाग पुनि केशव हरिनाथ भीमगोविन्द ब्रह्मचारी। गजपिय मुकुन्द गोपीनाथ पंडा खेता गोपाल बड़भरत बिचारी।।३२।। बालकृष्ण अच्युत विद्यापति ब्रह्मदास बहोरन घूमन गोविन्ददास। रघुनाथ चिंतु गंगाराम बिहारी चतुर केशव परशुराम बरसानियाँ लालदास।। प्रियादास दयाल पूरन नृप भीषम रामभट्ट मरहठा बिठल निहकामी। गोपीनाथ रघुनाथ और नृप आसकरन गुँजामाली जदुनन्दन दासू स्वामी।।३३।। हरिदासमिश्र भगवान् मुरली सोती बीदा रामानन्द। विष्णुदास

बेंनी जू चतुर्भुज मुकुन्द केशव दण्डौती आनन्द।। सीता झाली प्रभुता कुँवरि उमा भटियानी शोभा गनेशदेई रानी जानौ। गंगा गौरा गोपाली कृत कला लखा सती भाँमा मानमती शुचि मानौ।।३४।। गढ़ौ रामा जमुना कोली मृगा देवा जुग जेवा कमला हीरा हरिचेरी देवकी मया मानौ। नरबाहन जापू बीदावत धारा अनुभई ऊदरावत जयंत रूपा अर्जुन गोविन्द जानौ।। जर्नादन हेम गदा दामोदर ईश्वर साँपिले मयानन्द भावै। तुलसीदास जटयानै भाऊ मोहनवारी दाऊ बनियाँ रामदास लछमन भगवान सुगावै।।३५।। जगदीश उभै गोपाल लाखा नरसी देवदास वंश नन्ददास गिरिधर जश गायौ। गोपाल माधौ अंगद नृपति चतुर्भुज मीराबाई पृथ्वीराज नृप को जश छायौ।। रामचन्द्र नीमा अभैराम वीरम करमसी सुल्तान ईश्वर अभैराम भगवान। रायमल मधुकर कान्हर नृप खेमाल रामनृप धरनीसुत किशोर हरिदास सुजान।।३६।। चतुर्भुज कृष्णदास जाड़ा प्रबोधा विमलानन्द अरु सन्तदास। सूरदास कात्यायनी मुरारि तुलसीदास वनमाली श्याम हेमानदास।। नारायण मिश्र राघो परशुराम गुननिकर गदाधर भट्टहिं जान। ईश्वर चौमुख चौरा चण्ड जगत् अरु कोल अल्ह चारन सुजान।।३७।। माधव मांडन करमानन्द अरु दूदा नारायण जीवानन्द। भीखा नरेश नृप पृथ्वीराज भयो कावापति लड़ावै रतनावती मुकुन्द।। जगन्नाथ मथुरादास भयो नृतक नारायण रामगोपाल कुँवरवर। गोविन्द माँडिल छीतस्वामी जसमन्त गदाधर कान्हर अनन्तानन्द सुघरवर।।३८।। दीनदास श्याम हरिनाभि मये वछ् पालक गोसू रामदास। भगवान दासविहारिनि कृष्णजीवन श्यामदास हरिनारायण ऊधौदास।। रामरेनु गंगा परशुराम किंकर-कुंडा कृष्णदास गोपाल खेम अरु कृष्णदास। सोठा जैदेव राघौ विदुर दामोदर मोहन परमानन्द उद्धव सोहन नागाचतुरदास।।३९।। गोमा परमानन्द उद्धव प्रधान द्वारका मथुरा खोरा बीठल अरु दो भगवान। चीधर श्याम खेम गोपाल केवल कूवा प्रयाग जंगी पूरन वनवारी भगवान।। जगत् विनोदी नरसिंह किशोर जगन्नाथ दिवाकर खीची खेम। सुमति सलूधो उद्धव परमानन्द केशव जोगीदास त्यौला खेम।।४०।। हरिदास कान्हर भगवान नीवा खेतसी जसवंत भीम जैमाल विष्णुदास हरिदास। गोपाल नाथभट्ट करमैती खरगसैनि गंगग्वाल।। लालदास दिवाकर माधौग्वाल राघौ प्रेमनिधि हरिनारायण नृपतिवर। उद्धव पद्मकल्याण वोहित रामदास सुहेले परमानन्द तुलसीदास घर।।४१।। दमा रमा वीरा हीरामनि नीराँ लाली लच्छी गोमती प्रभु मन भाई। जुगल पारवती केशी जेवा हरखा हरिदेवी बाँदररानी गंगा जमुना रैदासी बाई।। नंद कुँवर कान्हरदास परशा केशव नाम लटेरा केवलराम। हरिवंश कल्याण क्वाहब बीठलदास सदानन्द परशवंशी नारायण नाम।।४२।। श्रीरंग श्यामदास अरु लाखा मारू मुदित कल्याण निहार। शंकर चेता ग्वाल गोपाल लालन गायक कृष्णदास हरिदास उदार।। चितमुख तीरथराम दामोदर नरसिंघारन्य

मधुसूदन मानौ।। माधौ प्रबोधानन्द जगदानन्द रामभद्र संन्यासी जानौ।।४३।। पूरन द्वारकादास भट्टलछिमन कृष्णदास गदाधरदास।। श्रीनारायणदास भगवानदास कल्याणदास श्रीमाधवदास श्रीकन्हर गोविन्ददास जगत्सिंह ग्वालगिरिधर गोपाली बाई। रामदास हैं रामराय श्रीभगवंतमुदित रसिक माधौ मिलि लालमती निधि पाई।।४४।। मन वच कर्म धर्म धरि नेष्ठा भक्त नाम गुन जो कोउ गावैं। वेद पुराण महान् साखि सद्ग्रन्थनि सौं निश्चय श्रीभगवत पावैं।। एक हजार नाम भक्तनि के भक्तमाल मुख नाभा गायौ। लोक अनन्त दीप खण्डनि में तिन प्रति मस्तक नायौ।।४५।। श्रीभगवान् रसिक अनन्य गुरु भक्तमाल नारायणदास। जीवन जुगल विहारीवल्लभ उर बस करौ निवास।।४६।। भक्तमाल नाभा करी ताके मनिया बीनि। नाम मंत्र निज पठन को मैं लिखि रची नवीन।।४७।।

।। श्रीभगवद् भक्त-नामावली सम्पूर्णम्।।

सम्पर्क सूत्र :-६०/२० पुरानी दालमण्डी, कानपुर-१

श्रीविहारीवल्लभजी और उनकी ''श्रीभगवद् भक्त-नामावली''

श्रीराधामोहनदास गुप्त
संस्थापक-स्वामी श्रीहरिदास शोध-संस्थान, कानपुर

गोस्वामी श्रीनाभादासजी की भक्तमाल के आधार पर अनेक परवर्ती भक्त-कवियों ने भक्त-सुमिरिनी, भक्त-नामावली आदि कई रचनायें की हैं। कहीं-कहीं, किसी-किसी भक्त का वैशिष्ट्य भी वर्णित हो गया है किन्तु वह अत्यन्त संक्षिप्त है। बड़े दुःख की बात है कि अभी तक अनेक हिन्दी साहित्यसेवी कवियों का परिचय विशिष्ट अन्वेषक विद्वानों को भी प्राप्त नहीं हो सका है। श्रीविहारीवल्लभजी के सम्बन्ध में भी यही बात है। इनकी रचनायें इस प्रकार प्राप्त होती हैं-

(१) श्रीसखी-सुखसार सिद्धान्त, (२) होरी धमारि, (३) श्रीभगवतरसिक नाम-प्रताप (४) श्रीभगवतरसिक अनन्य-नाम-प्रभाव, (५) श्रीभगवद् भक्त-नामावली इस कलेवर में ये सब पाँचों छोटी-छोटी ही कृतियाँ हैं। जिनकी संख्या लगभग ९०० अनुष्टुप् छन्दों की है और अपने नामानुसार ही इनके विषय हैं। जब श्रीविहारीवल्लभजी के नाम से ही इतिहास लेखक अपरिचित हैं तब उनकी जीवनी के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? उनकी रचनाओं से यह निश्चय है कि वे निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत रसिक अनन्य शिरोमणि

स्वामी श्रीहरिदासजी महाराज की परम्परा में प्रसिद्ध भक्तकवि स्वामी श्रीभगवतरसिकदेवजी के शिष्य थे और उनकी जन्मभूमि कालिंजर (गढ़) नामक ग्राम (मध्यप्रदेश) था। वहीं ये ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे और इनके पिता का नाम श्रीजीवनयुगल था। ये वैराग्य जागृत होने पर घर छोड़कर पत्नी सहित वृन्दावन आ गये थे और स्वामी श्रीभगवतरसिकदेवजी से दीक्षा लेकर भक्तमाल आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया था।

छप्पय-**गढ़ कालिंजर मध्य बसत द्विजवर सुख सानौ।**
तिन सुत जीवन जुगल विहारीवल्लभ जानौ।।
उर उपज्यौ वैराग त्यागि गृह दम्पति आये।
'भगवतरसिक' अनन्य शरन निर्भय तिन पाये।।
बाजीगर के खेल सम लख्यौ जगत् व्यवहार जिय।
तोरि शृंखला कुटुम की श्रीवृन्दावन को गमन किय।।१।।

अनन्य-रसिकता, निस्पृहता और वाणी वैभव की दृष्टि से श्रीभगवतरसिकदेवजी की प्रसिद्धि समस्त संसार में थी। आपका सत्संग प्राप्त करने के लिए श्रीवृन्दावन में और भी कई स्थानों के श्रीभगवद्भक्तगण आया करते थे। बहुत से राम-भक्त भी काशी, अयोध्या, जनकपुर आदि धामों से श्रीवृन्दावन आकर उनसे ज्ञान, ध्यान, उपासना आदि पर गहन चर्चा किया करते थे।।२।।

मोहन रसिक मुरारिदेव वंश भये बैठ ग्राम गुरुकुल बसे सुख पाइकै।
उठी उत्कण्ठा वृन्दावन भूमि देखिवे की ललितविहारी छबि ठौर-ठौर जाइकै।।
'भगवतरसिक' समीप रास ध्यान पाये हिय हुलसाने जैसे रंक निधि पाइकै।
जनकललीजू स्वप्न चूरा पहिरायौ उर अति सुख पायौ दुहूँ ओर पद गाइकै।।३।।

श्रीभगवतरसिकदेवजी के गुरु स्वामी श्रीललितमोहनदेवजी का समय वि० सं० १७८० से वि०सं० १८५८ तक माना जाता है।।१।।

---

(१) श्रीभगवतरसिक अनन्य नाम, प्रताप, श्रीविहारीवल्लभजी रचित, छप्पय सं०१, पृष्ठ सं० २१
(२) श्रीराम-भक्ति में रसिक-सम्प्रदाय, लेखक-डॉ० श्रीभगवती प्रसाद सिंह, पृष्ठ सं० १३७, १३८
(३) रसिकप्रकाश भक्तमाल, श्रीजीवारामजी 'युगलप्रिया' रचित, पृष्ठ सं० ११६

इसी आधार पर आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वामी श्रीभगवतरसिकदेवजी का जन्म वि०सं० १७९५ और रचनाकाल वि०सं० १८३० से १८५० के मध्य में अनुमानित किया है।।२।। तदनुसार श्रीबिहारीवल्लभजी की रचनाकाल वि०सं० १८६५ के लगभग सिद्ध होता है। बम्बई निवासी डॉ० श्रीगोपालदासजी शर्मा को अनुसन्धान करते समय श्री विहारीवल्लभजी की पाँचों कृतियों की एक हस्तलिखित प्रति 'टटिया-संस्थान' वृन्दावन (मथुरा) में देखने को मिली थी।।३।। उस प्रति को लेखक ने भी वहीं देखा था लेकिन उसमें लिपिकाल नहीं दिया है, तथापि कागज और लेखन आदि से ज्ञात होता है कि वह लगभग १२५ वर्ष पूर्व ही लिखी होगी। अनुसन्धान के पूर्व श्रीविहारीवल्लभ जी कुछ रचनायें श्रीभगवद्रसिकदेव की रचना मानकर उनकी वाणी में प्रकाशित भी कर दी गई थीं।।४।। किन्तु अनुसन्धान द्वारा अब भ्रम की निवृत्ति हो चुकी है। कारण उन रचनाओं में स्पष्ट श्रीविहारीवल्लभजी के नाम का उल्लेख मिलता है-'भगवतरसिक प्रसाद विहारी वल्लभ पायौ'।।५।। और वह है 'होरी धमारि'।

वृन्दावनस्थ ज्ञानगुदड़ी मौहल्ले में आपकी बनवायी हुई 'वल्लभ वाली कुंज' है जिसमें आप निवास करते थे। वर्तमान काल में यह कुंज अब 'टटिया-संस्थान' के संरक्षण में है। इनके ये समस्त पाँचों रचनायें मेरे द्वारा संकलित और सम्पादित होकर 'श्रीविहारीवल्लभजी की वाणी' के नाम से वि०सं० २०२३ अ०भा० श्रीनिम्बार्क शोध मण्डल, वृन्दावन (मथुरा) द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं। यहाँ पर उनकी कृतियों में से 'श्रीभगवद्भक्त-नामावली' प्रकाशित की गयी है।

---

(१) श्रीअष्टाचार्योत्सव-सूचनिका-स्वामी श्रीसहचरिशरणदेवजी रचित, वि०सं०१९७१ में मुद्रित श्रीभगवतरसिकदेवजी की वाणी के साथ प्रकाशित) पृष्ठ सं० १३६, १३७

(२) हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य श्रीरामचन्द्रजी शुक्ल, पृष्ठ सं० ३२९

(३) स्वामी श्रीहरिदासजी का सम्प्रदाय और उनकी वाणी-साहित्य-डॉ० श्रीगोपालदत्तजी शर्मा, पृष्ठ सं० ७८

(४) श्रीभगवतरसिकजी की वाणी, प्रकाशक-लाला श्रीकेदारनाथजी वैश्य, वि०सं० १९७२, पृष्ठ सं० ९०

(५) वही पृष्ठ संख्या-९२

❖

श्रीकुटिया विहारी भगवान्

श्रीकौशलकिशोर जी महाराज

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

श्रीगुरुदेव

श्रीश्री १०८ श्रीअग्रदास जी महाराज

श्रीभक्तमालकार

श्रीश्री १०८ श्रीनाभा जी महाराज

श्री वैष्णव कुलभूषण गौ सन्तसेवी
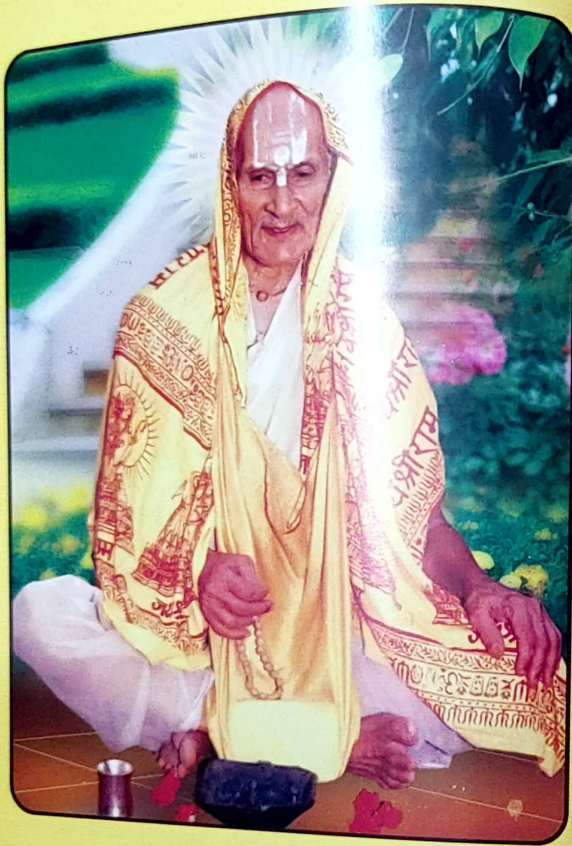
श्रीश्री १०८ श्रीसुदामादास जी महाराज
सुदामाकुटी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल गूढ़ार्थ प्रकाशक
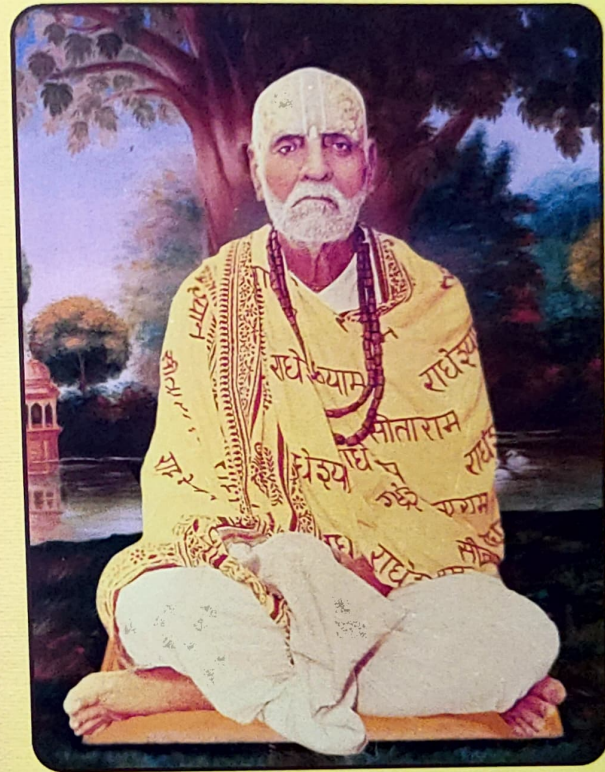
भक्तमाली श्रीजगन्नाथदास जी महाराज
ज्ञानगुदड़ी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल के भाष्यकार

श्रीरामेश्वरदास जी रामायणी (चित्रकूटी)

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन

श्रीभक्तमाल टीकाकार

भक्तमाली श्रीगणेशदास जी महाराज

श्री सुदामा कुटी, वृन्दावन
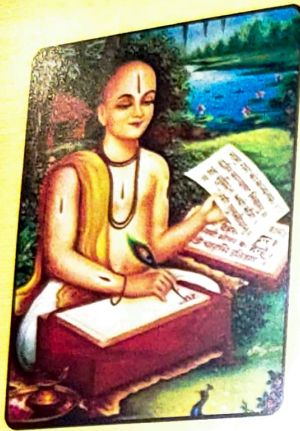
(भक्त) श्रीतुलसीदासजी

भक्ति

(भगवन्त) श्रीरामजी

(गुरु) श्रीरामानन्दाचार्यजी

भक्त, भक्ति, भगवन्त, गुरु, चतुरनाम वपु एक।
इनके पद वन्दन किये, नाशैं विघ्न अनेक।।

।। श्रीराम: शरणं मम।।

श्रीभक्तमाल

(तृतीय खण्ड)

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी

बिट्ठलनाथ ब्रजराज ज्यौं लाल लड़ायकै सुख लियौ।।
राग भोग नित बिबिध रहत परिचर्या तत्पर।
सज्या भूषन बसन रचित रचना अपने कर।।
वह गोकुल वह नन्द सदन दीच्छित को सोहै।
प्रगट बिभौ जहाँ घोष देखि सुरपति मन मोहै।।
बल्लभसुत बल भजन के कलियुग में द्वापर कियौ।
बिट्ठलनाथ ब्रजराज ज्यौं लाल लड़ायकै सुख लियौ।।७९।।

शब्दार्थ—लाल=नन्दलाल। लड़ायकै =प्यार करके। राग=गान, अष्टयाम-सेवा में समय-समय के पदों का गान, प्रेम। भोग=नैवेद्य। परिचर्या= सेवा। सज्या=शय्या, पलंग। दीच्छित=दीक्षित ब्राह्मणों की एक उपाधि, श्रीविट्ठलनाथजी दीक्षित ब्राह्मण थे। विभौ=वैभव, ऐश्वर्य। घोष=गोकुल, गोपों का ग्राम। बल्लभ = श्रीवल्लभाचार्यजी।

भावार्थ—गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी ने व्रजेश्वर श्रीनन्दबाबाजी की ही तरह श्रीबालकृष्ण भगवान् को वात्सल्यभाव से अत्यन्त लाड़-प्यार करके परम सुख प्राप्त किया। आप नित्यप्रति श्रीठाकुरजी की सेवा में अनेक प्रकार के सामयिक पदों का गायन एवं उत्तमोत्तम-नैवेद्य समर्पण पूर्वक अष्टयाम-सेवा में ही तल्लीन रहते थे। आप अपने हाथ से ही श्रीठाकुरजी का वस्त्राभूषणों से श्रृंगार करते एवं शयन के लिए शय्या सजाते थे अर्थात् समस्त सेवा स्वयं ही

करते थे। द्वापरयुग में श्रीगोकुल एवं श्रीनन्दबाबा के महल की जो शोभा थी वही शोभा दाक्षिणात्य-दीक्षित ब्राह्मण श्रीविट्ठलनाथजी के समय में भी श्रीगोकुल एवं उनके भवन की थी। जिस प्रकार से द्वापर युग में श्रीगोकुल के गोपों का ऐश्वर्य देखकर देवराज इन्द्र मोहित हो जाते थे, उसी प्रकार का वैभव श्रीविट्ठलनाथजी के समय में भी श्रीगोकुल में था। सारांश यह है कि श्रीमद्बल्लभाचार्यजी के सुपुत्र श्रीविट्ठलनाथजी ने श्रीभगवद्-भजन के बल से कलियुग में भी द्वापर युग जैसा कर दिया था।।७९।।

व्याख्या—विट्ठलनाथ...सुख लियौ—व्रजेश्वर श्रीनन्दबाबा के वात्सल्य सुख के सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-६१७, श्रीनन्दजी की कथा, पृष्ठ-६१९, श्रीयशोदाजी की कथा। श्रीविट्ठलनाथजी का श्रीठाकुरजी के प्रति जैसा भाव था तो श्रीठाकुरजी भी इनके प्रति वैसा ही बाल-विनोद करते थे। एक बार आप श्रीठाकुरजी को दूध पिला रहे थे, श्रीठाकुरजी ने एक घूंट पीकर दूध का कटोरा मुख से हटा दिया। आपने पूछा क्यों! आप पीते क्यों नहीं हैं? श्रीठाकुरजी ने कहा-'दूध में मिश्री इतनी अधिक है कि वह मुझसे पिया ही नहीं जा रहा है, तब बड़ी मनुहार करके श्रीगोसाँईंजी ने जैसे-तैसे थोड़ा दूध पिलाया। दूसरी बार के भोग में आपने दूध में कम मिश्री डाली, परन्तु यह क्या? श्रीठाकुरजी ने फिर पूर्ववत् ही एक घूंट लेकर अपने मुख से कटोरा हटा दिया और जब पुनः श्रीगोसाँईंजी ने पूछा तो कह दिया कि अबकी बार तो एकदम सीठा-सीठा लग रहा है, भला इतना सीठा दूध कोई कैसे पी सकता है? श्रीगोसाँईंजी के बड़े मनावन करने के पश्चात् थोड़ा-सा दूध पीये। पुनः जब भोग का अवसर आया तो श्रीगोसाँईंजी ने दूध और मिश्री अलग-अलग रखकर भोग लगाया, श्रीठाकुरजी ने पूछा ऐसा क्यों? ऐसा तो आप कभी नहीं करते थे, आपने कहा कि जब मेरे द्वारा मिश्री मिलाया हुआ दूध आपको पसन्द नहीं आता है तो आज आप स्वयं ही मिश्री मिलाकर पी लीजिये। श्रीठाकुरजी ने कहा-परन्तु मुझे तो मिश्री मिलाना आता ही नहीं है, मैं कैसे मिलाऊँगा? आप ही मिलाकर पिलाइये। तब गोसाँईंजी ने झुंझलाकर कहा कि जब आप दूध में मिश्री मिलाना जानते ही नहीं हो तो इतनी बात क्यों बनाते हो? जैसा दूँ, वैसा ही पी लिया करो। श्रीठाकुरजी संकुचित होकर श्रीगोसाँईंजी के हृदय से चिपक गये, श्रीगोसाँईंजी श्रीठाकुरजी को हृदय से लगाकर सुख-सिन्धु में डूब गये।

ऐसे ही एक दिन शयन के समय श्रीठाकुरजी मचल गये, कभी तो कहते यह शय्या ठीक नहीं है, कभी कहते यह बिछौना ठीक नहीं है, कभी कहते यह बिछाओ, कभी कहते वह बिछाओ, कभी कहते ऐसे बिछाओ, कभी कहते वैसे बिछाओ, उस दिन श्रीगोसाँईंजी को न जाने कितनी

शय्यायें और कितने बिछौने कितनी बार बिछाने पड़े। श्रीगोसाँईंजी के विशेष परिश्रम करने के पश्चात् श्रीठाकुरजी शयन करने के लिये तैयार तो हुए परन्तु श्रीगोसाँईंजी का हाथ पकड़कर बोले कि आप भी इसी शय्या पर शयन कीजिये, श्रीगोसाँईंजी ने कहा कि-ऐसा क्यों? श्रीठाकुरजी ने कहा कि आपकी गोद में शयन करता हूँ तो मुझे नींद अच्छी आती है, मैं सुखपूर्वक सोता हूँ मुझे अकेलेपन में नींद नहीं आती है। वस्तुतस्तु श्रीबालकृष्ण भगवान श्रीनन्द-यशोदाजी की गोदी में ही शयन करते थे। यथा-''जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ। संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे।।'' (श्रीमद्भा० १०-१५-४६) दोनों भाइयों ने माताओं का परोसा हुआ स्वादिष्ट अन्न ग्रहण किया। इसके पश्चात् अति लाड़-प्यार से दुलार-दुलारकर श्रीयशोदा और रोहिणी ने इन्हें सुन्दर शय्या पर सुलाया। माताओं की गोद में भगवान श्रीश्यामसुन्दर एवं श्रीबलरामजी ने बड़े आराम से सो गये।

एक दिन श्रीठाकुरजी एक बन्दर को देखकर भयभीत हो श्रीगोसाँईंजी की गोद में छिप गये। यह देखकर श्रीगोसाँईंजी के मन में बड़ी शंका हुई कि जब ये एक छोटे से बन्दर को देखकर इतना भय कर रहे हैं तो भला त्रेता युग में इन्होंने पर्वताकार वानर-भालुओं को साथ में लेकर महाभयानक रावणादि राक्षसों से संग्राम कैसे किया होगा? तब स्वप्न में श्रीठाकुरजी ने इनसे कहा कि-''देखो आप या तो मुझसे माधुर्यमय वात्सल्य-प्रेम ही कीजिये या ऐश्वर्य भाव ही रखिये, एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं, क्योंकि आप इधर तो मुझे बालक मानते हैं और उधर ऐश्वर्य भी देखना चाहते हैं।'' यह ठीक नहीं इसी मध्य आपकी निद्रा भंग हो गयी और आप जाग गये तथा श्रीठाकुरजी के द्वारा स्वप्न में उद्बोधन प्राप्त कर उनकी कृपा विचारकर गद्गद हो गये। आपके वात्सल्यभाव को श्रीठाकुरजी ने तो स्वीकार किया ही था, सर्वेश्वरी श्रीराधिकाजी ने भी आपके भाव को अंगीकार किया था।

वर्णन आया है कि एक चूड़ी पहनाने वाली आई तो श्रीगोसाँईंजी ने उससे कहा कि घर में जाकर सभी बधुओं को चूड़ी पहना दो तथा पैसा मुझसे ले लेना। आपके सात पुत्र थे और सातों विवाहित थे, अतः बहुयें भी सात थीं। लेकिन आपने यह नहीं कहा कि सातों बधुओं को, बल्कि यह कहा कि सभी बहुओं को चूड़ी पहनाना, अतः श्रीराधिकाजी को भी चूड़ी पहनने का अवसर मिल गया, क्योंकि श्रीठाकुरजी में वात्सल्यभाव रखने से यह भी तो इनकी पुत्रवधू ही हुई। यदि सातों का नाम लिया होता तो कदाचित् श्रीश्रीजी को चूड़ी पहनने का अवसर नहीं मिलता। सातों बधूयें घूँघट करके आयीं और चूड़ी पहनकर चली गयीं। जब श्रीश्रीजी ने अपना हाथ बढ़ाया तो चूड़ीहारिन श्रीश्रीजी के श्रीकर-कमलों को देखते ही शिथिल

हो गयी, उसके हाथ से चूड़ियाँ छूटकर गिर गईं। उसकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि इतने सुन्दर-सुकोमल हाथों में मैं कौन-सी एवं कैसे चूड़ी पहनाऊँ। वह बहुत देर तक श्रीश्रीजी का हाथ अपने हाथ में लिये चकित एवं विथकित-सी बनी रही, फिर वह मुश्किल से जैसे-तैसे करके चूड़ी पहना पाई। तत्पश्चात् वह चूड़ियों के पैसे लेने श्रीगोसाँईंजी के पास पहुँची, तो आप सातों बधुओं के चूड़ी पहनने के दाम देते और वह आठ के पैसे माँगती। श्रीगोसाँईंजी की समझ में यह नहीं आ रहा था कि ''पुत्रबधुयें तो सात ही हैं फिर इसने आठवीं किस बधू को चूड़ी पहनाई? ऐसा ज्ञात होता है कि यह पैसा लेने के लिये झूठ बोल रही है।'' परन्तु चूड़ीहारिन सौ-सौ सौगन्धें खाकर कहती कि-''मैंने आठ बधुओं को चूड़ियाँ पहनाई है। यदि मेरी बात असत्य निकले तो मैं सब दाम छोड़ दूँगी, एक पैसा भी नहीं लूँगी।'' श्रीगोसाँईंजी ने अधिक विवाद में न पड़कर उसे आठ के ही पैसे तो दे दिए, परन्तु मन से वह बात निकली नहीं थी और न उसका समुचित समाधान ही हो रहा था। तब रात्रि में श्रीश्रीजी ने कहा कि उस चूड़ी वाली ने मुझको भी चूड़ियाँ पहनायीं हैं। क्या आप मुझे अपनी पुत्रवधू नहीं मानते हैं? और यदि आप अपनी पुत्रबधू मानते हैं तो आठ का दाम देने में दुःख क्यों मानते हैं? आपने ही तो कहा था कि सब बधुओं को चूड़ी पहना दो, तभी तो मैं भी पहनने का साहस कर सकी थी। श्रीश्रीजी के इन वचनों को श्रवणकर श्रीगोसाँईंजी भाव-विभोर हो गये, परमानन्दसिन्धु में निमग्न हो गये। ऐसे ही आपके अनेकों चरित्र हैं जिससे आपके वात्सल्यभाव से भावित होकर श्रीठाकुरजी ने आपको अपार सुख प्रदान किया है।

एक बात यहाँ बड़े महत्व की है कि इन प्रसंगों से यह प्रमाणित होता है कि श्रीठाकुरजी ने भी इनके भाव को स्वीकार कर लिया था। वैसे तो सभी लोग निजभावनानुसार कोई न कोई अपना सम्बन्ध श्रीठाकुरजी से रखते ही हैं, परन्तु सही सम्बन्ध तो उन्हीं का समझना चाहिये जिसको श्रीप्रभु भी स्वीकार कर लें, इस पर-

दृष्टान्त—पण्डित उमापतिजी का—श्रीअयोध्या निवासी पण्डित श्रीउमापतिजी स्वयं को श्रीवशिष्ठजी के रूप में मानते हुए सपरिवार, सपरिकर श्रीरामजी को अपना शिष्य मानते थे। ये नित्यप्रति अपनी प्रसादी माला, श्रीकनकभवनबिहारी श्रीरामजी को पहनाते थे। एक बार कुछ लोगों ने एतराज किया कि आप यह ठीक नहीं करते हैं। तब दूसरे दिन आप नवीन माला खरीदकर ले गये, परन्तु जब वह माला श्रीरामजी को धारण कराई गई तो वह तत्काल ही टूटकर गिर पड़ी। पुनः-पुनः उस माला को जोड़कर श्रीठाकुरजी को पहनाई गई, परन्तु प्रत्येक बार वह टूट-टूटकर गिर-गिर पड़ती। वे लोग

समझ गये कि श्रीप्रभु को यह अमनियां माला स्वीकार नहीं है, तब सभी लोग अपनी भूल पर अति संकुचित हुये और उन्होंने श्रीपण्डितजी से प्रार्थना की कि ''अब आप माला अपनी प्रसादी करके श्रीठाकुरजी को धारण कराइये।'' सभी के समक्ष जब इन्होंने अपनी प्रसादी-माला श्रीरामजी को पहनाई तो श्रीप्रभु ने सहर्ष धारण कर ली।

श्रीजानकीजी में आपका पुत्रबधू का भाव था क्योंकि शिष्य भी तो पुत्र ही होता है। अतः आप श्रीसीताजी की ओर दृष्टि नहीं करते थे क्योंकि वह भी आपके भावनानुसार आपसे संकोच करतीं थीं। आपने पुजारियों से कह रखा था कि ''जब मैं दर्शन करने आऊँ तो श्रीजानकीजी की ओर परदा कर दिया करना।'' पुजारीजी भी विशेष सावधानी पूर्वक सर्वदा ऐसा ही करते थे। एक बार संयोग से श्रीपण्डितजी आये तो पुजारीजी परदा करना भूल गये। फलस्वरूप मन्दिर की एक ओर की किवाड़ स्वयं ही धड़ाके के साथ बन्द हो गयी। श्रीपण्डितजी समझ गये कि पुजारीजी की विस्मृति से स्वयं श्रीजानकीजी को किवाड़ बन्द करनी पड़ी है अतः आपने बहुत ही खिन्न होकर कहा पुजारीजी! अब हम मन्दिर में दर्शन करने नहीं आयेंगे, क्योंकि आप लोग असावधानी करते हैं जिससे श्रीजानकीजी को कष्ट करना पड़ता है। पुजारीजी ने अपनी भूल स्वीकार की और उसके लिये क्षमा-प्रार्थना की तथा भविष्य में ऐसी भूल न होने की शपथ ली, तब आप पुनः मन्दिर में जाने लगे। कहते हैं कि एक बार श्रीअयोध्या के राजा श्रीददुआजी महाराज की इच्छा हुई कि मेरे राज-सदन का शिलान्यास पण्डित श्रीउमापतिजी के द्वारा ही सम्पन्न हो। राजा साहब ने भेंट में सवा लाख रुपया देने का निश्चय किया था। राजा साहब ने विशेष आग्रह तथा अनुरोध किया, परन्तु आपने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। आपने कहा कि जब श्रीराम और लक्ष्मण मेरे शिष्य हैं तो मैं किसलिए और क्यों किसी के द्वार पर जाऊँ? मैं अपना नियम नहीं छोड़ूँगा, मैं महाराजा साहब को यहीं से हृदय से शुभाशीर्वाद देता हूँ। ऐसे निष्ठावान थे पण्डित श्रीउमापतिजी। इसी से तो श्रीरामजी ने इनके भाव को स्वीकार लिया था। ठीक इसी प्रकार से ही श्रीविट्ठलनाथजी के भाव को श्रीश्रीनाथजी ने स्वीकार कर लिया था। अतः कहते हैं कि-''विट्ठलनाथ..सुख लियौ।।''

राग भोग नित बिबिध—श्रीगोसाँईंजी स्वयं बड़े कुशल पद रचनाकार एवं गायक थे, तब भी आपने श्रीठाकुरजी की अष्टयाम राग (पद-कीर्तन) सेवा के लिए आठ परम प्रवीण कीर्तनकार नियुक्त कर रखे थे। श्रीसूरदासजी, श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीकुम्भनदासजी एवं श्रीकृष्ण दासजी- ये चार कीर्तनियाँ तो श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी के कृपापात्र थे तथा श्रीगोविन्ददासजी, श्रीचतुर्भुजदासजी, श्रीछीतस्वामीजी एवं श्रीनन्ददासजी-ये चार कीर्तनियाँ श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईंजी

के कृपापात्र थे। ये लोग नित्य नवीन-नवीन पदों के द्वारा श्रीठाकुरजी की राग-सेवा करते थे। इसी प्रकार नित्यप्रति के लिए नये-नये उत्तमोत्तम भोग की भी बड़ी सुन्दर व्यवस्था थी। यह नहीं कि एक दिन बनाकर रख लिया और छः महीने तक भोग लगता रहा। इस पर दृष्टान्त-एक पुजारीजी का देखिये उ०प्र०ख० पृष्ठ ३५४।।

एक बार की बात है कि श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीठाकुरजी को भोग लगा रहे थे, उस समय आपको शाक में कोई तृण दिखायी पड़ा तो आपको विशेष मानसिक क्लेश हुआ और विचार करने लगे कि हमारे रहते ही परिचारक लोग इतनी असावधानी करते हैं तो हमारी अनुपस्थिति में तो ये लोग न जाने क्या करेंगे? फिर तो आपने अत्यन्त खिन्न होकर सभी स्थानीय लोगों को बुलाकर कहा कि-''अब आप लोग श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा एवं मन्दिर का कार्य सँभालिये, मैं तो अब संन्यास ले लूँगा। हमसे सेवा में असावधानी देखी नहीं जाती है।'' आपके इतना कहते ही सभी लोग अति दुःखी हो गये जैसे कि मानो उन्हें मूर्च्छा-सी आ गयी हो, सभी ने आपसे बहुत अनुनय-विनय की तथा इस अपराध के लिए क्षमा-याचना की एवं भविष्य में ऐसी भूल कभी नहीं होगी, इसके लिए शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की। परन्तु आप अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए। जब आप ठाकुर श्रीश्रीनाथजी से आज्ञा लेने गये तो श्रीठाकुरजी ने अत्यन्त उदास होकर कहा-''गोसाँईजी! आप मेरे लिए भी काषाय (गेरुआ) वस्त्र मँगवा दें।'' आपने कहा कि-''जै-जै, आपके लिए तो एक से एक बढ़िया पोशाकें रक्खीं हैं फिर आप काषाय वस्त्र धारण करने की क्यों इच्छा कर रहे हैं।'' श्रीठाकुरजी ने कहा-''जब आप संन्यास लेंगे तो मैं भी संन्यास ले लूँगा। मैं आपको छोड़कर यहाँ नहीं रह सकता।'' श्रीविट्ठलनाथजी ने कहा-''मुझसे आपकी सेवा में त्रुटि सहन नहीं हो रही है, अतः मैं तो इस दुःख के कारण ही संन्यास ले रहा हूँ।'' श्रीठाकुरजी ने कहा-''जब मैं दुःख नहीं मान रहा हूँ तो आप क्यों दुःखी हो रहे हैं। आपसे तो मैं सदा ही प्रसन्न हूँ एवं प्रसन्न ही रहूँगा।'' तब श्री विट्ठलनाथजी ने अपना निश्चय छोड़ा। ऐसी अपूर्व निष्ठा थी आपकी श्रीभगवद्-सेवा में।

सज्या भूषन... अपने कर—इसका भाव यह है कि श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी पण्डा-पुजारियों के ऊपर भगवान् की सेवा नहीं छोड़ते थे, स्वयं समस्त सेवायें बड़ी तत्परता के साथ करते थे। श्रीनाभाजी कहते हैं कि-''रहत परिचर्या ततपर।'' सेवा में ऐसी लगन थी कि आप विराजते तो थे श्रीगोकुल में परन्तु नित्यप्रति श्रीश्रीनाथजी की सेवा करने हेतु घोड़े पर चढ़कर श्रीयतीपुरा (श्रीगोवर्धन) आते थे, किसी कारणवश यदि आने में कुछ विलम्ब

हुआ तो अन्य सेवा चाहें कोई दूसरा पुजारी कर ले, परन्तु श्रीठाकुरजी की आरती तो स्वयं ही आकर करते थे। श्रीवल्लभकुल में यह नियम आज भी अक्षुण्ण चला आ रहा है। श्रीठाकुरजी की आरती-सेवा श्रीगोसाँई स्वरूप ही करते हैं। ''कलियुग में द्वापर कियौ।'' श्रीभगवन्निष्ठ सदाचारी पुरुष अपने सदाचार बल से कुकाल को भी सुकाल बना देते हैं एवं श्रीभगवद्विमुख दुराचारी पुरुष अपने अनाचार-दुराचार-पापाचार से सुकाल को भी कुकाल बना देते हैं। देखिये अत्याचारी रावण के राज्यकाल में सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग, कलियुग से भी बुरा हो रहा था। यथा-''अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिय नहिं काना। तेहि बहु बिधि त्रासइ देस निकसइ जो कह वेद पुराना।।'' (रामा०), जैसे मूर्तिमान धर्म मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामजी के राज्यकाल में त्रेतायुग में भी सतयुग हो रहा था। यथा-''त्रेता भइ कृतजुग की करनी।। चारिउ चरन धर्म जग माहिं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहिं।।'' (रामा०), उसी प्रकार से ही श्रीविट्ठलनाथजी के भजन के प्रताप से कलियुग में द्वापर युग हो रहा था। एक प्रश्न यहाँ होगा कि सतयुग, त्रेतायुग न कहकर ''द्वापर कियौ'' क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि ''श्रीभगवद्सेवा-पूजा'' यह द्वापर युग का ही धर्म है। यथा-''ध्यान प्रथम जुग मख विधि दूजे। द्वापर परितोषत प्रभु पूजे।।'' (रामा०) ''द्वापरे परिचर्यायां'' भा०। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५५४। श्रीविट्ठलनाथजी ने भगवान की सेवा-पूजा का ही विस्तार तथा प्रचार-प्रसार किया, अतः कहा-''कलियुग में द्वापर कियौ।।'' सभी सम्प्रदायों की अपनी-अपनी विशेषतायें होती हैं। श्रीवल्लभ सम्प्रदाय में सेवा-पूजा की प्रधानता है। विशेष देखिये द्वितीय खण्ड पृष्ठ-१९, पद-''ज्ञान दियौ शंकर...स्वामी रामानन्द।।''

विशेष—गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी श्रीपण्ढरीनाथजी के अवतार हैं। इस सम्बन्ध में विशेष अध्ययन के लिए देखिये द्वितीय खण्ड पृष्ठ-३६०। आप श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के द्वितीय पुत्र हैं। आपका प्रादुर्भाव विक्रमाब्द १५७२ में, काशी के निकट चरणाद्रि (चुनारगढ़) में हुआ था। श्रीआचार्य महाप्रभुजी ने अड़ैल (प्रयाग के निकट) आकर आपका जन्मोत्सव मनाया और यथासमय आपके समस्त शुभ-संस्कार किये। पिता श्रीआचार्य महाप्रभुजी के देखरेख में आपने समस्त श्रुति-शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन किया। तदुपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए। आपकी श्रीरुक्मिणीजी एवं श्रीपद्मावतीजी नाम की दो पत्नियाँ थीं। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के गोलोक-गमन के अनन्तर उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीगोपीनाथजी को आचार्य गादी का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ परन्तु अल्पकाल में ही उनके भी गोलोकवासी हो जाने के कारण तथा उनके सुपुत्र पुरुषोत्तमजी की बाल्यावस्था होने के कारण

श्रीविट्ठलनाथजी ने ही समस्त कार्यभार संभाला। आपने भगवान की सेवा-पूजा में स्वयं विशेष रुचि ली, फलस्वरूप सेवा-पूजा का विशेष विस्तार हुआ। इसी मध्य किसी बात को लेकर श्रीविट्ठलनाथजी और अधिकारी श्रीकृष्णदासजी इन दोनों में कुछ मन-मुटाव-सा हो गया। परिणाम यह हुआ कि श्रीकृष्णदासजी ने गोलोकवासी श्रीगोपीनाथजी की पत्नी को अपने पक्ष में करके उनके पुत्र श्रीपुरुषोत्तमजी को गद्दी का अधिकार दिलाया और श्रीविट्ठलनाथजी के लिये श्रीठाकुरजी के दर्शन की ड्यौढ़ी बन्द करा दी। श्रीगोसाँईजी को अधिकार छिन जाने का कोई कष्ट नहीं हुआ, परन्तु इन्हें जो दर्शन से वंचित रखा गया इसका इनके मन में अपार क्लेश हुआ और ये खिन्न होकर पारासौली ग्राम चले गये। वहीं से आप श्रीश्रीनाथजी के मन्दिर के ऊपर फहराती हुई ध्वजा को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर लेते और मन्दिर के झरोखे की ओर अपलक दृष्टि से देखते हुए अपने मन में संतोष करते थे।

श्रीरामदासजी भीतरिया (ये श्रीठाकुरजी की रसोई-सेवा करते थे), इनका श्रीगोसाँईजी से विशेष स्नेह था, अतः अधिकारी श्रीकृष्णदासजी के मना करने पर भी ये नित्यप्रति सेवा से अवकाश मिलने पर श्रीठाकुरजी का वीड़ा-प्रसाद लेकर श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी का दर्शन करने अवश्य ही जाते थे। श्रीगोसाँईजी भी इनको श्रीठाकुरजी के लिये फूलों का एक हार तथा विनय का एक श्लोक अर्पण करते थे। श्रीरामदासजी नित्यप्रति आकर वह फूलों का हार श्रीठाकुरजी को धारण कराते और श्लोक श्रीचरणों में रख देते। श्रीठाकुरजी श्लोक पढ़कर गद्‌गद हो जाते और श्रीरामदासजी के द्वारा श्रीगोसाँईजी के लिये सांत्वनात्मक सन्देश भेजते। एक दिन श्रीठाकुरजी ने सन्देश में कहा कि-''मेघ तो समय पर बरसेगा ही आप क्यों इतनी चिन्ता करते हैं? अर्थात् कुछ समय प्रतीक्षा कीजिये, फिर पूर्ववत सभी बात बन जायेगी।'' इसके प्रत्युत्तर में श्रीविट्ठलनाथजी ने इस आशय का श्लोक लिखकर भेजा कि-''यह सत्य है कि मेघ समय पर ही बरसता है, परन्तु चातक अपनी रटन को कहाँ छोड़ देता है? अर्थात् मेरी रटन तो घटने वाली नहीं है।'' क्योंकि-''चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई।।'' (रामा०), श्रीविट्ठलनाथजी के प्रभाव से दिल्लीश्वर अकबर बादशाह एवं उनके कर्मचारीगण परिचित थे अतः जब उन लोगों को श्रीगोसाँईजी के विरुद्ध श्रीकृष्णदासजी की इस प्रकार की हरकत मालूम हुई तो तत्काल उन्हें कारागार में बन्द कर दिया गया, परन्तु धन्य श्रीगोसाँईजी! जब आपको यह समाचार ज्ञात हुआ तो आपने बहुत दुःख प्रकट किया और प्रतिज्ञा की कि जब तक श्रीकृष्णदास अधिकारीजी कारागार से मुक्त होकर नहीं आ जायेंगे, तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा। फलस्वरूप

श्रीकृष्णदासजी को तुरन्त छोड़ दिया गया। श्रीगोसाँईजी के इस साधु व्यवहार से श्रीकृष्णदासजी एवं शासक वर्ग भी विशेष प्रभावित हुआ। श्रीकृष्णदासजी ने पारसौली आकर श्रीगोसाँईजी के चरणों में पड़कर निज अपराध के लिये क्षमा-याचना की और भाव-विभोर होकर आपका गुणगान किया। यथा-''परम कृपालु श्रीवल्लभनन्दन करत कृपा निज हाथ दे माथे।।'' फिर तो श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी को सेवा का अधिकार पूर्ववत् पुनः प्राप्त हो गया। कहते हैं कि इसी महद् अपराध के कारण श्रीकृष्णदासजी के देहान्त होने पर इनको प्रेतयोनि प्राप्त हुई और फिर उनका उद्धार भी श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी की कृपा से ही हुआ था।

पूर्व कहा जा चुका है कि अकबर प्रभृति शासक वर्ग श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी से विशेष प्रभावित थे। इस सम्बन्ध में कथा इस प्रकार से है-''एक बार अकबर अपनी बेगमों के सहित मथुरा आया हुआ था। एक दिन उसकी एक हिन्दू बेगम (सम्भवतः जोधाबाई) नौका पर बैठकर श्रीयमुनाजी एवं श्रीमथुराजी की शोभा का निरीक्षण कर रही थी। धीरे-धीरे चलते-चलते नाव श्रीगोकुल पहुँच गयी। संयोग से उस समय श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी श्रीयमुना स्नान करके सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। आपके अपूर्व तेज को देखकर वह बेगम आकृष्ट हुई और नाव को वहीं पर रुकवाकर सेवकों से आपका परिचय प्राप्त कर आपके समीप आईं और हाथ जोड़कर खड़ीं हुईं। जब श्रीगोसाँईजी ने बेगम से आगमन का कारण पूछा तो उसने कहा कि-''आप कृपा करके मुझे कोई ऐसा उपाय बताइये कि जिससे हमारे पति बादशाह सलामत सदा हमारे वश में रहे।'' आपने एक दोहा लिखकर उसकी भुजा में बाँध दिया। वह दोहा इस प्रकार है- ''यन्त्र मन्त्र अरु तन्त्र को भूलि करो जनि कोय। पति कहै सो कीजिये वह आपहि वश होय।।'' सेवकों की कानाफूसी से बात बादशाह तक पहुँची, उसके मन में इस बात का विशेष रंज हुआ कि हमारी बेगम को इन्होंने न जाने क्या उल्टा-सीधा पढ़ा दिया। फलतः बादशाह ने बलपूर्वक बेगम के हाथ में बँधे हुए उस यन्त्र को तोड़ लिया और जब उसे खोलकर पढ़ा तो पूर्वोक्त दोहा लिखा पाया, जिसमें पति की आज्ञा-पालनरूप-सेवा पर ही विशेष बल दिया गया था, फिर तो बादशाह इस शास्त्रसम्मत उपदेश को पढ़कर विशेष प्रभावित हुआ और स्वयं भी श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी के दर्शन करने आया। श्रीगोकुल तथा श्रीगोवर्धन में बहुत सी भूमि भेंट में दी।

श्रीमद्‌बल्लभाचार्य महाप्रभुजी ने जिस पुष्टिमार्ग का प्रवर्त्तन किया था उसका व्यापक प्रचार-प्रसार श्रीविट्ठलनाथ गोसाँईजी के द्वारा ही हुआ। आपने वैष्णवता का प्रचार करने के लिये बहुत से ग्रन्थों की रचना की एवं वैष्णवों को अपने साथ में लेकर सम्पूर्ण भारत का भ्रमण

किया तथा भक्ति-जगत् में साहित्य, संगीत का प्रचार करने के लिये आपने आठ महाकवियों का एक मण्डल स्थापित किया। जिसे ''अष्टछाप'' कहते हैं। उनमें चार (श्रीसूरदासजी, श्रीकुम्भनदासजी, श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीकृष्णदासजी) ये श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी के शिष्य थे एवं चार (श्रीनन्ददासजी, श्रीचतुर्भुजदासजी, श्रीगोविन्ददासजी श्रीछीतस्वामीजी) ये आपके शिष्य थे। आपके सात पुत्र थे, जिनका स्मरण छप्पय-८० में किया गया है। आपके सभी पुत्रों में जन्म से लेकर पाँच वर्ष की अवस्था तक श्रीभगवद्-आवेश रहता था, इस प्रकार भगवान ने आपको अपने पुत्र के रूप में भी दिव्य वात्सल्य सुख प्रदान किया था। महाप्रयाण का समय सन्निकट जानकर आपने अपने सातों सुपुत्रों को सेवा करने के लिये एक-एक श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह प्रदान किया एवं चल-अचल सम्पत्ति का बंटवारा भी कर दिया तथा सभी को यथायोग्य सेवा सौंप दी। फिर आपने समस्त वैष्णवों को आमंत्रित कर अन्तिम बार पुष्टिमार्ग का सार-सिद्धान्त समझाया और इसके प्रचार-प्रसार का आदेश देकर स्वयं श्रीगोवर्धनजी के गुहाद्वार पर आये, आपके पीछे-पीछे सभी सुपुत्रजन एवं परिकरवृन्द थे, आपने अपने कण्ठ की माला अपने चतुर्थ पुत्र श्रीगोकुलनाथजी के गले में पहनायी और स्वयं गुफा में प्रविष्ट हो गये। प्रवेश करते समय ज्येष्ठ पुत्र श्रीगिरधरजी ने आपका उत्तरीय खींच लिया, तब अन्दर से आवाज आयी कि इसी उत्तरीय के द्वारा ही उत्तर-क्रिया सम्पन्न करना। इस प्रकार आपने सम्वत् १६४२ में इहलीला संवरण की।

श्रीविट्ठलनाथजी की वाणी—''यद्दैन्यंत्वत्कृपा हेतुर्न तदस्ति ममाण्वपि। तां कृपां कुरु राधेश यया तद्दैन्यमाप्नुयाम्।।'' अर्थ-हे राधापति! जो दैन्य आपकी कृपा का हेतु है, वह तो मुझमें अणुमात्र भी नहीं है अतः अब तो आप ऐसी कृपा करें, जिससे मुझे वह दैन्य प्राप्त हो।। ''सर्वसाधनशून्योऽहं सर्वसामर्थ्यवान् भवान्। श्रीगोकुलप्राणनाथ न त्याज्योऽहं कदापि वै।।'' अर्थ-हे गोकुल के स्वामी! मैं सर्वथा सर्वसाधनहीन हूँ, परन्तु आप सर्वसामर्थ्यवान हैं। अतः मैं किसी भी स्थिति में आपके द्वारा त्याज्य नहीं हूँ।।'' ''यदि तुष्टोऽसि रुष्टो वा त्वमेव शरणं मम। मारणे धारणे वापि दीनानां नः प्रभुर्गतिः।।'' अर्थ-हे प्रभो! आप चाहें मुझ पर सन्तुष्ट हों अथवा असन्तुष्ट हों मेरे लिये तो एकमात्र आप ही अवलम्ब हैं। हम दीनों को मारने वाले अथवा जिलाने वाले तथा पोषण एवं अंगीकार करने वाले एकमात्र आप ही हमारे सहायी हैं।

श्रीत्रिपुरदासजी

कायथ त्रिपुरदास भक्ति सुखरासि भर्‌यो कर्‌यौ ऐसो पन सीत दगला पठाइयै।
निपट अमोल पट हियें हित जटि आवै तातें अति भावै नाथ अंग पहिराइयै।।
आयो कोऊ काल नरपति नैं बिहाल कियौ भयौ ईश ख्याल नेकु घर में न खाइयै।
वही ऋतु आई सुधि आई आँखि पानी भरि आई एक द्वाति दीठि आई बेंचि ल्याइयै।।३४०।।

शब्दार्थ—दगला=रुईदार अथवा मोटे कपड़े का बना अँगरखा। हियें हित=हार्दिक प्रेम। जटि=जड़कर, गोटा आदि से सुसज्जित। द्वाति=दावात।

भावार्थ—श्रीत्रिपुरदासजी जाति के कायस्थ थे। इनके हृदय में राशि-राशि भक्तिसुख भरा हुआ था। आपने ऐसी प्रतिज्ञा की थी कि मैं प्रतिवर्ष शीतकाल में श्रीश्रीनाथजी के लिये दगला भेजा करूँगा। तदनुसार ये अत्यन्त ही बहुमूल्य वस्त्र का दगला सिलवाते थे, फिर उसमें सुनहरे गोटे लगवाते थे और सबसे विशेष बात यह होती कि वह दगला आपके हार्दिक प्रेम से जड़ा हुआ होता था, ऐसा दिव्य दगला ये भेजते थे। यही कारण है कि आपका भेजा हुआ दगला ठाकुर श्रीश्रीनाथजी को अत्यन्त ही प्रिय लगता था और गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी भी उसे बड़े प्रेम से श्रीठाकुरजी को धारण कराते थे। कुछ कालोपरान्त आपका ऐसा समय आया कि राजा ने आपका सर्वस्व अपहरण कर लिया तथा ईश्वर ने भी आपके प्रति ऐसी ही लीला की कि आप एक-एक पैसा और एक-एक अन्न के दाने को मोहताज हो गये। घर में खाने-पीने तक का कोई साधन नहीं रहा। इसी मध्य शीतकाल की ऋतु आ गई। तब इन्हें श्रीठाकुरजी के लिये दगला भेजने का स्मरण हो आया। परन्तु धन का सर्वथा अभाव हो जाने से श्रीठाकुरजी की सेवा से वंचित होने तथा प्रतिज्ञा भंग होने के दुःख से आपके नेत्रों में आँसू छलछला आये। आप मन ही मन विचार कर ही रहे थे कि ऐसे असमय में प्रतिज्ञा का किस प्रकार से पालन हो और किस प्रकार से श्रीठाकुरजी की सेवा करूँ, कि एकाएक पीतल की एक दावात आपकी दृष्टि में आयी। फिर तो मानो डूबते को तिनके का सहारा मिल गया हो। आपने मन में निश्चय किया कि इसी को बेच करके श्रीठाकुरजी की सेवा करूँगा।।३४०।।

व्याख्या—कायस्थ त्रिपुरदास०—यहाँ पर जाति का संकेत करने का भाव यह है कि व्यवहार-जगत में कायस्थ जाति विशेष ही चतुर होती है। इस पर—

दृष्टान्त—कायस्थ का—एक बार एक हाथी ने यमराज से जाकर शिकायत किया कि मनुष्य हम लोगों को अपने आधीन करके बहुत कष्ट पहुँचाते हैं। यमराज की समझ में यह

बात नहीं आयी कि इतने बड़े जानवर को नन्हा-सा मनुष्य किस प्रकार से अपने वश में कर लेता है? अतः उन्होंने हाथी के कथन पर विश्वास नहीं किया। हाथी ने मनुष्य की चातुर्यता की प्रशंसा करते हुए बहुत प्रकार से विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया। फिर भी यमराज नहीं माने, तब हाथी ने कहा-''आपके यहाँ तो मनुष्य मरकर ही आते हैं, यदि आपको जीवित मनुष्य से पाला पड़ जाये तो आप स्वयं ही समझ जायेंगे।'' यह सुनकर यमराज को कौतुहल हुआ और उन्होंने अपने दूतों से कहा कि किसी जीवित मनुष्य को मेरे यहाँ ले आओ। संयोग से यमदूत एक कायस्थ जाति के मनुष्य को चारपाई सहित सोते हुए को उठा ले चले, मार्ग में उसकी नींद खुली तो उसने यमदूतों से पूछा कि-''मुझे कहाँ लिये जा रहे हो?'' यमदूतों ने बताया-''यमपुरी, यमराजजी के पास।'' उसकी चारपाई पर ही कागज, कलम और दावात रखी हुई थी अतः उसने एक बनावटी (काल्पनिक) फर्जी चिट्ठी यमराज के नाम लिखी। उसमें लिखा था-''धर्मराज को मेरा आशीर्वाद, आप अपना अधिकार इस व्यक्ति को सौंप दें, अब यही आपका समस्त कार्यभार संभालेगा, हस्ताक्षर-विष्णु।'' कायस्थ ने वह बनावटी फर्जी पत्र यमराजजी को दे दिया। यमराजजी ने भक्तिवश उस पत्र को सचमुच में ही भगवान श्रीविष्णु का ही भेजा हुआ समझा और तत्काल ही उस कायस्थ को अपनी गद्दी सौंप दी। परन्तु उस कायस्थ से लोक-व्यवस्था ठीक से संभल न सकी, चारों ओर अराजकता फैलने लगी। भगवान ने जब यमराज से अराजकता का कारण पूछा तो वे बोले-''प्रभो! आजकल तो मैं छुट्टी पर हूँ और मेरा कार्य तो एक मृत्युलोक का प्राणी कर रहा है, वह जाति का कायस्थ है।'' भगवान ने पूछा-''इतने उच्च पद पर उसे किसने और कैसे बैठा दिया?'' यमराज ने उत्तर दिया-''प्रभो! आपने ही तो उसके हाथ अपना हस्ताक्षरयुक्त आदेश-पत्र भेजा था।'' यह सुनकर भगवान अचम्भित हो गये। तुरन्त उसे हटाकर यमराज को उनका अधिकार सौंपा गया। इस प्रकार से मनुष्यों में, उसमें भी विशेषकर कायस्थ जाति की चतुराई प्रकट हो ही गयी।

प्रायः देखा गया है कि ऐसे लौकिक-व्यवहार में निपुण लोगों की परमार्थ की ओर कम ही प्रवृत्ति होती है। लेकिन श्रीत्रिपुरदासजी तो कायस्थ होकर भी परम परमार्थ प्रवीण हुये, यह विशेष बात है। अतः श्रीप्रियादासजी कहते हैं-''कायथ त्रिपुरदास।'' ब्रजमण्डलान्तर्गत आप शेरगढ़ के निवासी थे, आपके पिता राज्यमंत्री थे। आप एक बार अपने पिता के साथ आगरा से आ रहे थे। मार्ग में श्रीगोवर्धन में ठाकुर श्रीश्रीनाथजी का दर्शन कर आपका मन ऐसा लुभाया कि आपने पिताजी के साथ घर चलने से मना कर दिया। आपके पिताजी ने आपको श्रीगोवर्धनजी में श्रीश्रीनाथजी की सन्निधि में ही छोड़कर स्वयं घर के लिये गमन किया। दैवयोग से मार्ग में दुष्टों

ने आपके पिताजी को मार डाला। जब यह समाचार आपको प्राप्त हुआ तो आपने इसे भगवान का ही मंगल-विधान मानकर बड़े प्रसन्न हुये। अब तो ये एकदम से निश्चिन्त होकर यहीं रहने लगे। आप अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान का दिव्य दर्शन कर आत्मविभोर हो जाते। इनकी प्रेममयी दशा देखकर श्रीबल्लभाचार्यजी ने इनका परिचय पूछा तो ये श्रीआचार्य चरणों में साष्टांग दण्डवत-प्रणिपातपूर्वक बोले-''प्रभो! मैं मातृ-पितृहीन, सर्वथा अनाथ बालक हूँ, कृपा करके आप मुझे अपने श्रीचरणों में आश्रय दें, मुझ दीन-हीन को सभी प्रकार से अपनाकर सनाथ करें।'' अधिकारी समझकर श्रीआचार्य प्रभु ने आपको विधिपूर्वक दीक्षा देकर ब्रह्म-सम्बन्ध कराया। कुछ दिन तक श्रीमहाप्रभुजी की सेवा में रहकर फिर आप श्रीआचार्य-चरणों की आज्ञा मानकर पुनः घर को वापिस आ गये और यहीं पर ही भक्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए रहने लगे। इनकी योग्यता पर रीझकर यवनराज ने आपको अपना मंत्री बना लिया।

नरपति नैं बिहाल कियौ—इसका कारण यह था कि आप अन्यायी यवनराज की हाँ में हाँ नहीं मिलाते थे। आप नीति, धर्मानुसार ही राज्य कार्य करते थे, इस कारण आपसे खीझ कर यवनराज ने आपका सर्वस्व अपहरण कर लिया और आपको कैद करके कारागार में बन्द कर दिया। रात्रि में भगवान् ने यवनराज को स्वप्न में दण्ड देकर आदेश दिया कि त्रिपुरदास को शीघ्र कारागार से मुक्त कर दो, अन्यथा तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा। तब डर के मारे उसने आपको तत्काल ही मुक्त कर दिया। ''भयौ ईश ख्याल०''-स्थूल दृष्टि से तो राजा के द्वारा श्रीत्रिपुरदासजी का सर्वस्व ही हरण कर लिया गया, आपके घर में खाने तक का ठिकाना नहीं रहा। परन्तु श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि -''भयौ ईश ख्याल'' अर्थात् ईश्वर ने ही ऐसी लीला की। यहाँ प्रश्न होगा कि भगवान् तो भक्तवत्सल हैं फिर अपने भक्त के साथ ऐसी लीला क्यों की? तो इसका बड़ा मार्मिक समाधान स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने किया है। यथा-''यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः। ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना: दु:खदु:खितम्। स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया। मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्।।'' (श्रीमद्भा०१०-८८-८९) अर्थ-स्वयं भगवान के वचन हैं कि जिस पर मैं कृपा करता हूँ उसका समस्त धन धीरे-धीरे हरण कर लेता हूँ। जब वह निर्धन हो जाता है तब उसके सगे-सम्बन्धी उस दु:खाकुल चित्त की परवाह नहीं करते हैं, प्रत्युत उसे छोड़ देते हैं। फिर वह धन के लिये उद्योग करने लगता है, तब मैं उसका वह प्रयत्न भी निष्फल कर देता हूँ। इस प्रकार बार-बार असफल होने के कारण जब धन उपार्जन से उसका मन विरक्त हो जाता है, उसे

दु:खरूप समझकर वह उधर से अपना मुख मोड़ लेता है और मेरे प्रेमी-भक्तों का आश्रय लेकर उनसे घनिष्ठता तथा अपनापन रखता है, तब मैं उस पर अहैतुक अनुग्रह की वर्षा करता हूँ।'' पुन:-दूसरा भाव यह भी है कि भगवान् ने विचार किया कि श्रीत्रिपुरदासजी की भक्ति की तो संसार में बहुत बड़ाई होती है। सभी लोग इनकी मेरे प्रति जो प्रीति है, उसे जानते हैं, परन्तु मैं इन पर कैसा स्नेह करता हूँ। इस बात को कोई भी नहीं जानता है, अत: मेरी बड़ाई कोई नहीं करता है, सभी लोग त्रिपुरदासभक्तजी की ही प्रशंसा करते हैं, अत: श्रीत्रिपुरदासजी के प्रति अपने स्नेह को प्रकट करने के लिये ही ऐसी लीला की। आगे की कथा में इनके प्रति प्रभु का प्रेम दिखलाया गया है।

बेंचिकै बजार यों रुपैया एक पायौ ताकौ ल्यायौ मोटौ थान मात्र रंग लाल गाइयै।
भीज्यो अनुराग पुनि नैंन जल धार भीज्यो, भीज्यो दीनताई धरि राख्यौ और आइयै।।
कोऊ प्रभुजन आय सहज दिखाई दई भई मन दियौ लै 'भण्डारी पकराइयै'।
काहू दास दासी के न काम कौ पै जाउँ लैकै विनती हमारी जू गुसाँई न सुनाइयै।।३४१।।

शब्दार्थ—मात्र=केवल, सिर्फ, एकमात्र।

भावार्थ—श्रीत्रिपुरदासजी ने उस दावात को बाजार में बेच दिया, उससे आपको एक रुपया मिला, उस रुपया से आपने केवल मोटे कपड़े का एक थान खरीदा। फिर उस कपड़े को लाल रंग में रँगा, कहने को वह वस्त्र केवल लाल रंग में रंगा था, परन्तु वस्तुतस्तु वह प्रथम तो आपके अनुराग रंग में भीगा, फिर् आपके नेत्रों के प्रेमाश्रु धार में भीगा, फिर वह कपड़ा आपकी दीनता में सराबोर हुआ, इस प्रकार वह निपट अनमोल हो गया था। परन्तु फिर भी आपका साहस नहीं हुआ कि ऐसे साधारण वस्त्र को लेकर हम कैसे श्रीगोसाँईजी के पास जायें, अत: उसे घर में ही रख लिया। आपने विचार किया कि श्रीगिरिराजजी की ओर से कोई आवेगा तो उसके द्वारा भेजवा दूँगा। इसी बीच श्रीगोसाँईजी का कोई सेवक आपके ग्राम में आया हुआ था, वह सहज ही आपको मिल गया तो आपने मन में विचार किया कि वह वस्त्र इन्हीं के हाथ से ही क्यों न भेजवा दूँ। फिर तो आपने वह वस्त्र उस सेवक को ही देकर कहा कि-''आप इस वस्त्र को भण्डारीजी को दे देना, यद्यपि यह वस्त्र श्रीगोसाँईजी के किसी दास-दासी के भी पहनने योग्य नहीं है तो भी मुझ दीन-हीन की यह तुच्छ भेंट आप लेते जाइये, परन्तु एक बात का ध्यान रखियेगा, मेरी आपसे यह प्रार्थना है कि इस वस्त्र के विषय में श्रीगोसाँईजी को नहीं सुनाइयेगा।।३४१।।

व्याख्या—बेंचिकै बजार—श्रीत्रिपुरदासजी ने अपने एक सोनार मित्र के यहाँ उस दावात को बेचा। ''मात्र रंग लाल''-इसके दो अर्थ होंगे-एक तो भावार्थ में दिया गया

है। दूसरा अर्थ-लाल अर्थात् श्रीनन्दलाल श्रीठाकुरजी के प्रेम रंग में रंगा था। वस्त्र रंगते समय आपके हृदय में अपार प्रेमसागर उमड़ रहा था। अत: वस्त्र अनुराग के रंग में भीगा, फिर यह विचार किया कि, कहाँ तो मैं प्रतिवर्ष उत्तम से उत्तम वस्त्र श्रीठाकुरजी की सेवा में भेजता था, कहाँ अब हमारी ऐसी दीन दशा हो गई है कि आज मैं मोटा थान भेजने को विवश हूँ, आपके नेत्रों में झर-झर अश्रुपात हो रहा था, अत: वह वस्त्र आपकी अश्रुधार से भीगा, फिर भक्ति का भूषण जो भक्त का सहज दैन्य होता है-यथा-''नहिं विद्या नहिं बाहुबल नहिं खरचन को दाम। मोसे पतित अपंग की तुम पति राखो राम।।'' श्रीत्रिपुरदासजी भी दैन्यभाव से परिपूर्ण थे। इनके मन में अपनी पूर्वकृत सेवाओं का लेशमात्र भी अहंकार नहीं था, हमेशा यही अनुसन्धान करते थे कि मुझ दीन-हीन से श्रीप्रभुजी की कुछ भी सेवा नहीं बनी, वह वस्त्र आपके इस दैन्य से भी भीगकर अमूल्य एवं भगवान् को अति प्रिय हो गया, क्योंकि भगवान् को ये तीन वस्तुयें ही अति प्रिय हैं। यथा-''अनुराग''-रामहिं केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जो जाननि हारा।।'' (रामा०), ''आँसू''-भक्तों के जो प्रेम के आँसू वाको जग में मोल न तोल।।'' (रसिया)। ''दैन्य''-देखिये श्रीविट्ठलनाथजी की वाणी। पुन:-''जेहि दीन पिआरे वेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना।। (रामा०), एहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई।। (वि०), दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति। (वि०), ''कोऊ प्रभुजन-''श्रीविट्ठलनाथजी का एक सेवक राजा को प्रसाद देने गया था, वैसे जब कभी वह शेरगढ़ जाता तो श्रीत्रिपुरदासजी से अवश्य ही मिलकर आता था, परन्तु अबकी-बार उसने आपकी दीन-दशा विचारकर आपके निकट नहीं जाने का निश्चय किया, क्योंकि प्रत्येक बार जाने पर ये अश्वयमेव श्रीगोसाँईजी के लिये एवं श्रीठाकुरजी के लिये कुछ न कुछ भेंट देते ही थे, परन्तु अब आपके पास कुछ देने को रहा नहीं, अत: जाने पर संकोच होगा। लेकिन श्रीभगवद् प्रेरणा से फिर उस सेवक के मन में यह विचार आया कि यदि ऐसे समय में हम नहीं जायेंगे तो यह बात सदा के लिये कहने को हो जायेगी कि जब हमारे पास भेंट देने को धन था तब तो श्रीगोसाँईजी के सेवक हमको दर्शन एवं भगवद्-प्रसाद देने आते थे, परन्तु अब हमारे पास कुछ भी नहीं रहा तो उन्होंने भी हमें त्याग दिया, अत: श्रीत्रिपुरदासजी से अवश्य ही मिलना चाहिये। फिर तो वह सेवक श्रीत्रिपुरदासजी के भी घर गया। ''न सुनाइयै''-इसके दो कारण हैं-(१) ''जेहिं रहीम तन मन दियो कियो हिये बिच भौन। तासौं दु:ख सुख कहन की रही बात अब कौन।। दु:ख मोर नहीं उनते कहियो सुनिके वह भी दु:ख पावहिंगे। हम भोगत हैं अपने कृत को कब लौं प्रभु जू तरसावहिंगे। इक द्योस दया करिकै ढरिहैं पद प्रेमहिं दै अपनावहिंगे। हम गावहिंगे वह आवहिंगे दु:ख द्वन्द्व हमार मिटावहिंगे।। (भ०व०टि०)

दियौ लै भण्डारी कर राखे धरि पट वापै निपट सनेही नाथ बोले अकुलायकै।
भये हैं जड़ाये कोऊ वेगि ही उपाय करौ बिबिध उढ़ाये अंग बसन सुहायकै।।
आज्ञा पुनि दई यों अँगीठी बारि दई फेर वही भई सुनि रहे अति ही लजायकै।
सेवक बुलाय कही कौन की कबाय आई? सबै की सुनाई एक वही ली बचायकै।।३४२

शब्दार्थ—कबाय=पोशाक, जड़ावर।

भावार्थ—उस सेवक ने श्रीत्रिपुरदासजी के वस्त्र को लाकर भण्डारी के हाथ में दे दिया और उस भण्डारी ने उस वस्त्र को बिछाकर उसके ऊपर श्रीठाकुरजी के शृंगार के और बढ़िया वस्त्र रख दिये। परन्तु परमस्नेही ठाकुर श्रीश्रीनाथजी से भक्त के इस प्रेमोपहार की उपेक्षा सहन नहीं हुयी। तब वे व्याकुल होकर बोले-''मुझे बड़े जोर की ठण्ड लग रही है, शीघ्र इसको दूर करने का कोई उपाय करो। तब श्रीगोसाँईजी ने बहुत से सुन्दर-सुन्दर वस्त्र श्रीअंग पर धारण कराये, परन्तु ठण्ड नहीं गयी। तब फिर आज्ञा दिये कि कोई और उपाय कीजिये। तब श्रीगोसाँईजी ने अंगीठी जलायी, फिर भी ठण्ड दूर नहीं हुयी, तो ठाकुरजी ने पुनः वही बात कही। तब यह सुनकर श्रीगोसाँईजी बड़े लज्जित हुए कि अब कौन सा उपाय करें? फिर आपके ध्यान में आया कि किसी भक्त पर अनुग्रह करने के लिये प्रभु यह लीला कर रहे हैं, अतः तत्काल ही सेवक को बुलाकर पूछे कि इस वर्ष किस-किसकी पोशाकें आयीं हैं। बही (खाता) खोलकर सेवक ने सभी भक्तों का नाम सुनाया, परन्तु एक श्रीत्रिपुरदासजी का नाम नहीं सुनाया।।३४२।।

व्याख्या—निपट सनेही नाथ—जीव के सच्चे स्नेही, सहज स्नेही, निपट स्नेही तो एकमात्र भगवान् ही हैं। यथा-''एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु। प्रेम कनौड़ो राम सौं नहिं दूसरो दयालु।। तन साथी सब स्वारथी, सुर व्यवहार सुजान। आरत अधम अनाथ हित को रघुवीर समान।।' (वि०) पुनः-''सहज सनेही राम सौं तैं कियो न सहज सनेह। तातें भव भाजन भयो सुन अजहुँ सिखावन एह।। वेद कह्यौ बुध कहत हैं अरु हौंहुँ कहत हौं टेरि। तुलसी प्रभु साँचो हितू तू हिये की आँखिन हेरि।।'' (वि०)

दृष्टान्त—श्रीरहीमजी का—श्रीरहीमजी ने सुना कि ठाकुर श्रीश्रीनाथजी ? बड़े ही सुन्दर हैं एवं बड़े रिझावर हैं। फिर तो वह सब कुछ त्यागकर फकीरी वेष धारणकर श्रीश्रीनाथजी का दर्शन करने यतीपुरा (श्रीगोवर्धन) आये। परन्तु जब दर्शनार्थ मन्दिर के जगमोहन में प्रवेश करने लगे तो द्वारपाल ने इन्हें रोक दिया। उन्होंने मन ही मन बहुत झुंझलाकर कहा-''ऐसी साहिबी और ऐसी बेवकूफी।'' इसका आशय यह था कि यदि दर्शन की ऐसी चाह दी तो फिर म्लेच्छ शरीर

नहीं देना था और यदि म्लेच्छ शरीर दिया तो दर्शन की ऐसी चाह नहीं देना था। इतनी दूर से तो मैं इनकी प्रशंसा सुनकर राजसुख त्यागकर फकीर बनकर दर्शन करने यहाँ आया और ये मुझे पास फटकने भी नहीं देते हैं। उस समय रहीमजी ने यह दोहा कहा-''हरि रहीम ऐसी करी ज्यौं कमानसर पूर। खैंचि आपनी ओर को छाँड़ि दियौ अति दूर।।'' श्रीरहीमजी यह कहकर मन्दिर के द्वार पर (श्रीगोविन्द कुण्ड की छत्री पर) जाकर बैठ गये। गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी ने सुना कि एक अलमस्त फकीर आये हैं तो आपने सेवक के द्वारा इनके लिए प्रसाद भेजा, लेकिन इन्होंने लेने से मना कर दिया, तब स्वयं ही ठाकुर श्रीश्रीनाथजी प्रसाद लेकर आये। उस समय इन्होंने यह दोहा कहा-''खैंचि चढ़नि ढीली ढरनि कहौ कौन यह रीति। आज काल्हि मोहन गही वंश दिया की रीति।।'' इतना कहकर श्रीरहीमजी ने श्रीठाकुरजी से मान करके पीठ फेर लिया। तब श्रीठाकुरजी वहीं प्रसाद का थाल रखकर अन्तर्धान हो गये। श्रीठाकुरजी के अन्तर्धान होते ही इनको विरह व्याप गया, तब आपने यह पद गाया-

छबि आवन मोहनलाल की।
काछें काछनि कलित मुरलि कर पीत पिछौरी साल की।।
बंक तिलक केशर को कीने दुति मानो बिधु बाल की।
बिसरत नाहिं सखी मो मन ते चितवनि नयन विशाल की।।
नीकी हँसनि अधर सधरनि की छबि छीनी सुमन गुलाल की।
जल सौं डारि दियौं पुरइनि पर डोलनि मुकता माल की।।
आप मोल बिन मोलनि डोलनि बोलनि मदनगुपाल की।
यह सरूप निरखै सोइ जानै इस रहीम के हाल की।।१।।

कमल दल नैंननि की उनमानि।
बिसरत नाहिं सखी मो मन ते मन्द मन्द मुसकानि।।
यह दसननि दुति चपलाहू ते महाचपल चमकानि।
वसुधा की बस करी मधुरता सुधा पगी बतरानि।।
चढ़ी रहै चित उर विशाल की मुकुतमाल थहरानि।
नृत्य समय पीताम्बर हू की फहरि फहरि फहरानि।।
अनुदिन श्रीवृन्दावन ब्रज तें आवन आवन जानि।
वे रहीम चित ते न टरति हैं सकल स्याम की बानि।।२।।

पुनः- मोहन छवि नैंननि बसी पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि आप पथिक फिरि जाय।।
अन्तर दाव लगी रहै धुवाँ न प्रगटै कोय।
कै जिय जानै आपनौ कै जा सिर बीती होय।।

श्रीचतुर कवि ने भी इसी आशय का एक बड़ा बढ़िया कवित्त लिखा है। यथा-
"जब लौं न कोऊ पीर लागति है अपने उर तब लौं पराई पीर कैसे पहिचानिहौ। आजु लौं न जानत हौ लग्यौ नेह काहू सौं है जब नेह लगिहैं तो हित उन मानिहौ।। कहत चतुर कवि मेरे कहिवे की तो पै एकौ न रहैगी तू समुझि जिय आनिहौ। जैसे नीके मोहिं तुम लागत हौ प्यारे लाल तैसो नीको तुम्हैं कोऊ लागिहै तौ जानिहौ।।" श्रीरहीमजी के भाव भरे पदों को सुनकर ठाकुर श्रीश्रीनाथजी ने साक्षात् प्रकट होकर दर्शन दिया।

सुनी न त्रिपुरदास!, बोल्यौ धन नास भयौ मोटो एक थान आयौ राख्यौ है बिछायकै।
ल्यावौ वेगि याही छिन मन की प्रवीन जानि ल्यायो दुख मानि व्यौंति लई सो सिंवायकै।।
अँग पहिराई सुखदाई कापै गाई जात कही तब बात जाड़ो गयौ भरि भायकै।
नेह सरसाई लै दिखाई उर आई सबै ऐसी रसिकाई हृदै राखी है बसायकै।।३४३।।

शब्दार्थ—व्यौंति=पहनावा बनाने के लिए, कपड़े को नापकर काट-छाँट करके।

भावार्थ—गोसाँईं श्रीविट्ठलनाथजी ने कहा कि मैंने भक्त श्रीत्रिपुरदासजी का नाम तो सुना नहीं, क्या इस वर्ष इनके यहाँ से पोशाक नहीं आयी हैं? सेवक ने कहा कि-उनका समस्त धन नष्ट हो गया है, अत: उनके यहाँ से मोटे कपड़े का एक थान ही आया है, मैंने उसे और पोशाकों के नीचे बिछा दिया है। प्रेम में परम प्रवीण (चतुर) श्रीगोसाँईंजी ने श्रीठाकुरजी के मन की बात जानकर, कि प्रेम-प्रवीण प्रभु तो भक्तों के हृदय के भाव को देखकर भक्तों के प्रेमोपहार को सहर्ष स्वीकार करते हैं, आपने आज्ञा दी कि उस कपड़े को शीघ्र लाओ। सेवक अनमना-सा होकर उस कपड़े को ले आया। (जो कि बिछाने से कुछ मैला हो गया था।) तुरन्त ही श्रीठाकुरजी के दर्जी को बुलाकर उस कपड़े का नाप लेकर तथा उसको कटवाकर अँगरखा सिलवाया गया। श्रीगोसाँईंजी ने तुरन्त उस अँगरखे को श्रीठाकुरजी के अंग में धारण कराया, उससे श्रीठाकुरजी को जो सुख हुआ उसे कौन वर्णन कर सकता है? तब श्रीठाकुरजी ने बड़े भाव में भरकर कहा कि अब हमारा जाड़ा दूर हो गया। इस प्रसंग में श्रीप्रभु ने प्रेम की सरसता को प्रत्यक्ष करके दिखाया है। भगवान् की यह लीला देखकर सबके हृदय में यह दृढ़ विश्वास हो गया कि-अहो! ठाकुर श्रीश्रीनाथजी ने अपने हृदय में भक्तों के प्रति ऐसा अगाध-प्रेम बसा रखा है।।३४३।।

व्याख्या—नेह सरसाई लै दिखाई—ठाकुर श्रीश्रीनाथजी ने प्रथम श्रीत्रिपुरदासजी का सर्वस्व नाश करके फिर उनके मोटे कपड़े का अँगरखा प्रेमपूर्वक धारण करके भक्त के प्रति अपने प्रेम को प्रत्यक्ष करके दिखाया। इस पर-

दृष्टान्त—एक स्त्री का—एक स्त्री ने जैसे-तैसे कुछ रुपये इकट्ठे किये उससे उसने अपने हाथ में पहनने के लिये स्वर्ण का चूड़ा बनवाया। चूड़ा पहनकर वह सबके घर घूमी, परन्तु किसी ने उसके चूड़े की बड़ाई नहीं की। तब उसने बरवश अपने चूड़े की बड़ाई के लिए एक युक्ति विचारी और उसने अपने ही घर में आग लगा ली और अपने हाथ को उठा-उठाकर सभी को चूड़ा दिखाते हुये, आग बुझाने के लिये हो-हल्ला करने लगी। किसी की दृष्टि उसके चूड़े पर पड़ी तो उसने चूड़े की बड़ी बड़ाई की। तब उस स्त्री ने झुँझलाकर कहा कि-यदि तुम पहले ही इस चूड़े की बड़ाई कर देते तो मुझे अपने घर में क्यों आग लगानी पड़ती? ठीक इसी प्रकार ही श्रीश्रीनाथजी ने भी किया, अपने प्रेम की प्रशंसा करवाने के लिए श्रीत्रिपुरदासजी के साथ ऐसी ही लीला की।

ऐसी रसिकाई....बसायकै—यथा-"ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।" (वि०) सम्पूर्ण पद के लिये देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-७१। श्रीठाकुरजी ने मेरे भेजे हुए वस्त्र की पोशाक धारण की, यह प्रसंग सुनकर श्रीत्रिपुरदासजी ने भाव-विभोर होकर यह पद गाया था-"नवरंग ललन बिहारी मेरो कहे जाड़ो मोहि अधिक सुहाय। पहिरि कबाय ओढ़ि लइ फरगुल तौहू सीत सतावत आय।। अचरज भये सुनि वल्लभनन्दन कनक अँगीठी धरी मँगाय। पुनि जिय सोचि मँगाय ओढ़ाई भजि गई सीत हँसे यदुराय।। ऐसे परम कृपालु दयानिधि बिसरत नहिं सुधि करत सहाय। त्रिपुरदास गिरिधर की बातैं का जानै कोउ देउ बताय।।"

श्रीत्रिपुरदास जी की श्रीआचार्य महाप्रभु तथा ठाकुर श्रीश्रीनाथजी के चरणामृत- प्रसाद में बड़ी निष्ठा थी। आपके यहाँ हमेशा ही चरणामृत-प्रसाद रखा रहता था, आप बिना चरणामृत-प्रसाद लिए अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं करते थे। एक दिन संयोग की बात कि जब आप भोजन करने गये तो रसोईया ने बताया कि आज चरणामृत-प्रसाद समाप्त हो गया है, तब आपने कहा कि पहले क्यों नहीं बताया? आप पहले बताते तो हम व्यवस्था कर लेते, अब तो मैं दरबार में जा रहा हूँ। अब तुम लोग श्रीठाकुरजी को भोग लगाकर प्रसाद पा लेना, मेरी प्रतीक्षा नहीं करना, अब मेरा आना सम्भव नहीं है। फिर इन्होंने मन में निश्चय किया कि जब तक शरीर चलेगा तब तक कार्य करूँगा, जब शिथिल हो जायेगा तो कहीं पड़ा रहूँगा, परन्तु बिना चरणामृत-प्रसाद लिये तो कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा। आप दरबार में चले गये, उधर रसोईया रसोई के कार्य में लग गया। इतने

में एक दस वर्ष का बालक तीन थैलियाँ लेकर आया और रसोईया को देते हुए बोला कि एक थैली में तो श्रीठाकुरजी का चरणामृत है और एक थैली में श्रीआचार्य महाप्रभुजी का चरणामृत है और एक थैली में श्रीश्रीनाथजी का महा-प्रसाद है। यह तीनों थैलियाँ श्रीत्रिपुरदासजी ने भेजी हैं। यह कहकर वह बालक चला गया। जब रसोई तैयार हो गयी, श्रीठाकुरजी को भोग लग गया, तब रसोईया ने श्रीत्रिपुरदासजी को बुलाने के लिये एक व्यक्ति भेजा, परन्तु आप नहीं आये, जब दो-तीन बार आपको बुलावा गया तो श्रीत्रिपुरदासजी आये और बोले-मैंने तो प्रथम में ही कहा था कि बिना चरणामृत-प्रसाद लिये मैं कुछ भी ग्रहण नहीं करूँगा, फिर आपने मुझे क्यों बार-बार बुलाया!" रसोईया ने कहा-"एक बालक के द्वारा आपने ही तो चरणामृत तथा प्रसाद की तीन थैलियाँ भेजी हैं फिर आप ऐसी बात क्यों कह रहे हैं?" आपने कहा-"वह बालक कहाँ गया? मुझे उसको दिखाओ।" रसोईया ने कहा-"वह तो थैली देकर तत्काल ही चला गया।" तब ये जान गये कि वह बालक कोई और नहीं स्वयं श्रीठाकुरजी ही थे। तब इन्होंने अपने को बहुत धिक्कारा कि मेरे कारण ही श्रीठाकुरजी को इतना कष्ट करना पड़ा। फिर आपने शीघ्र स्नान करके चरणामृत-प्रसाद लेकर भोजन किया। (विशेष बात यह है कि सम्पूर्ण श्रीभक्तमाल में श्रीत्रिपुरदासजी ही एक ऐसे भक्त हैं जिनका मूल-छप्पय में नाम नहीं आया है परन्तु आपके प्रेम पर रीझकर श्रीप्रियादासजी ने आपके चरित्र का गान किया है।)

श्रीविट्ठलनाथजी के सुत

(श्री) विट्ठलेशसुत सुहृद श्रीगोवरधनधर ध्याइयै।।
श्रीगिरिधर जू सरस शील गोविन्द जु साथहिं।
बालकृष्ण जस बीर धीर श्रीगोकुल नाथहिं।।
श्रीरघुनाथ जु महाराज श्रीजदुनाथहिं भजि।
श्रीघनश्याम जु पगे प्रभू अनुरागी सुधि सजि।।
ए सात प्रगट विभु भजन जग तारन तस जस गाइयै।
(श्री) विट्ठलेशसुत सुहृद श्रीगोवरधनधर ध्याइयै।।८०।।

शब्दार्थ—सरस शील=रसीला, मधुर स्वभाव। जसवीर=महा यशस्वी। सुधि=स्मृति, याद। सजि=सजाने वाले, सजाकर। प्रगट विभु=भगवान् के प्रत्यक्ष विभूतिस्वरूप। तस=तैसे ही अवतारों के समान।

भावार्थ—गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी के पुत्रों को सर्वभूत सुहृद, साक्षात् श्रीगोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्ण ही समझकर उनका ध्यान करना चाहिये। उनके नाम इस प्रकार से हैं-(१)-श्रीगिरिधरजी बड़े रसिक एवं अत्यन्त सुन्दर शील स्वभाव वाले थे। (२) श्रीगोविन्दजी का स्वभाव भी वैसा ही था। (३) श्रीबालकृष्ण जी महायशस्वी हुये। (४) श्रीगोकुलनाथजी बड़े धीर महापुरुष हुये। (५) श्रीरघुनाथजी महाराज एवं (६) श्रीयदुनाथजी महाराज अपने समगुणों से भजने योग्य हुये, इनका भजन करना चाहिये। (७) श्रीघनश्यामजी सदा-सर्वदा प्रभु प्रेम में पगे रहते थे तथा बड़े अनुरागी थे, हृदय में सर्वदा प्रभु की स्मृति सँजोये रहते थे। आप तो प्रत्यक्ष ही श्रीभगवद्-विभूति थे, श्रीभगवद्-भजन में परम प्रवीण एवं समर्थ थे तथा श्रीकृष्ण की ही भाँति आप भी संसार का उद्धार करने वाले थे। इनका यशोगान करना चाहिये।।८०।।

व्याख्या—श्रीविट्ठलेशसुत...ध्याइयै—गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी के वात्सल्य-प्रेम पर रीझकर श्रीठाकुरजी ने प्रकट होकर वर माँगने को कहा। तब आपने यह वर माँगा कि जिस प्रकार से द्वापर युग में श्रीनन्दरायजी को जैसा बाल-लीला का सुख दिया एवं उनका आपमें जैसा वात्सल्य-स्नेह था, वैसा ही सुख एवं वैसा ही स्नेह, आप कृपा करके हमको भी प्रदान करें। तब श्रीठाकुरजी ने कहा कि पिता चाहे कितना ही प्यार करे, बिना माता के बाललीला-विलास का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है, अतः आप प्रथम में विवाह करके मातृपद के रिक्त स्थान को पूर्ण करें, फिर मनमाना वात्सल्य रस का सुख लूटें। देखिये, आपके परम प्रभावशाली सात सुपुत्र होंगे, सभी सुपुत्रों में पाँच-पाँच वर्ष तक मेरा आवेश रहेगा। इस प्रकार आप सुदीर्घ काल तक इस अनुपम वात्सल्य रस-सिन्धु में डूबे रहेंगे। (विशेष देखिये श्रीविट्ठलनाथजी का चरित्र) छप्पय में आये हुये "सरस शील, जसवीर, धीर, पगे, प्रभु, अनुरागी, सुधि, सजि, प्रगट, विभु आदि सभी विशेषण सभी पुत्रों के साथ समझना चाहिये।" लीला संवरणकाल में श्रीविट्ठलनाथजी ने सभी सुपुत्रों को एक-एक श्रीठाकुरजी की सेवा हेतु श्रीविग्रह प्रदान किया। उनका विवरण इस प्रकार से है-(१) श्रीगिरिधरजी को, ठाकुर श्रीमथुरेशजी, जो वर्तमान में यतीपुरा (गोवर्धन) में विराजते हैं। (२) श्रीगोविन्दरायजी को, श्रीश्रीनाथजी, जो वर्तमान में श्रीनाथद्वारा (राजस्थान) में विराजते हैं। (३) श्रीबालकृष्णजी को, श्रीद्वारिकाधीश भगवान्, जो वर्तमान में काँकरौली में विराजते हैं। (४) श्रीगोकुलनाथजी को, जो वर्तमान में श्रीगोकुल में विराजते हैं। (५) श्रीरघुनाथजी के सेव्य ठाकुर श्रीगोकुलचन्द्रमाजी, जो वर्तमान में कामवन में विराजते हैं। (६) श्रीयदुनाथजी को, ठाकुर श्रीबालकृष्ण भगवान् जो

वर्तमान में सूरत में विराजते हैं। (७) श्रीघनश्यामजी को, ठाकुर श्रीमदनमोहनजी, जो वर्तमान में कामवन में विराजते हैं। इन-इन श्रीविग्रहों को, सातों सुपुत्रों के लिये सेवा हेतु प्रदान किया। इन सातों पुत्रों ने सात गद्दियों की स्थापना की। इनके द्वारा वैष्णवता का खूब प्रचार-प्रसार हुआ। इन सभी पुत्रों में मँझले पुत्र श्रीगोकुलनाथजी द्वारा विशेष रूप से सम्प्रदाय का एवं वैष्णवता का हित हुआ। पूज्यपाद श्रीनाभाजी ने तथा श्रीप्रियादासजी ने आपका चरित्र छप्पय-१३२, कवित्त-५१९, ५२०, ५२१ में स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया है।

श्रीकृष्णदासजी

गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माँझ साझौ दियौ।।
श्रीबल्लभ गुरुदत्त भजन सागर गुन आगर।
कबित नोख निर्दोष नाथ सेवा में नागर।।
बानी बन्दित बिदुष सुजस गोपाल अलंकृत।
ब्रजरज अति आराध्य वहै धारी सर्बसु चित।।
सांनिध्य सदा हरिदासवर्य गौरश्याम दृढ़ ब्रत लियौ।
गिरिधरन रीझि कृष्णदास कौं नाम माँझ साझौ दियौ।।८१।।

शब्दार्थ—साझौ=हिस्सा। गुरुदत्त=श्रीगुरुजी के द्वारा प्रदान दिया। आगर=खानि। नोख=अनोखा, अनूठा, अद्भुत। निर्दोष=दोषरहित। नागर=चतुर। वंदित=प्रशंसित, मानने योग्य। विदुष=पण्डित। अलंकृत=सुशोभित। आराध्य=उपास्य, सेवा करने योग्य। सर्वसु=सर्वस्व, सब कुछ। सांनिध्य=समीपता, निकटता। वर्य=श्रेष्ठ। गौरश्याम=श्रीराधाकृष्ण।

भावार्थ—श्रीगोवर्धनधारी भगवान् श्रीकृष्णजी ने प्रसन्न होकर श्रीकृष्णदासजी को अपने नाम में हिस्सा दिया। श्रीकृष्णदासजी, श्रीगुरु श्रीवल्लभाचार्यजी के द्वारा दिये गये भजन-भाव के समुद्र थे एवं समस्त सद्गुणों की खानि थे। आपके द्वारा रचित (लिखी) गयी कवितायें बड़ी ही अद्भुत एवं काव्यदोष से रहित होती थीं। आप ठाकुर श्रीश्रीनाथजी की सेवा में बड़े चतुर थे। श्रीगिरिधरगोपालजी के मंगलमय सुयश से विभूषित आपकी वाणी की विद्वज्जन भी प्रशंसा करते थे। आप श्रीब्रज की रज (धूलि) को अपना परम आराध्य मानते थे। चित्त में उसी को सर्वस्व मानकर शरीर में एवं सिर माथे पर धारण करते थे तथा चित्त में चिन्तन भी करते थे। आप सदा-सर्वदा श्रीहरिदासवर्य श्रीगोवर्धनजी के समीप में ही

बने रहते थे एवं सदा बड़े-बड़े श्रेष्ठ सन्तों के सान्निध्य में रहते थे। आपने ठाकुर श्रीराधामाधवजी युगल की सेवा का दृढ़ व्रत ले रखा था।।८१।।

व्याख्या—गिरिधरन...साझौ दियौ—इस प्रसंग का स्पष्टीकरण आगे कवित्त-३४६ में किया गया है। ''श्रीवल्लभ गुरुदत्त०''-आप श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी के शिष्य थे। यह बात आपने स्वयं एक पद में कही है। यथा-''तबते स्याम सरन हौं पायौं। जबतें भेंट भई श्रीवल्लभ निजपति नाम बतायौ।। और अविद्या छौंड़ि मलिन मति श्रुतिपथ आय दृढ़ायौ। कृष्णदास जन चहुँ जुग खोजत अब निहचै मन आयौ।।''''कवित नोख निर्दोष''-यथा-''कमल मुख देखत कौन अघाय। सुन री सखी लोचन अलि मेरे मुदित रहे अरुझाय।। मुक्तामाल लाल उर ऊपर जनु फूली वनराय। गोवर्धनधर अंग अंग पर कृष्णदास बलि जाय।।'' वर्णन आया है कि एकबार इनके पद को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीप्रिया-प्रियतमजी ने भाव-विभोर होकर परम मनोहर नृत्य किया था। वह पद इस प्रकार से है- ''श्रीवृषभानुनन्दिनी नाचत गिरिधर संग लाग डाट उरप तिरप रास रंग राख्यौ। ढप ताल मिल्यौ राग केदारौ सप्त सुरन अब धर तान रंग राख्यौ।। पाई सुख सिद्धि भरत काम विविध रिद्धि अभिनव दलसत सुहाग हुलास रंग राख्यौ। बनिता सत जूथ संग लिये निरखत ज्यौं सद्यचन्द बलिहारी कृष्णदास सुघर रंग ताख्यौ।।'' आपकी कविता के अनोखेपन एवं निर्दोषिता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है? ''नाथ सेवा में नागर''-आपकी सेवा-सावधानी से सन्तुष्ट होकर श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी ने आपको ''अधिकारी'' की पदवीं (उपाधि) दी थी। कहते हैं कि वर्तमान में भी श्रीश्रीनाथजी के सेवा-सम्बन्धी कागजातों पर अधिकारी श्रीकृष्णदासजी की मुहर लगायी जाती है। ''बानी बन्दित विदुष''-विद्वानों के द्वारा वंदित अभिनन्दित वाणी ही श्रेष्ठ मानी गयी है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-''जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम वादि बाल कवि करहीं।।'' (रामा०), ''सुजस गोपाल अलंकृत''-विद्वान्जन उसी वाणी का आदर करते हैं जो भगवान् के सुयश से विभूषित हो। यथा-''सब गुन रहित कुकवि कृत वानी। राम नाम जश अंकित जानी।। सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही।।'' (रामा०), विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-७, ''निपट सुहाई'' की व्याख्या।

ब्रजरज—रसिकजन व्रज की एक-एक रज कणिका पर कोटि-कोटि चिन्तामणि न्यौछावर करते हैं। श्रीब्रह्मादिक देवता एवं श्रीउद्धव आदि सन्त भी इस रज की चाहना करते हैं। यथा-''ब्रह्मादिक चाहत जिसे उद्धव जीवन मूर। कोटि कोटि चिन्तामणि तूलै न ब्रज की धूर।।'' (सन्तवाणी), व्रज की रज स्वत: प्रेमस्वरूपा है-उस पर भी अनन्त-अनन्त

प्रेमियों के प्रेमाश्रुओं से अभिषिक्त है, गोपियों तथा परम आह्लादिनी, परम प्रेममयी श्रीराधिकाजी के चरण-चिन्हों से समलंकृत है। इसकी महामहिमा कहाँ तक वर्णन की जा सकती है जबकि स्वत: अनन्त महिमामय रसस्वरूप श्रीव्रजेन्द्रनन्दन, श्रीश्यामसुन्दर, मदनमोहन, आनन्दकन्द, श्रीकृष्णचन्द्र ने मेवा-मिश्री छोड़कर इसे खाया है। श्रीमद्भागवतजी में "मृदभक्षण" (माटी खान लीला) अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। व्रजरज की सराहना में कवि की यह उक्ति अत्यन्त ही अनूठी है। यथा-"तजि माखन खाते रहे तुमको मृदु मोहन के अनुकूल है तू। तुझे पाकर मुक्ति की मुक्ति हुयी शुभकर्म लता फल फूल है तू।। भव व्याधि से पीड़ित प्राणियों को "हरेकृष्ण" सजीवन मूल है तू। प्रभु के पद-पंकज से लिपटी बड़ी भाग्यवती ब्रज धूल है तू।।" एक सन्त कहते थे कि भगवान् के समस्त धामों की महिमा एक-सी ही है, कोई न्यूनाधिक नहीं है, परन्तु श्रीव्रज-रज की महिमा अन्य धामों की रज की महिमा से विशेष है। विशेषता यह है कि अन्य धामों में भगवान अपने श्रीचरणकमलों से चले फिरे हैं, खेले-कूदे हैं, विचरे-विहरे हैं, जिससे वहाँ की भूमि निश्चय ही धन्यातिधन्य हो गयी है परन्तु श्रीव्रजधाम में चलने-फिरने, खेलने-कूदने, विचरने-विहरने की तो बात ही क्या है, यहाँ की एक-एक इंच भूमि को भगवान् श्रीकृष्ण ने जिह्वा से चाट-चाटकर इसे परम-पुनीत बना दिया है।

वर्णन आया है कि जब ब्रह्माण्डघाट पर भगवान् श्रीबालकृष्ण ने मिट्टी खायी तो इन्हें बड़ा ही स्वाद आया परन्तु दैवसंयोग से संग के ग्वाल-बालों ने देख लिया और आकर उन सबों ने श्रीयशोदा मइया से इस बात की शिकायत की और श्रीयशोदा मइया ने भी बालक की ताड़ना (डाँट-डपट) की तो श्रीकृष्ण ने माता के भय से पुन: उस रूप में तो मिट्टी नहीं खायी, परन्तु चस्का लग चुका था, अत: बेरोकटोक मनमाने ढंग से व्रजरज खाने की एक युक्ति विचारी, युक्ति यह थी कि अपनी जगन्मोहिनी माया से श्रीब्रह्माजी को मोहित कर दिया, फलस्वरूप श्रीब्रह्माजी को श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य में सन्देह हो गया और उन्होंने श्रीकृष्ण की मंजु-महिमा का परीक्षण करने के लिये ग्वाल-बालकों एवं वत्सों (गाय के बच्चों) का अपहरण कर लिया। उस समय श्रीकृष्ण ने स्वयं समस्त ग्वाल-बालकों एवं बछड़ों का रूप धारण कर एक वर्ष तक गोपियों एवं गोपों को सुख प्रदान किया (विशेष देखिये छप्पय-५४ में, "बच्छहरण" प्रसंग की व्याख्या) उन्हीं दिनों के बछड़ों के रूप में घास चरने के ब्याज से मनमाना वर्ष दिन तक ब्रज-रज का आस्वादन किया। यह परम सौभाग्य मात्र श्रीव्रजवसुन्धरा को ही प्राप्त है। अत: "व्रजरज" की महिमा विशेष है। व्रज-रज, रसिक सन्तों की सर्वस्व स्वरूपा है।

एक बार श्रीवृन्दावन में एक बड़े ही सुप्रसिद्ध सिद्ध संत का दर्शन करने के लिये कहीं के रईस (धनी-मानी) सज्जन आये। उन्होंने बड़ी श्रद्धापूर्वक संतजी को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया, फिर उठकर अपने वस्त्रों में लगी "श्रीव्रजरज" को झाड़ने लगे। यह देखकर सिद्ध संत उन पर बड़े ही नाराज हुये और मूर्ख, गँवार आदि कटु वचन कहे। संतजी के इस व्यवहार को देखकर वे सज्जन बड़े आश्चर्य चकित हुये कि ये कैसे महात्मा हैं? ये तो गालियाँ देते हैं। मैंने तो इनकी बड़ी प्रसिद्धि सुनी थी, परन्तु यहाँ आने पर तो कुछ और ही देखने को मिला। फिर भी उन सज्जन ने बड़े शान्त भाव से हाथ जोड़कर बड़ी विनम्रता पूर्वक पूछा कि-"महाराज! मैंने कौन-सी गलती की जो आप इतने अप्रसन्न हो गये?" तब संतजी ने उन्हें बड़े प्यार पूर्वक अपने समीप बैठाकर अत्यन्त मधुर वाणी में बोले -"भईया! इस व्रज में तो व्रज-रज ही भक्तों की सर्वस्व है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, देवतागण तक इसके लिये लालायित रहते हैं तथा इसको प्राप्त करने के लिये ब्रज में लता-बेलि होकर जन्म लेना चाहते हैं। वह रज तुम्हें बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुई तो तुम उसे झाड़ने साफ करने में लगे हो, यदि ऐसा ही करना था तो यहाँ आने की जरूरत ही क्या रही? घर पर ही गद्दा, तकिया लगाकर बैठते। यहाँ तो केवल इसी व्रज-रज के लिए ही आते हैं। संतजी की इस "व्रजरज की निष्ठा को देखकर वे सज्जन मुग्ध हो गये। व्रज में भक्तजन ब्रज-रज को "रजरानी" कहते हैं। कितना बड़ा सम्मान है यहाँ श्रीव्रज-रज का।।"

एक बार कहीं की रानी साहिबा पालकी में बैठकर श्रीवृन्दावन आ रही थीं। उनके सेवक सामन्त आगे-आगे मार्ग की व्यवस्था करते चल रहे थे। एक भंगिन सड़क झाड़-बुहार रही थी तो सिपाही उससे कहने लगे कि मार्ग छोड़कर हट जाओ, हमारी रानी साहिबा आ रही हैं। भंगिन ने झुँझलाकर कहा कि-"यह कौन-सी रानी हैं? यहाँ तो चार ही रानी हैं- (१) श्रीराधारानी। (२) श्रीयमुना महारानी। (३) श्रीरजरानी। (4) मेहतरानी। अब ये पाँचवीं महारानी कहाँ से आ गयीं? रानी ने भंगिन का शब्द सुना तो वह बड़ी ही प्रभावित हुई और पालकी से उतरकर पैदल चलने लगीं। श्रीव्रजरज की महामहिमा को हृदयंगम करके श्रीकृष्णदासजी ने उसे अपना परम आराध्य माना था।

सांनिध्य सदा हरिदासवर्य—यहाँ हरिदासवर्य से तात्पर्य श्रीगोवर्धनगिरि से है। यथा-"हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोद:। मानं तनोति सह गोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलै:।।" (श्रीमद्भा० १०-२१-१८) अर्थ-अरी गोपियों! यह गिरराज गोवर्धन तो भगवान् के भक्तों में अति ही श्रेष्ठ हैं, धन्य हैं इनके भाग्य। देखती नहीं हो, हमारे प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और नयनाभिराम श्रीबलरामजी के श्रीचरण-कमलों का

स्पर्श प्राप्त करके यह कितने आनन्दित हैं। इनके भाग्य की कौन सराहना कर सकता है
यह तो उन दोनों का ग्वाल-बालों और गौओं का अति ही सत्कार करते हैं। स्नान तथा पान
लिये झरनों का जल देते हैं, गौओं के लिये सुन्दर-सुन्दर हरी घास प्रस्तुत करते हैं। विश्र
के लिये कन्दरायें और भोजन के लिये कन्द-मूल फल देते हैं। वास्तव में ये धन्य हैं
श्रीकृष्णदासजी आजीवन श्रीगिरिराज गोवर्धन के सन्निधान में रहते हुये यतीपुरा
ठाकुर श्रीश्रीनाथजी की सेवा परायण रहे। "गौरश्याम०"-"गौरश्याम वदनारविन्द
जिसको वीर मचलते देखा। नैन बान मुसक्यान संग फँस फिर नहीं नेक सँभलते देखा
ललित किशोरी युगल इश्क में बहुतों का घर घलते देखा। डूबा प्रेमसिन्धु का क
हमने नहीं उछलते देखा।।"

प्रेम रसरासि कृष्णदास जू प्रकाश कियौ लियौ नाथ मानि सो प्रमान जग गाइ
दिल्ली के बाजार में जलेबी सो निहारि नैंन भोग लै लगाई लगी विद्यमान पाइयै
राग सुनि भक्तिनी को भये अनुराग बस ससिमुख लाल जू को जाइकै सुनाइ
देखि रिझवार रीझि निकट बुलाइ लई, लई संग चले जग लाज को बहाइयै।।३४४

शब्दार्थ—विद्यमान=मौजूद, उपस्थित। भक्तिनी=प्रेमिका।

भावार्थ—श्रीकृष्णदासजी ने अपनी सेवा-साधना तथा सदुपदेश एवं सद्ग्रन्थों
द्वारा अपार प्रभु प्रेम पारावार को प्रत्यक्ष करके दिखा दिया। ठाकुर श्रीश्रीनाथजी ने
आपके प्रेम को स्वीकार लिया था, इस बात का प्रबल प्रमाण यह है कि आज भी स
संसार आपका यशोगान करता है। आपके प्रेम-प्रकाश की एक-दो लीलाओं का स्मरण करते हु
श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि एक बार आप श्रीठाकुरजी के सेवा-क
के लिए दिल्ली गये हुए थे। वहाँ बाजार में कड़ाही से निकलती हुई गरमागरम जलेबियों को देखक
आपने मानसी भाव से ही उन जलेबियों का श्रीश्रीनाथजी को भोग लगाया, भाववश्य भगवान्
उसे स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप जब मन्दिर में भोग उसारा गया तो विविध भोग सामग्रियों
जलेबी का थाल और श्रीठाकुरजी के हाथ में जलेबी प्रत्यक्षरूप में पायी गयीं। ऐसे ही एक ब
आप आगरा गये हुए थे, वहाँ आपने एक वेश्या का अत्यन्त मधुर राग-स्वर से गायन सुनकर प्रे
के वशीभूत हो गये और उससे बोले- क्या तू हमारे चन्द्रमुख श्रीलालजी के यहाँ चलकर गान सु
सकती हैं? वेश्या ने इनको गुणग्राहक तथा प्रेमी समझकर प्रसन्न होकर अपने समीप में बुलाया अ
इनका अभिप्राय समझकर इनके साथ चलने की स्वीकृति दे दी। फिर तो ये भी लोकलाज क
सर्वथा त्याग कर उसे साथ लेकर चल दिये।।३४४।।

व्याख्या–लगी विद्यमान पाइयै–यद्यपि श्रीवल्लभाचार्यजी की सेवा-प्रणाली में बाजार की बनी हुई वस्तु भोग लगाने की विधि नहीं है। परन्तु भाववश्य भगवान् ने श्रीकृष्णदासजी के प्रेम के सामने विधि निषेध की भी परवाह नहीं की। इस प्रसंग से श्रीकृष्णदासजी का प्रेम प्रकाशित होता है। ''देखि रिझवार०''-यह शब्द वेश्या, श्रीकृष्णदासजी, एवं श्रीठाकुरजी-इन तीनों के साथ लगता है। भावार्थ में वेश्या का श्रीकृष्णदासजी को रिझवार देखकर निकट बुलाना लिखा गया है। उसकी संगति इस प्रकार से है कि प्रथम तो वेश्या ने आपको मुग्ध होकर गान सुनते देखा, तदुपरान्त आपने उसे दस रुपया भी तत्काल दे दिया। इससे वह समझ गयी कि यह तो कोई रिझवार मालूम पड़ते हैं। श्रीकृष्णदासजी के साथ इसकी संगति इस प्रकार से लगेगी कि परमसिद्ध श्रीकृष्णदासजी ने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया कि वेश्या तो किसी कर्म विपाक वश वेश्या के घर जन्मी है, नहीं तो यह है वस्तुतस्तु श्रीभगवदीय जीव। इसके हृदय में भगवान् के प्रति अपार अनुराग है, समर्पण का दिव्य भाव है, परन्तु उस पर आवरण पड़ा हुआ है, अतः जैसे हो तैसे इसे श्रीभगवद्सम्मुख करना ही चाहिये। फिर तो ये उस वेश्या पर रीझकर उसको अपने समीप बुलाये और दस रुपया देकर बोले कि रात्रि में समाज सहित तुम मेरे निवास-स्थान पर आना, मैं वहाँ पर तुम्हारा नृत्य-गान देखूँगा। यह कहकर उसे अपना पता बता दिया, फिर बाजार जाकर श्रीठाकुरजी की सेवा की आवश्यक वस्तुएँ खरीदकर अपने डेरे पर आये। रात्रि में निश्चित समय पर वेश्या भी अपने समाजियों के सहित वहाँ पहुँची, खूब नृत्य-गान हुआ, श्रीकृष्णदासजी ने प्रसन्न होकर एक सौ रुपये दिये, आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व के एक सौ रुपये, आज के कई हजार रुपये होते हैं। आपका मुक्तहस्त से द्रव्य लुटाना देखकर वेश्या मुग्ध हो गई। आपने कहा कि-''मैं तो अपने साँवल सेठ का एक तुच्छ मुनीम हूँ, मैंने तो बहुत कम रुपये दिये हैं। यदि तुम मेरे सेठजी के आगे चलकर इस प्रकार से नृत्यगान करोगी तो वह तुम्हारी कला से प्रसन्न होकर तुम्हें मालोमाल, कर देंगे। मेरे सेठजी तो नृत्यगान के बड़े प्रेमी हैं, वह स्वयं भी इस कला में परम कुशल हैं।'' वेश्या चलने के लिए राजी हो गई। फिर दूसरे दिन उसे अपने साथ में लेकर गोवर्धन आये। श्रीठाकुरजी के साथ इसकी संगति इस प्रकार लगेगी कि वेश्या श्रीभगवदीय जीव थी। श्रीठाकुरजी उसे अपने समीप बुलाना चाहते थे अतः श्रीकृष्णदासजी के मन में ऐसी प्रेरणा कर दी, नहीं तो भला परम वैष्णव श्रीकृष्णदासजी क्यों वेश्याओं के मुहल्ले में जाने लगे, उनका गीत-गान क्यों सुनने लगे और उसे प्रलोभन देकर यहाँ पर

अपने साथ लिवाकर लाने लगे? वस्तुतस्तु इसी ब्याज से रिझवार श्रीठाकुरजी ने उस पर रीझकर उसे अपने समीप बुला लिया।

जग लाज को बहाइयै—इसका भाव यह है कि श्रीकृष्णदासजी का परम वैष्णव होकर वेश्या के नृत्य-गान पर आसक्त होना और उसको अपने साथ लिवा लाना, अपने मन्दिर में नचाना आदि लोकदृष्टि से लज्जा की बात है। आपके इस कार्य की उस समय बहुत से लोगों ने निन्दा की, कि देखो, अधिकारीजी की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है, मन्दिर में वेश्या का नाच-गान करा रहे हैं। कथा-कीर्तन-सत्संग से अब पेट भर गया है, धनमद से एकदम उन्मत्त हो गये हैं इत्यादि। परन्तु श्रीकृष्णदासजी ने इन समस्त-चर्चा चबावों की कुछ भी परवाह नहीं की। आप तो जैसे-तैसे ठाकुर श्रीश्रीनाथजी को रिझाना ही चाहते थे।

नीके अन्हवाय पट आभरन पहिराय सौंधौ हूँ लगाय हरि मन्दिर में ल्याये हैं।
देखि भई मतवारी कीनी लै अलापचारी कह्यो लाल देखे? बोली देखे में ही भाये हैं।।
नृत्य, गान, तान, भाव भरि मुसक्यान, दृग रूप लपटान, नाथ निपट रिझाये हैं।
ह्वैकै तदाकार, तन छूट्यौ अंगीकार करी धरी उर प्रीति मन सबके भिजाये हैं।।३४५।।

शब्दार्थ—तदाकार=तल्लीन। अंगीकार करी=स्वीकार की, अपनायी।

भावार्थ—श्रीकृष्णदासजी उस वेश्या को अपने संग श्रीगोवर्धन को लिवा लाये फिर उसे भलीभाँति से स्नान कराके श्रीठाकुरजी के प्रसादी-वस्त्राभूषण पहनाये, इत्र-फुलेल लगाए। इस प्रकार उसका समस्त साज-श्रृंगार करके उसे श्रीश्रीनाथजी के मन्दिर में लिवा आये और बोले-"आज तक तूने संसारी लोगों को रिझाया है, अब तू हमारे श्रीलालजी को प्रसन्न कर एवं रिझा। देख! ये कैसे रिझवार हैं।" वेश्या श्रीश्रीनाथजी का दर्शन करते ही प्रेम मतवाली हो गयी और स्वर साधकर आलाप किया। श्रीकृष्णदासजी ने पूछा-क्या तुमने मेरे लालजी को अच्छी प्रकार से देखा? उसने कहा-हाँ, मैंने देखा, दर्शन मात्र से ही मेरे हृदय को वे अत्यन्त प्रिय लग रहे हैं। वेश्या ने अपने नृत्य, गान, तान, भाव भरी मुसक्यान और नेत्रों की श्रीठाकुरजी के रूप में लपटान अर्थात् अत्यन्त आसक्त भाव से श्रीठाकुरजी की ओर लगी हुई ललचौंही चितवन से ठाकुर श्रीश्रीनाथजी को एकदम रिझा लिया। उसने एकदम तदाकार होकर नृत्य-गान किया। प्रेमाधिक्य के कारण उसका शरीर छूट गया। श्रीठाकुर ने उसकी जीवात्मा को अंगीकार कर लिया अर्थात् अपने चरणों में स्थान प्रदान किया। वेश्या ने अपने हृदय में प्रेम-भाव

भर रखा था और भगवान भी प्रेम के भूखे हैं, प्रेम के प्रदाता हैं, प्रेम की खान हैं। अत: उसकी जाति-पाँति व उसके कर्म पर दृष्टि न देकर उसके हृदय के प्रेम को ही अपने हृदय में धारणकर अपना बना लिया। इस प्रकार से भगवान् में तदाकार होकर वेश्या ने तथा वेश्या को अंगीकार करके भगवान ने सब के मन को प्रेम रस में सराबोर कर दिया।।३४५।।

व्याख्या—श्रीकृष्णदासजी ने वेश्या को श्रीगिरिराजजी के तीर्थों में स्नान कराके श्रीठाकुर जी के प्रसादी-वस्त्राभूषणों से समलंकृत करके उसकी आत्यन्तिक शुद्धि कर दी। फिर स्वरचित एक पद उसे सिखाया और उसी पद को श्रीठाकुरजी के सम्मुख गाने के लिये कहा। वह पद इस प्रकार से है-"मो मन गिरिधर छबि पर अटक्यो। ललित त्रिभंगी अंगनि पर चलि गयो तहाँ ही ठटक्यो।। सजल श्यामघन बरन लीन ह्वै फिरि चित अनत न भटक्यो। कृष्णदास कियो प्रान निछावर यह तन जग सिर पटक्यो।। (पद की अन्तिम तुक)-"कृष्णदास कियो प्रान निछावर यह तन जग सिर पटक्यो।।" इस पद को गाते-गाते वेश्या ने सचमुच में अपने प्राणों को भगवान् श्रीश्रीनाथजी के चरणों में न्यौछावर कर दिया और भगवान् की नित्यलीला में सम्मिलित हो गयी। कहते हैं कि वेश्या के तन-त्याग करने से उसके संग के समाजी रोने लगे कि अब हमारी जीविका मारी गयी। अब हमारी जीविका कैसे चलेगी तब श्रीकृष्णदासजी ने उन समाजियों पर दया करके उन्हें एक सहस्रमुद्रा देकर सस्नेह उनको विदा किया।

आये सूरसागर सो कही बड़े नागर हौ कोऊ पद गावौ मेरी छाया न मिलाइयै।
गाये पाँच सात सुनि जानि मुसुकात कही भले जू प्रभात आनि करिकै सुनाइयै।।
पर्‍यो सोच भारी गिरिधारी उर धारी बात सुन्दर बनाय सेज धर्‍यो यों लखाइयै।
आयकै सुनायौ सुख पायौ पच्छपात लै बतायौ हूँ मनायौ रँग छायौ अभूँ गाइयै।।३४६।।

शब्दार्थ—सूरसागर=सूरदासजी का काव्य। नागर=चतुर। अभू=अब तक।

भावार्थ—एक बार श्रीकृष्णदासजी, श्रीसूरदासजी से मिलने आये। पद रचना के प्रसंग में श्रीसूरदासजी ने विनोद में कहा कि आप तो कविता करने में बड़े प्रवीण हैं, अत: कोई ऐसा पद बना कर गाइये जिसमें मेरे पदों की छाया न हो। श्रीकृष्णदासजी ने पाँच-सात पद गाये। श्रीसूरदासजी ने उन पदों को सुनकर एवं यह जानकर कि इन पदों में तो हमारे अमुक-अमुक पदों की छाया है, मुस्कुराने लगे तथा पूछने पर बता दिये कि आपके इस पद में हमारे इस पद की छाया है। तब श्रीकृष्णदासजी बड़े संकुचित हुये, तब श्रीसूरदासजी ने कहा कि अच्छा कोई बात नहीं है, कल प्रात:काल कोई नया पद बना

करके मुझे आकर सुनाना। अपने निवास स्थान पर आकर श्रीकृष्णदासजी को भारी सोच हुआ, क्योंकि कोई भी भाव श्रीसूरदासजी से अछूता नहीं मिल रहा था। श्रीकृष्णदासजी के सोच को भगवान् श्रीगिरिराजधरन श्रीश्रीनाथजी ने अपने मन में धारण किया और इनके सोच का निवारण करने के लिये प्रभु ने स्वयं एक अत्यन्त सुन्दर पद बना कर श्रीकृष्णदासजी की शय्या पर रख दिया। जब चिन्ता में निमग्न श्रीकृष्णदासजी शय्या पर शयन करने गये तो सिरहाने श्रीप्रभु के श्रीकर-कमलों से लिखा हुआ वह पद पाये, फिर क्या था, प्रातःकाल होते ही श्रीकृष्णदासजी पुनः श्रीसूरदासजी के पास गये और उस पद को सुनाया, सुनकर श्रीसूरदासजी बड़े ही प्रसन्न हुये, साथ ही यह जानकर कि यह पद श्रीकृष्णदासजी रचित नहीं हो सकता है, इसे तो श्रीश्रीनाथजी ने बनाया है, श्रीसूरदासजी ने इसे श्रीठाकुरजी का पक्षपात बताया। श्रीठाकुरजी के इस पक्षपात पर श्रीसूरदासजी रुठ गये। तब श्रीठाकुरजी ने उन्हें मनाया, फिर तो भक्त और भगवान के हृदय में परस्पर प्रेमरंग छा गया। श्रीठाकुरजी के द्वारा रचित वह पद अब तक गाया जाता है।।३४६।

व्याख्या—मेरी छाया न मिलाइयै—श्रीहरि गुरुकृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त श्रीसूरदासजी का इतना वृहद साहित्य है कि कोई भी श्रीभगवल्लीला सम्बन्धी भाव, रस, अलंकार आदि काव्यगुण उनसे अछूते नहीं बच पाये हैं। उनके बाद जो भी कवि, कविता करने का प्रयत्न करते हैं उन्हें आधार रूप में श्रीसूरदासजी के पदों को बरबस अपनाना पड़ता है। इसी बल पर श्रीसूरदासजी ने श्रीकृष्णदासजी को चुनौती दी थी।'' परयो सोच....लखाइयै''—भक्त की चिन्ता भगवान् को असह्य हो गयी। अतः उस चिन्ता को दूर करने के लिये स्वयं श्रीप्रभु ने पद की रचना की, वह पद इस प्रकार से है—

आवत बने कान्ह गोप बालकन्ह संग नेचुकी खुर रेणु क्षुरित अलकावली।
भौंह मनमथ चाप बक्र लोचन बान शीश शोभित मत्त मोर चन्द्रावली।।
उदित उडुराज सुन्दर शिरोमणि बदन निरखि फूली नवल युवति कुमुदावली।
अरुन सकुचत अधर बिम्बफल उपहसत कछुक परगट होत कुन्द दशनावली।।
श्रवन कुण्डल तिलक भाल बेसरि नाक कण्ठ कौस्तुभमनि सुभग त्रिबली बली।
रत्न हाटक खचित उरसि पद कनक पाँति बीच राजति सुभग झलक मुक्तावली।।
बलय कंगन बाजुबन्द आजानु भुज मुद्रिका करतल विराजत नखावली।
क्वणित कर मुरलिका अखिल मोहति विश्व गोपिकाजन मनसि ग्रन्थित प्रेमावली।।
कटि क्षुद्रघण्टिका कनक हीरामई नाभि अम्बुज बलित भृंग रोमावली।

धाय कबहुँक चलत भक्त हित जानि प्रिय गण्डमण्डल रचित श्रमजल कनावली।।
पीत कौशेय पट धारि सुन्दर अंग बजत नूपुर गीत भरत शब्दावली।
हृदय कृष्णदास बलि गिरिधरनलाल की चरन नख चन्द्रिका हरति तिमरावली।।

पच्छपात लै बतायौ—पद सुनते ही श्रीसूरदासजी समझ गये कि ऐसा पद तो इनकी कौन कहे, इनके बाप भी नहीं बना सकते? यह तो ईश्वरीय दिव्यवाणी प्रतीत होती है। कहीं श्रीश्रीनाथजी ने तो नहीं बना दिया है? फिर तो उन्होंने पूछा-भईया! तुम सत्य-सत्य कहना यह पद तुमने ही बनाया है अथवा किसी और ने? अब तो श्रीकृष्णदासजी ने श्रीसूरदासजी को सत्य-सत्य बता दिया। फिर तो श्रीसूरदासजी श्रीठाकुरजी से ही नाराज हो गये और बोले-हम दोनों गुरुभाई आपस में विवाद किये हुये थे, आप बीच में क्यों पड़ गये, हम दोनों आपस में ही निपटते रहते। अच्छा ठीक है, जब आप स्वयं ही कवि बन गये हैं तो आप ही पद बनावें और गावें। अब हम लोगों की आवश्यकता ही क्या रही? इस प्रकार से बहुत-सी उपालम्भयुक्त बातें कहकर श्रीसूरदासजी भगवान् से रुठ कर अपनी कुटिया में आ गये। मन्दिर में आना-जाना तथा नित्यप्रति की कीर्तन-सेवा बन्द कर दिये। परिणाम यह हुआ कि मन्दिर में इनके न जाने से पद, कीर्तन, समाज-गायन आदि में आनन्द ही नहीं आता था। तब श्रीठाकुरजी स्वयं श्रीसूरदासजी के पास गये और बोले-''श्रीसूरदासजी! हमसे जो गलती हो गयी है उसे आप क्षमा कर दीजिये और मन्दिर में चलकर पद गाकर सुनाइये। बिना आपके पद सुने मेरा मन प्रसन्न ही नहीं होता है। कीर्तन में पहले जैसा आनन्द ही नहीं आता है। मुझे कुछ भी खाना-पीना अच्छा नहीं लगता है। इस प्रकार से अनुनय-विनय करने पर श्रीसूरदासजी प्रसन्न होकर मन्दिर में जाकर पद गायन करने लगे।

कुँवा में खिसिल देह छूटि गई नई भई, भई यों अशंका कछु औरे उर आई है।
रसिकन मन दुख जानि सो सुजान नाथ दियो दरसाय तन ग्वाल सुखदाई है।।
गोवर्द्धन तीर कही 'आगे बलवीर गये श्रीगुसाँई धीर सौं प्रनाम' यों जनाई है।
धनहूँ बतायो खोदि पायो विसवास आयो हिये सुख छायो संक पंक लै बहाई है।।३४७।।

शब्दार्थ—बलवीर=बलदेवजी। पंक=कीचड़।

भावार्थ—अन्त समय में श्रीकृष्णदासजी फिसलकर कुएँ में गिर गये और उसी में इनका शरीर छूट गया अर्थात् प्राणान्त हो गया। यद्यपि भजन के प्रताप से आपको तत्काल ही दिव्य-देह की प्राप्ति हो गयी, परन्तु लोगों के मन में तो कुछ और ही बात

आई। लोगों ने आपके सम्बन्ध में अकाल-मृत्यु की आशंका की। इस आशंका से रसिकजनों के मन में अपार दुःख हुआ। सुजान शिरोमणि श्रीश्रीनाथजी ने भक्तों के हार्दिक दुःख को जानकर उसे दूर करने के लिये तथा लोगों की शंका का निवारण करने के लिये श्रीकृष्णदासजी का परम सुखदायी दिव्य-ग्वालस्वरूप लोगों को प्रत्यक्ष दिखला दिया। श्रीगोवर्धनजी की तलहटी में कुछ ब्रजवासियों को देखकर दिव्य-देहधारी श्रीकृष्णदासजी ने कहा कि आगे श्रीबलदाऊजी गये हैं, उन्हीं के साथ पीछे-पीछे मैं भी जा रहा हूँ, आप लोग गुसाँई श्रीविट्ठलनाथजी से मेरा प्रणाम कह देना। तदुपरान्त श्रीकृष्णदासजी ने पृथ्वी में गड़े हुए धन का भी पता बताया, जो कि इन्होंने पूर्व शरीर से, पृथ्वी में सुरक्षार्थ धन गाड़ रखा था। ब्रजवासियों ने आकर श्रीकृष्णदासजी का वृत्तान्त गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी से निवेदन किया, पुनः निर्दिष्ट स्थल खोदा गया तो वहाँ धन भी मिला। इससे सबको विश्वास हो गया कि निश्चय ही इन ब्रजवासियों को श्रीकृष्णदासजी मिले थे तथा दूसरी बात यह है कि श्रीकृष्णदासजी की अधोगति नहीं हुयी है, वह भगवान् की नित्यलीला में सम्मिलित हो गये हैं। इससे सबके हृदय का शंकारूपी कीचड़ धुल गया और सबके हृदय में अपार सुख छा गया।।३४७।।

व्याख्या—कुँआ में खिसिल०—एक वैष्णव ने श्रीकृष्णदासजी को तीन सौ रुपये कुँआ बनवाने के निमित्त दिये थे। आपने एक सौ रुपये एक मिट्टी के कुल्हड़ में रखकर एक आम के पेड़ के नीचे गाड़ दिये थे और दो सौ रुपये से कुँआ बनवाया। जब कुँआ बनकर तैयार हो गया तो ये उसे देखने गये। लाठी टेककर कुँआ की ओर झुककर देख रहे थे। दैवेच्छा से लाठी फिसल गई और ये कुँआ में गिर पड़े एवं वहीं इनका प्राणान्त हो गया। बहुत खोज करने पर भी कुँआ में श्रीकृष्णदासजी का शरीर प्राप्त नहीं हुआ। साधारणतया इस प्रकार की मृत्यु को अकाल-मृत्यु कहते हैं और अकाल-मृत्यु से मरने वाले जीवों को प्रेतयोनि की प्राप्ति होती है। परन्तु भजननिष्ठ भक्तों का किसी प्रकार भी अधःपतन नहीं होता है। भगवान् श्रीकृष्ण का वचन है-''न मे भक्तः प्रणश्यति'' (गीता)। महाराज श्रीपरीक्षितजी की मृत्यु तक्षक नाग के डसने से हुयी वह भी श्रीभगवद्धाम को प्राप्त हुए। अतः श्रीकृष्णदासजी की अधोगति नहीं हुयी, वे भगवल्लीला में प्रवेश कर गये। परन्तु शंकालुओं की आशंकाओं का समाधान कैसे हो? तो इसके लिये श्रीभगवत्कृपा से लोगों को दिव्य-रूपधारी श्रीकृष्णदासजी का साक्षात्कार हुआ, इससे सबका भ्रम दूर हो गया। ''धनहूँ बतायो''-वही एक सौ रुपये जो आम के पेड़ के नीचे गाड़ रखे थे, उन्हीं को

बताया और कहा कि उन रुपयों से कुँआ का शेष कार्य और वैष्णव-सेवा करा देना, गोसाँई श्रीविट्ठलनाथजी ने आपके कथनानुसार ऐसा ही किया।

विशेष—श्रीकृष्णदासजी का प्रादुर्भाव अहमदाबाद के निकट चिलोत्तरा नामक ग्राम में कुनबी कुल में हुआ था। इनके पिताजी न्यायाधीश थे परन्तु चोरों, डकैतों से मिले रहते थे। एक दिन ग्राम के निकट बंजारे ठहरे हुये थे। इनके पिता ने चोरों से मिलकर उन्हें लुटवा लिया, इन्होंने लूट के धन में से बारह हजार रुपये तो अपने लिये और दो हजार रुपये चोरों को दे दिये। जब बंजारे इनके पास न्याय कराने गये तो उन्होंने उल्टे उन सबको फटकार दिया। आपको अपने पिताजी की अनीति अच्छी नहीं लगी, अतः आपने बंजारों से कहा कि हमारे पिता ने ही तुम लोगों को लुटवाया है। तुम बादशाह के यहाँ जाकर अपना दुःख सुनाओ, गवाही देने के लिये हम तैयार हैं। बंजारों ने बादशाह से जाकर शिकायत की। बादशाह ने पिता-पुत्र दोनों को ही पकड़वाकर मँगवाया। इन्होंने सत्य बयान देकर पिता से बंजारों का रुपया वापस कराया तथा साथ ही बादशाह से प्रार्थना करके पिता को सजा से मुक्त करा दिया। फिर इसके बाद आपका मन घर में नहीं लगा, अतः बाल्यकाल में ही ये घर छोड़कर निकल पड़े और तीर्थाटन करते हुये मथुरा आये। यहाँ श्रीमद्बल्लभाचार्य महाप्रभुजी का दर्शन कर बड़े ही प्रभावित हुये और श्रीमहाप्रभुजी ने भी एक ही दृष्टि में पहचान लिया कि ये तो कोई श्रीभगवदीय जीव हैं, अतः एक बार की प्रार्थना पर प्रसन्न होकर विधिपूर्वक वैष्णव-दीक्षा देकर ब्रह्म-सम्बन्ध कराया। फिर आगे चलकर आपकी योग्यता देखकर ठाकुर श्रीश्रीनाथजी की सेवा का सम्पूर्ण भार आपको ही सौंप दिया। इनके सेवाकाल में श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा की बहुत उन्नति हुयी।

श्रीवर्द्धमानजी तथा श्रीगंगलजी

'बर्द्धमान' 'गङ्गल' गम्भीर उभै थंभ हरिभक्ति के।।
श्रीभागौत बखानि अमृतमय नदी बहाई।
अमल करी सब अवनि ताप हारक सुखदाई।।
भक्तन सों अनुराग दीन सौं परम दयाकर।
भजन जसोदानन्दन सन्त संघट के आगर।।
भीषमभट्ट अंगज उदार कलियुग दाता सुगति के।
'बर्द्धमान' 'गङ्गल' गम्भीर उभै थंभ हरिभक्ति के।।८२।।

शब्दार्थ—थंभ=स्तम्भ, खम्भा। अमल=निर्मल, स्वच्छ, शासन। अवनि=पृथ्वी। तापहारक = दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापों को हरण करने वाले। जसोदानन्दन=श्रीकृष्ण। संघट=समूह। आगर = अग्रगण्य, मुख्य, चतुर। अंगज =पुत्र।

भावार्थ—श्रीवर्द्धमानजी तथा श्रीगंगलजी-ये दोनों भाई भक्तिरूपी सेतु के दो सुदृढ़ स्तम्भ थे। इन्होंने श्रीमद्‌भागवत महापुराण की कथा कहकर मानों पृथ्वी पर कथा-सुधा की नदी बहा दी तथा अपने दर्शन, स्पर्श, सदुपदेश, समागमादि से सम्पूर्ण पृथ्वी को पापरहित कर दिया। आप दोनों प्राणियों के तीनों तापों को दूर करने वाले तथा उन्हें परमसुख देने वाले हुये। आप दोनों भक्तों से अत्यन्त प्रेमभाव एवं दीन-दुःखियों पर दया करने वाले थे। श्रीयशोदानन्दन श्रीकृष्ण की उपासना करते थे। संत-समूह में अग्रगण्य तथा सेवा में बड़े चतुर थे। आप दोनों श्रीभीष्मभट्टजी के पुत्र थे, स्वभाव से बड़े उदार थे तथा इस कराल-कलिकाल में भी प्राणियों को उत्तम गति अर्थात् श्रीभगवद् पद प्रदान करने वाले थे।।८२।।

व्याख्या—भीषमभट्ट अंगज उदार—श्रीवर्द्धमानजी और श्रीगंगलजी के पिता श्रीभीष्मभट्टजी बड़े ही गुरुभक्त थे। इनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर समर्थ श्रीसद्‌गुरुदेवजी ने इन्हें लोक मंगलकारी परम भागवत दो सुपुत्र होने का वरदान दिया। समय पर श्रीगुरुजी का आशीर्वाद साकार हुआ और श्रीभीष्मभट्टजी श्रीवर्द्धमान एवं श्रीगंगलजी इन दो सुपुत्रों को प्राप्त कर कृतार्थ हो गये। श्रीगुरुकृपा प्रसूत होने के कारण दोनों भाई श्रीवर्द्धमानजी और श्रीगंगलजी जन्म से ही संसार से उदासीन और श्रीभगवद्-भजन परायण थे। फलस्वरूप आगे चलकर दोनों ही श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्रीकेशवाचार्यजी से वैष्णवी-दीक्षा लेकर आजीवन स्वयं भक्ति करते हुये जगत् के जीवों को भी भजनोन्मुख करते रहे। दोनों भाई प्रायः सन्तों की जामात (मण्डली) साथ में लिये हुये लोकोद्धार हेतु विचरण किया करते थे। एक बार विचरते-विचरते आप ऐसे क्षेत्र में जा पहुँचे जहाँ सेवड़ों का बोलबाला था। विमुख सेवड़े वैष्णवों को देखकर बड़ा उपहास करते थे। आपके साथ भी उन सभी ने ऐसा ही व्यवहार किया। बहुत-से सेवड़े दल बाँधकर आपके पास आये और अपने सिद्ध गुरु का यशोगान करने लगे तथा इन्हें यहाँ से भाग जाने को कहने लगे। सेवड़ों का कहना था कि तुम लोग हमारे गुरुदेव के तेज के समक्ष एक क्षण भी ठहर नहीं सकते हो। उन्हें देखकर बड़ों-बड़ों का मल-मूत्र निकल जाता है। इन दोनों भाईयों ने अपने साधु-स्वभाव का स्मरण करते हुये मौन होकर भगवान् का स्मरण करते रहे। परन्तु

भक्तवत्सल भगवान् को भक्तों का तिरस्कार असह्य हो गया। फिर तो प्रभु ने ऐसी लीला रची, कि उन कहने वाले सेवड़ों के ही वस्त्र मलमूत्र से बिगड़ गये। अब तो सभी सेवड़े बड़े ही लज्जित हुये और भागे-भागे जाकर अपने सिद्धगुरु से इनके इस चमत्कार की बात बतायी। सिद्ध सेवड़ों ने आपको मारने के लिये मारण प्रयोग किया, परन्तु श्रीभगवदिच्छा से वे अपने प्रयोग से स्वयं ही मरने लगे, तब सबकी आँखें खुलीं। फिर तो सबके-सब आकर श्रीगंगलभट्टजी के चरणों में पड़कर ''त्राहि-त्राहि'' कहते हुये अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना करने लगे। दयालु हृदय संत ने इन्हें क्षमा कर दिया। मरे हुये सेवड़ों को पुनः प्राणदान दिया तथा सबको अपना शिष्य बनाकर भक्ति का उपदेश दिया। इस घटना से आपका सुयश सर्वत्र फैल गया।

एक बार श्रीवर्द्धमानजी एक गाँव में सन्तों की समाज में विराजमान होकर श्रीमद्‌भागवतजी की कथा कह रहे थे। श्रोता-समुदाय आनन्द-विभोर होकर प्रेमाश्रु बरसा रहा था। इस समाज में एक नेत्रहीन वृद्धा माता भी बैठी कथा सुन रही थीं। जब कथा का विश्राम हुआ तो वह वृद्धा माताजी आपके पास आकर बोलीं-महाराज! आप जैसे महाभागवत कृपा करके हमारे यहाँ पधारे समस्त ग्रामवासी आपका दर्शन करके तथा सदुपदेश श्रवण करके कृतार्थ हो गये। मुझे भी आपकी कथा सुनकर परमानन्द प्राप्त हुआ, परन्तु मैं अभागिनी नेत्रहीन होने के कारण आपका दर्शन न कर सकी, इस बात का मुझको विशेष दुःख है। वृद्धा माता की व्याकुलता पर सन्त को दया आ गयी और तत्काल ही श्रीभगवत्स्मरण करते हुए भगवच्चरणामृत उस वृद्धा के नेत्रों में डाल दिये। श्रीप्रभु की कृपा से उन वृद्धा माता के नेत्र तत्काल ज्योतिष्मान हो गये। सन्त का दर्शन कर एवं सन्त-भगवन्त की कृपा का चमत्कार विचारकर वृद्धा माता गद्‌गद हो गयीं। सभी लोग आपके श्रीचरणों में नत-मस्तक हुए। आपने सबको शिष्य बनाकर भक्ति का उपदेश दिया। आपकी उदारता एवं अकिंचनता ऐसी थी कि जो कुछ भी भेंट-पूजा में प्राप्त होता वह सब सन्त-सेवा में लगा देते थे, स्वयं भूखे रहकर भी सन्तों का सत्कार करते थे। ऐसे आपके अनेकों चरित्र हैं।

श्रीक्षेम गोसाँईजी

'रामदास' परताप तें 'षेम गुसाँई' षेमकर।।
रघुनन्दन को दास प्रगट भू-मण्डल जानै।
सर्बस सीताराम और कछु उर नहिं आनै।।

धनुष बान सौं प्रीति स्वामि के आयुध प्यारे।
निकट निरन्तर रहत होत कबहूँ नहिं न्यारे।।
सूरबीर हनुमत सदृश परम उपासक प्रेम भर।
'रामदास' परताप ते षेम गुसाँई षेमकर।।८३।।

शब्दार्थ—भू-मण्डल=पृथ्वीलोक। स्वामि के= श्रीरामजी के। आयुध= अस्त्र, धनुष-बाण।

भावार्थ—गुरु श्रीरामदासजी के प्रताप एवं कृपा-प्रसाद से श्रीक्षेम गोसाँईजी सचमुच में प्राणियों का क्षेम अर्थात् कल्याण करने वाले हुए। आप श्रीराघवेन्द्र सरकार के अनन्य भक्त थे, यह बात सारे संसार में विख्यात थी, सब लोग जानते थे। आपके सर्वस्व श्रीसीतारामजी ही थे। अपने इष्ट को छोड़कर और कुछ भी हृदय में नहीं लाते थे अर्थात् अन्य किसी भी देवी-देवता का ध्यान नहीं करते थे। आपको अपने आराध्यदेव श्रीरामजी के आयुध बड़े प्यारे लगते थे, अत: श्रीरामजी की ही तरह श्रीरामजी के आयुध धनुष-बाण से भी अत्यन्त प्रीति करते थे। आप भावना में निरन्तर अपने प्रभु श्रीसीतारामजी के सन्निकट बने रहते थे, कभी भी एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होते थे। आप श्रीहनुमानजी के समान शूरवीर तथा अनन्य उपासक एवं परम प्रेम से परिपूर्ण थे।।८३।।

व्याख्या—सर्बस सीताराम-यथा-

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्व मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने।।

(श्रीरामरक्षास्तोत्र)

पुनश्च-**राम हैं मातु पिता सुत बन्धु और संगी सखा गुरु स्वामि सनेही।**
राम की सौंह भरोसो है राम को राम रँग्यो रुचि राच्यो न केही।।
जीअत राम मुएँ पुनि राम सदा रघुनाथहिं की गति जेही।
सोई जियै जग में तुलसी न तु डोलत और मुएँ धरि देही।।

x x x x x

राम मातु पितु बन्धु सुजन गुरु पूज्य परम हित।
साहेब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित।।
देश कोश कुल करम धरम धन धाम धरनि गति।
जाति-पाँति सब भाँति लागि रामहिं हमारि पति।।

परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ राम तें सकल फल।
कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल।। (कवि०)

''और कछु उर नहिं आनै''-यथा-

श्रीजानकी जीवन की बलि जैहौं।
चित कहै राम सीय पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।।
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभुपद विमुख न पैहौं।
मन समेत या तन के बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं।।
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईशहीं नैहौं।।
नातो नेह राम सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।। वि०

धनुष बान सौं प्रीति०—एक बार श्रीक्षेम गोसाँईजी के मन में श्रीरामजी के दर्शन की प्रबल लालसा जागी। आप दिन-रात प्रभु विरह में आँसू बहाते रहते थे। तब आपके प्रेम को देखकर श्रीहनुमानजी ने प्रभु से प्रार्थना की। श्रीहनुमानजी की प्रार्थना एवं इनके प्रेम से विवश होकर भगवान् श्रीरामजी ने प्रकट होकर दर्शन दिया। अपने परमाराध्य का साक्षात् दर्शन करके आपकी जन्म जन्म की साध पूरी हो गयी। भगवान् ने आपसे वर माँगने को कहा तो आपने श्रीप्रभु का धनुष-बाण ही माँग लिया। प्रभु श्रीरामजी इन्हें धनुष-बाण देकर अन्तर्धान हो गये। उसी दिन से ये श्रीप्रभु के आयुधों की नित्यप्रति पूजा-आरती करते एवं इनके ही दर्शन करके इनमें श्रीप्रभु के ही दर्शन का सुख प्राप्त करते। एक बार चोर इन धनुष-बाणों को चुरा ले गये तो आपने उनके विरह में अन्न-जल का परित्याग कर दिया। लोगों ने बहुत समझाया कि वैसे ही दूसरे धनुष-बाण बनवा दिये जायेंगे, आप भोजन करें, परन्तु आपने किसी की एक न सुनी। तब आपके अनन्यानुराग को देखकर भगवान् के परम दिव्य, चिन्मय आयुध (धनुष-बाण) स्वयं ही आकर आपके हृदय से लग गये। तब आपने भोजन-जल ग्रहण किया।

एक बार आपके एक शिष्य ने उन धनुष-बाणों को चुराना चाहा, परन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी वह उसे उठा न सका। तब वह अपनी करनी पर बहुत लज्जित हुआ और प्रात: काल होते ही पश्चात्ताप करता हुआ श्रीगुरुजी के श्रीचरणों में गिरकर अपने हृदय की दुर्भावना एवं धनुष-बाणों के चमत्कार के विषय में बतलाने लगा, श्रीक्षेम गोसाँईजी ने कहा कि

धनुष बान सौं प्रीति स्वामि के आयुध प्यारे।
निकट निरन्तर रहत होत कबहूँ नहिं न्यारे।।
सूरबीर हनुमत सदृश परम उपासक प्रेम भर।
'रामदास' परताप ते षेम गुसाँई षेमकर।।८३।।

शब्दार्थ—भू-मण्डल=पृथ्वीलोक। स्वामि के= श्रीरामजी के। आयुध= अस्त्र, धनुष-बाण।

भावार्थ—गुरु श्रीरामदासजी के प्रताप एवं कृपा-प्रसाद से श्रीक्षेम गोसाँईजी सचमुच में प्राणियों का क्षेम अर्थात् कल्याण करने वाले हुए। आप श्रीराघवेन्द्र सरकार के अनन्य भक्त थे, यह बात सारे संसार में विख्यात थी, सब लोग जानते थे। आपके सर्वस्व श्रीसीतारामजी ही थे। अपने इष्ट को छोड़कर और कुछ भी हृदय में नहीं लाते थे अर्थात् अन्य किसी भी देवी-देवता का ध्यान नहीं करते थे। आपको अपने आराध्यदेव श्रीरामजी के आयुध बड़े प्यारे लगते थे, अत: श्रीरामजी की ही तरह श्रीरामजी के आयुध धनुष-बाण से भी अत्यन्त प्रीति करते थे। आप भावना में निरन्तर अपने प्रभु श्रीसीतारामजी के सन्निकट बने रहते थे, कभी भी एक क्षण के लिए भी अलग नहीं होते थे। आप श्रीहनुमानजी के समान शूरवीर तथा अनन्य उपासक एवं परम प्रेम से परिपूर्ण थे।।८३।।

व्याख्या—सर्बस सीताराम-यथा-

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्व मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने।।

(श्रीरामरक्षास्तोत्र)

पुनश्च- **राम हैं मातु पिता सुत बन्धु और संगी सखा गुरु स्वामि सनेही।**
राम की सौंह भरोसो है राम को राम रँग्यो रुचि राच्यो न केही।।
जीअत राम मुएँ पुनि राम सदा रघुनाथहिं की गति जेही।
सोई जियै जग में तुलसी न तु डोलत और मुएँ धरि देही।।

x x x x x

राम मातु पितु बन्धु सुजन गुरु पूज्य परम हित।
साहेब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित।।
देश कोश कुल करम धरम धन धाम धरनि गति।
जाति-पाँति सब भाँति लागि रामहिं हमारि पति।।

परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ राम तें सकल फल।
कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल।। (कवि०)

''और कछु उर नहिं आनै''-यथा-

श्रीजानकी जीवन की बलि जैहौं।
चित कहै राम सीय पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।।
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख, प्रभुपद विमुख न पैहौं।
मन समेत या तन के बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं।।
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईशहीं नैहौं।।
नातो नेह राम सों करि सब नातो नेह बहैहौं।
यह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं।। वि०

धनुष बान सौं प्रीति०—एक बार श्रीक्षेम गोसाँईजी के मन में श्रीरामजी के दर्शन की प्रबल लालसा जागी। आप दिन-रात प्रभु विरह में आँसू बहाते रहते थे। तब आपके प्रेम को देखकर श्रीहनुमानजी ने प्रभु से प्रार्थना की। श्रीहनुमानजी की प्रार्थना एवं इनके प्रेम से विवश होकर भगवान् श्रीरामजी ने प्रकट होकर दर्शन दिया। अपने परमाराध्य का साक्षात् दर्शन करके आपकी जन्म जन्म की साध पूरी हो गयी। भगवान् ने आपसे वर माँगने को कहा तो आपने श्रीप्रभु का धनुष-बाण ही माँग लिया। प्रभु श्रीरामजी इन्हें धनुष-बाण देकर अन्तर्धान हो गये। उसी दिन से ये श्रीप्रभु के आयुधों की नित्यप्रति पूजा-आरती करते एवं इनके ही दर्शन करके इनमें श्रीप्रभु के ही दर्शन का सुख प्राप्त करते। एक बार चोर इन धनुष-बाणों को चुरा ले गये तो आपने उनके विरह में अन्न-जल का परित्याग कर दिया। लोगों ने बहुत समझाया कि वैसे ही दूसरे धनुष-बाण बनवा दिये जायेंगे, आप भोजन करें, परन्तु आपने किसी की एक न सुनी। तब आपके अनन्यानुराग को देखकर भगवान् के परम दिव्य, चिन्मय आयुध (धनुष-बाण) स्वयं ही आकर आपके हृदय से लग गये। तब आपने भोजन-जल ग्रहण किया।

एक बार आपके एक शिष्य ने उन धनुष-बाणों को चुराना चाहा, परन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी वह उसे उठा न सका। तब वह अपनी करनी पर बहुत लज्जित हुआ और प्रात: काल होते ही पश्चात्ताप करता हुआ श्रीगुरुजी के श्रीचरणों में गिरकर अपने हृदय की दुर्भावना एवं धनुष-बाणों के चमत्कार के विषय में बतलाने लगा, श्रीक्षेम गोसाँईजी ने कहा कि

तुमने चोरी की भावना से उठाना चाहा था, अतः वे तुम से नहीं उठ पाये, लेकिन अब तुम सद्भावपूर्वक जाकर उठाओ धनुष फूल के समान हल्का हो जायेगा। अब शिष्य गया तो सचमुच में ही अबकी बार धनुष-बाण हाथ का इशारा पाते ही उठ गये। शिष्य धनुष-बाण की दिव्यता एवं श्रीसद्गुरुदेवजी की सद्भाव के समक्ष नत-मस्तक हो गया।

हनुमत् सदृश परम उपासक—इसका भाव यह है कि जैसे श्रीहनुमानजी, अनन्य राम भक्त थे। श्रीराम रुप को छोड़कर और किसी रूप का स्वप्न में भी स्मरण-चिन्तन नहीं करते थे, दर्शन करना तो दूर रहा। आपकी निष्ठा को देखकर भगवान श्रीकृष्ण ने भी श्रीरामरूप में आपको दर्शन दिया। (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२०९ में, श्रीसत्यभामाजी, श्रीगरुड़जी, श्रीचक्रसुदर्शन के अभिमान भंग का प्रसंग)। वैसी ही अनन्य निष्ठा आपकी भी थी। वर्णन आया है कि एक बार आपकी अनन्यता की परीक्षा लेने के लिए श्रीहनुमानजी एक अवधूत का वेश धारणकर आपके पास आये और आपके सामने सोने की एक भैरवजी की मूर्ति रखते हुये बोले-''देखो इस मूर्ति का यह चमत्कार है कि धन की आवश्यकता पड़ने पर इसके हाथ-पाँव काट लिये जायँ तो यह तत्काल ही जैसी की तैसी हो जाती है और जितनी बार काटा जाय उतनी बार यह पुनः पूर्व रूप में हो जाती है। इस प्रकार इससे अपार स्वर्णराशि प्राप्त की जा सकती है।'' इस प्रकार से कहकर अवधूत वेश धारी श्रीहनुमानजी ने जैसा कहा था वह प्रत्यक्ष करके इन्हें दिखा भी दिया, सोने का ढेर लग गया और मूर्ति ज्यों की त्यों बनी रही। फिर श्रीक्षेम गोसाँईजी से बोले कि आप इस मूर्ति को अपने पास रखिये और इससे मनमाना स्वर्ण प्राप्त करके खूब साधु-सेवा कीजिये। इन्होंने अवधूत से स्पष्ट कह दिया कि-''बनै तो रघुवर ते बनै, कै बिगरै भरपूर। तुलसी बनै जो और ते, ता बनिबे में धूर।।'' (दोहावली), परन्तु फिर भी अवधूतवेशधारी श्रीहनुमानजी हठपूर्वक उस मूर्ति को इन्हें देने का प्रयत्न करने लगे, और बोले-''आप इन्कार क्यों कर रहे हैं? अरे, घर के किसी कोने में पड़ी रहेगी और आवश्यकता पड़ने पर अपार धन देगी। भला, इस प्रकार के स्वतः प्राप्त धन-लाभ से मुख मोड़ना क्या उचित है? परमार्थ में धन की आवश्यकता पड़ती ही है, कोई न कोई उपाय करना ही पड़ता है, फिर इससे ही उसकी पूर्ति क्यों न की जाय?'' इत्यादि। बारम्बार मना करने पर भी जब अवधूतजी नहीं माने तो इन्हें बड़ा रंज आया और ये डंडा लेकर यह कहते हुये उनको मारने के लिये दौड़े कि तू कौन कपटी है, जो मुझे अपनी निष्ठा से विचलित करना चाहता है। भाग जा यहाँ से, नहीं तो डण्डा से मारकर कचूमर निकाल दूँगा। इनकी इस अनन्यता, अकिंचनता को देखकर श्रीहनुमानजी इन पर परम प्रसन्न हुये और प्रकट होकर दर्शन दिये तथा इनकी भक्ति की प्रशंसा करते हुये वरदान माँगने को कहा, इन्होंने यही वर माँगा कि-''मैं जब-जब आपको स्मरण करूँ, तब-तब आप प्रकट होकर मुझे

दर्शन देने की कृपा करें।'' श्रीहनुमानजी ''एवमस्तु'' कहकर अन्तर्धान हो गये। कई बार श्रीक्षेम गोसाँईजी को विमुखों ने कष्ट पहुँचाया, तब आपने श्रीहनुमानजी का स्मरण किया और श्रीहनुमानजी ने प्रकट होकर दुष्टों को दण्ड देकर आपकी रक्षा की। एक बार वेशधारी संन्यासियों की जामात आपके यहाँ आयी, और वे लोग आपसे बहुत सा धन माँगने लगे। आपने बड़े सरल भाव से कहा कि हमारे पास जो कुछ भी हो उसे आप ग्रहण करें। परन्तु वे उतने धन से सन्तुष्ट नहीं होने वाले थे अतः उन लोगों ने आपको मारकर धन लेने का उपाय सोचा। उनकी दुर्भावना जानकर आपको आवेश आ गया और अकेले ही समस्त संन्यासियों को मार-पीटकर भगा दिया। उस समय उनको श्रीक्षेम गोसाँईजी, श्रीहनुमानजी के रूप में दिखाई पड़ते थे। तभी तो श्रीनाभाजी ने इनको ''सूरवीर हनुमत सदृश'' कहा है। आपने अपनी भक्ति, विश्वास, निष्ठा एवं सदुपदेशों से अनन्त जीवों का कल्याण किया।

श्रीविट्ठलदासजी

'विट्ठलदास' माथुर मुकुट भयो अमानी मानदा।।
तिलक दाम सों प्रीति गुनहिं गुन अन्तर धार्‌यौ।
भक्तन को उत्कर्ष जनम भरि रसन उचार्‌यौ।।
सरल हृदै सन्तोष जहाँ तँह पर उपकारी।
उत्सव में सुत दान कर्म कियो दुसकर भारी।।
हरि गोविन्द जै जै गोविन्द गिरा सदा आनन्ददा।
'विट्ठलदास' माथुर मुकुट भयो अमानी मानदा।।८४।।

शब्दार्थ—माथुर मुकुट=मथुरा के चतुर्वेदीयों में श्रेष्ठ। अमानी=अहंकारहीन। मानदा=आदर देने वाले। अन्तर=भीतर, हृदय में। उत्कर्ष=श्रेष्ठता, बड़ाई। दुसकर=दुष्कर, कठिन, महान्।

भावार्थ—श्रीविट्ठलदासजी मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मणों में सिरमौर हुये। आप स्वयं सर्वथा अभिमान शून्य रहते हुये दूसरों को सम्मान देते थे। वैष्णवता के प्रतीक उर्ध्वपुण्ड्र तिलक, श्रीतुलसीजी की कण्ठी-माला आदि से आप अत्यन्त प्रेम करते थे तथा सब में गुण ही गुण देखते थे एवं सबके अवगुणों पर दृष्टिपात न करके सबके गुणों को हृदय में धारण करते थे। आपने जीवनभर भक्तों की महिमा जिह्वा से गान किया। आप परम सरल हृदय तथा सन्तोषी थे एवं सदा-सर्वत्र परोपकार में ही रत रहा करते थे। आपने भगवान् के उत्सव में पुत्र दानरूपी अत्यन्त महान कर्म किया जो औरों से असम्भव है। आपकी जिह्वा से

सदा-सर्वदा ''हरि गोविन्द जै जै गोविन्द'' का उच्चारण होता रहता था। जिसे सुनकर सबको परमानन्द प्राप्त होता था।।८४।।

व्याख्या—माथुर मुकुट—देखिये ''केशोभट नर मुकुटमनि'' की व्याख्या, छप्पय-७५। ''अमानी मानदा''-यह सन्त स्वभाव है। यथा-''सबहि मानप्रद आपु अमानी।।'' (रामा०), ऐसे महानुभाव ही श्रीभगवद्-भजन के अधिकारी है। यथा-''अमानिना मान देन कीर्तनीयः सदा हरिः।।'' (शिक्षाष्टक), ''तिलक दाम सों प्रीति''- कण्ठी, माला, तिलक आदि भगवान का वेश है, इनकी अनन्त महिमा है। (पूर्व प्रसंगों में यथा स्थान इनके माहात्म्य की चर्चा की जा चुकी है) अतः श्रीभगवद्-सम्बन्ध से इनसे अत्यन्त प्रेम करते थे। ''गुनहिं गुन अन्तर धार्‌यौ''- यह भी साधु का ही लक्षण है। यथा-''अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।। जड़ चेतन गुन दोषमय विश्व कीन्ह करतार। सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार।।, मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही।।'' (रामा०) पुनश्च-''खल चलनी तजि सार को गहैं असार विकार। सन्त सूप सम सार गहि त्यागै सदा असार।।'' (भ०व०टि०), ''भक्तन को उत्कर्ष'' -भगवान् स्वयं भक्तों का यशोगान करते हैं एवं दूसरों के मुख से श्रवण कर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। भगवान् को सन्तुष्ट करने का इससे श्रेष्ठ और कोई साधन नहीं है। यथा-''निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ। सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ।।'' (वि०), पुनः-''हरि को निज जस ते अधिक भक्तन जस पर प्यार। ताते यह माला रची करि ध्रुव कण्ठ सिंगार।।'' अतः आपने सदा ही भक्तों का यश गाया। ''सरल हृदै०''-यह साधु-स्वभाव है। यथा-''सरल सुभाव न मन कुटिलाई।।, सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीति।। यथा लाभ सन्तोष सदाई।।'' (रामा०), ''यथा लाभ सन्तोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो।।'' (वि०), ''सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः'' (पा०यो०द०), अर्थ- सन्तोष से सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति होती है। यथा-''पर उपकार वचन मन काया। सन्त सहज सुभाव खगराया। हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।।'' (रामा०), ''उत्सव में सुत दान''-इस सम्बन्ध में आगे देखिये कवित्त-३५२, ३५३, ३५४ की व्याख्या। ''हरि गोविन्द जै जै गोविन्द'' यह इनका तकिया कलाम था, बात-बात में यह मन्त्र उच्चारण करते रहते थे।

भाई उभै माथुर सुराना के पुरोहित हे, लरि मरे आपुस में जियो एक जाम है।
ताको सुत विट्ठल सुदास सुखरासि हिये लिये बैस थोरी भयौ बड़ौ सेवै स्याम है।।
बोल्यौ नृप सभा मध्य 'आवत न विप्र सुत छिप्र लैकै आवौ' कही, कह्यौ पूजै काम है।
फेरिकै बुलायौ 'करौ जागरन याही ठौर', काहू समझायौ गावै नाचै प्रेमधाम है।।३४८।।

शब्दार्थ—जाम=प्रहर, तीन घण्टे। बैस=वयस, अवस्था, आयु। छिप्र=शीघ्र। पूजै=पूरे, पूर्ण हुए। काम=मनोरथ, कामना।

भावार्थ—मथुरापुरी के चतुर्वेदी ब्राह्मणों में दो ब्राह्मण भाई उदयपुर के राणा के पुरोहित थे। एक बार धन के बंटवारे को लेकर दोनों भाईयों ने आपस में लड़ाई कर ली और दोनों इस प्रकार से घायल हो गये कि लड़ाई के बाद एक प्रहर जीवित रहने के अनन्तर दोनों की ही मृत्यु हो गयी। उन्हीं में से एक के पुत्र श्रीविट्ठलदासजी थे। आप बाल्यकाल से ही सुखसिन्धुराशि भगवान् को हृदय में बसाये हुये थे। निरन्तर भगवान् श्रीश्यामसुन्दर की सेवा-पूजा ही करते रहते थे। इस प्रकार से ये अवस्था में छोटे होने पर भी गुणों में महान् थे। एक दिन सभा में राणा साहब ने कहा कि पिताजी की मृत्यु के पश्चात् अब ब्राह्मण कुमार कभी भी सभा में उपस्थित नहीं होते हैं, उनको शीघ्रातिशीघ्र बुलाकर लाओ। राजकर्मचारियों ने जाकर श्रीविट्ठलदासजी को राजा का सन्देश सुनाया और कहा कि चलो, राणा साहब आपके समस्त मनोरथ पूर्ण कर देंगे। तब इन्होंने कहा कि श्रीभगवद्कृपा से मेरे सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गये हैं, अतः अब तो मैं एकमात्र श्रीभगवद्भजन को छोड़कर और कहीं भी आना-जाना नहीं चाहता। राजकर्मचारियों ने इनका संदेश राजा को जाकर सुनाया। किसी ने आपकी दिनचर्या देखकर राजा से कहा कि वह तो बड़े ही श्रीभगवद्प्रेमी हैं, दिन-रात श्रीभगवद्भक्तों के साथ प्रेमोन्मत्त होकर नाच-नाचकर भगवान् का ही गुण गाते रहते हैं। तब राजा ने इनको पुनः आमन्त्रित किया और प्रार्थना की, आज रात्रि में ''श्रीभगवन्नाम संकीर्तन पूर्वक जागरण हमारे यहाँ पर ही करने की कृपा करें।।३४८।।

व्याख्या—लरि मरे आपुस में—यह धन का दुष्परिणाम है। धन का नाम मात्र अर्थ है, वस्तुतस्तु है वह अनर्थ ही। (विशेष देखिये द्वितीयखण्ड पृष्ठ-५७४, ''जामें भरे कोटि रोग है'' की व्याख्या।) धन के लोभ में प्राणी कौन-सा अनर्थ नहीं कर डालता है। यथा-''लोभ है सकल पाप को मूल। जैसे फल पीछे लागत है पहले लागत फूल।। अपने सुत के काज कैकेयी दियो राम वनवास। भरता मरौ भरत दुख पायौ भयौ जगत् उपहास।। वासुदेव तजि अर्क उपासे सत्राजित मणि लीन। बन्धु सहित भौ निधन आपनो निन्दा सब जग कीन।।, भगवतरसिक भक्ति जो चाहै प्रथमहिं लोभहिं त्यागै। देह गेह सुख संपति दारा तब हरि सौं अनुरागै।।'' ''सुखराशि''-इसका तात्पर्य भगवान् से है। यथा-''जो आनन्दसिन्धु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी।। सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोकदायक

विश्रामा।।'' (रामा०), ''वैस थोरी भयौ बड़ौ'' यह भजन की महामहिमा है। यथा-''एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वसिष्ठ सम को जग माहीं।। जेहि लखि लखनहुँ तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ। सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ।।'' (रामा०) श्रीविट्ठलदासजी की भी छोटी आयु में ही विशेष ख्याति हो गयी थी। बड़ों के समाज में भी आपकी विशेष प्रशंसा होने लगी थी। ''आवत न विप्र सुत'' जिस समय आपके पिताजी लड़-झगड़कर मृत्यु को प्राप्त हुये थे, उस समय आप चैतन्य (जाग्रत) थे, लगभग उस समय आपकी आयु दस-बारह वर्ष की होगी। वह अकाण्ड-ताण्डव आपने अपने नेत्रों से देखा था। अर्थ की अनर्थरूपता भलीभाँति आपके समझ में आ गई थी, अत: आपने अर्थोपार्जन निमित्त राणा की पुरोहिताई करना उचित नहीं समझा। वैसे ही पौरोहित्य कर्म अत्यन्त निन्दनीय कहा गया है। यथा-''उपरोहित्य कर्म अति मन्दा। वेद पुराण स्मृति कर निन्दा।।'' (रामा०) उसमें भी राजा की पुरोहिताई जिसमें बलात् राजधान्य ग्रहण करना पड़ता है, जिसका शास्त्रों में विशेष रूप से निषेध किया गया है। दृष्टान्त-''शिलोच्छवृत्ति वाले ब्राह्मण का''-(देखिये द्वितीयखण्ड पृष्ठ-४९४), अत: आपने राजा की पुरोहिताई छोड़ दिया।

पूजै काम है—वैसे तो कामनाओं का अन्त नहीं है, न तो समस्त कामनाओं की पूर्ति ही सम्भव है। परन्तु भगवद् भजन से समस्त कामनाओं की जड़ मिट जाती है। यथा-''ऊसर बरसै तृण नहीं जामा। जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।।'' (रामा०), बिना हरि भजन के अन्य किसी भी साधन से कामनाओं का निराकरण असम्भव ही है। यथा-''राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल विहीन तरु कबहुँ कि जामा।।'' (रामा०), ''गावै नाचै''-यह भक्ति के चौंसठ अंगों में एक अंग है। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१९), भक्तिमान पुरुष प्रेमावेश में लोकलाज त्यागकर भगवान् के सम्मुख नाचते-गाते रहते हैं। यथा-''कबहुँक नृत्य करै गुण गाई।।'' (रामा०), ''करौ जागरन याही ठौर''-इसका भाव यह है कि पुरोहिताई करने भले न आवे, परन्तु श्रीभगवन्नाम-संकीर्तन में तो अवश्य ही आना चाहिए।

गये संग साधुनि लै बिनै रंग रँगे सब राना उठि आदर दै नीके पधराये हैं।
किये जा बिछौना तीनि छत्तनि के ऊपर लै नाचि गाय आये प्रेम गिरे नीचे आये हैं।।
राजा मुख भयौ सेत दुष्टनि कौं गारी देत सन्त भरि अँक लेत घर मधि ल्याये हैं।
भूप बहु भेंट करी देह वाही भाँति परी पाछे सुधि भई दिन तीसरे जगाये हैं।।३४९।।

शब्दार्थ—सेत=श्वेत, सफेद, कान्तिहीन, अति उदास।

भावार्थ—श्रीविट्ठलदासजी साधुओं को अपने साथ में लेकर राणा साहब के यहाँ पहुँचे। आपके सभी संगी-साथी परिकर सन्त विनय-प्रेमरंग में रँगे हुए थे, फिर तो इनके प्रेमरंग का तो कहना ही क्या है? राणा साहब ने आपको देखकर तुरन्त ही सिंहासन से उठकर अत्यन्त ही आदर-सत्कार किया और सभी साधुओं को भलीभाँति से आसन प्रदान किया। तत्पश्चात् आपके प्रेम की परीक्षा करने के लिए राणाजी कुछ दुष्टों के बहकावे में आकर जागरण के लिए महल की तीसरी मंजिल की, छत्त पर बिछौना बिछवाया सभी लोग प्रेमपूर्वक कीर्तन-नृत्य करने लगे। नाचते-गाते हुए श्रीविट्ठलदासजी को प्रेमावेश आया तो आप बेसुध होकर नृत्य-गान करते हुए छत्त से पृथ्वी पर गिर पड़े। यह देखकर राणा का मुख उदास हो गया-कान्तिहीन हो गया। तब राणाजी को क्रोधावेश हुआ तो उन दुष्टों को गाली देने लगे, कि मैंने इन लोगों के कहने के अनुसार ही तीसरी मंजिल की छत्त नियुक्त की थी, इसी के फलस्वरूप इतना महान् अनर्थ हो गया। साधु-सन्त श्रीविट्ठलदासजी को गोद में उठाकर घर ले आये। राणाजी ने अपने अपराध के लिए प्रायश्चित्त तथा आपकी वृद्ध माताजी की जीविका निमित्त बहुत-सा द्रव्य-धन भेंट में प्रदान किया। तीन दिन तक मूर्च्छित अवस्था में ही रहे। तीन दिन बाद जब श्रीवैष्णवों ने आपको जागृत किया तो आपको आपने शरीर की सुधि आई, आप उठकर बैठ गये। श्रीभगवद्-कृपा से आपके किसी भी अंग में कोई चोट नहीं आयी, आपकी जो मूर्च्छित-अवस्था हुई थी वह भी एकमात्र प्रेमजन्य ही हुई थी।।३४९।।

उठे जब माय ने जनाय सब बात कही सही नहीं जात निसि निकसे विचारिकै।
आये यों छठीकरा में गरुड़ गोविन्द सेवा करत मगन हिये रहत निहारिकै।।
राजा के जे लोग सु तौ ढूँढ़ि करि रहे बैठि तिया मात आई करैं रुदन पुकारिकै।
किये लै उपाय रही कितौ हा-हा खाय ये तौ रहे मँड़राय तब बसी मन हारिकै।।३५०।।

भावार्थ—श्रीविट्ठलदासजी की मूर्च्छित अवस्था समाप्त हो जाने पर जब उठे तो आपकी माताजी ने समस्त वृत्तान्त बताया, तो उसको सुनकर आपको असह्य कष्ट हुआ, अत: जगत् की असारता एवं श्रीहरि भजन की साररूपता का विचारकर आप रात्रि में ही घर से निकल पड़े। घूमते-फिरते छठीकरा ग्राम में आकर श्रीगरुड़-गोविन्द भगवान् की सेवा-पूजा करने लगे। भगवान् श्रीगरुड़-गोविन्दजी की छबि का अवलोकन कर हृदय में मग्न रहते थे। राणा साहब के कर्मचारियों के ढूँढ़ने पर भी आपको न खोज पाने के कारण अन्त में हारकर बैठ गये। परन्तु आपकी माताजी एवं पत्नी खोजते-खोजते छठीकरा में श्रीगरुड़-

गोविन्दजी के मन्दिर पर आयीं और आपको देखकर उच्चस्वर से क्रन्दन करने लगीं और आपको घर वापस चलने का विशेष आग्रह करने लगीं, परन्तु इन्होंने इनका एक शब्द भी स्वीकार नहीं किया आप उसी अपने नित्य-नियम में लगे रहे। अन्त में विवश होकर माताजी एवं पत्नी आपके ही निकट में रहने लगीं।।३५०।।

व्याख्या—माय ने जनाय सब बात कही— श्रीविट्ठलदासजी की प्रबल मूर्च्छा का होना, राजा के द्वारा दुष्टों के कहने से प्रेम की परीक्षा करने की दुरभिसंधि एवं अपराध परिमार्जनार्थ बहुत-सा द्रव्य-धन दानादि समस्त बातें माताजी ने आपसे कही। ''सही नहीं जात''-राजा का असद्भाव एवं माताजी की स्वार्थपरता दोनों ही आपके लिए असह्य थे। घर में पुत्र का मृतप्राय शरीर पड़ा हुआ है, और माता भेंट लेकर सन्तोष कर लेती है, भला यह बात कैसे सही जा सकती है। ''निकसे विचारिकै''-यही कि, यथा-''कोऊ काहू को नहीं देखो ठोंक बजाय।।, मातु-पिता स्वारथ रत ओऊ।।, सत हरि भजन जगत् सब सपना।।, माया सगी न तन सगा, सगा न यह संसार। परशुराम या जीव को, सगा सो सिरजनहार।।'' आदि।।

छठीकरा में गरुड़ गोविन्द— श्रीनन्दबाबा ने जहाँ पर अपने लाला श्रीकृष्ण-कन्हैया का छठी-महोत्सव मनाया था, उस स्थान का नाम छठीकरा पड़ा। यहीं पर श्रीगरुड़-गोविन्द भगवान् का मन्दिर है। वर्णन आया है कि प्रारम्भ से ही श्रीकृष्ण की पूतना-बध, शकटभंग, तृणावर्त-बध, यमलार्जुनोद्धार, वत्सासुर, बकासुर आदि का संहार जैसी चमत्कापूर्ण लीलाओं को देखकर बहुत से ग्वालबाल-सखा श्रीकृष्ण को भगवान् का अवतार कहने लगे। तब कुछ भोलेभाले सखाओं ने आपत्ति की कि भगवान् के तो चार भुजायें हैं, वे गरुड़ पर आरूढ़ होकर चलते हैं। परन्तु अपने कन्हैया के तो दो ही भुजायें हैं और गरुड़ की सवारी भी नहीं है, तब ये भगवान् कैसे हो सकते हैं? तब सुजान सखाओं के अनुरोध पर श्रीकृष्ण ने अपने भोले-भाले प्रिय सखाओं के भ्रम का निवारण करने हेतु यहीं पर अपने ऐश्वर्यमय गरुड़ारूढ़-स्वरूप का दर्शन कराया था। वही श्रीगरुड़-गोविन्द भगवान् हैं। भक्तों की प्रार्थना पर अद्यापि श्रीविग्रह-रूप में विराजमान हैं। अपना अचिन्त्यानन्त ऐश्वर्य दिखाने के लिए चार भुजाओं की तो बात ही क्या? आपने द्वादश भुजा धारण करके ग्वालबाल-सखाओं को दर्शन दिया था। चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए थे दो भुजाओं में धनुष-वाण दो भुजाओं में मुरली-लकुट दो भुजाओं में हल-मूसल एवं दो भुजाओं में दण्ड-कमण्डलु धारण किये हुए थे। आपका बड़ा दिव्य-दर्शन है, आपके दर्शनमात्र से ही मन की वृत्ति श्रीगरुड़-गोविन्द भगवान् में लीन हो जाती है।

देख्यो जब कष्ट तन प्रभू जू स्वपन दियौ 'जावौ मधुपुरी' ऐसै तीन बार भाषियै।
आये जहाँ जाति-पाँति छाये कछु औरै रंग देख्यो एक खाती साधु संग अभिलाषियै।।
तिया रहे गर्भवती सती मति सोच रती खोदि भूमि पाई प्रतिमा सुधन राषियै।
खाती को बुलाय कही 'लही, यहु लेहु तुम' उन पाँय परि कह्यौ रूप सुख चाषियै।।३५१

शब्दार्थ— खाती=बढ़ई। सोचरती=शोकरत हुई, दुःख हुआ।

भावार्थ— छठीकरा (श्रीगरुड़-गोविन्द) निवासकाल में एकबार आपको शरीर पीड़ा हो गयी। आपके शारीरिक कष्ट को देखकर भगवान् श्रीगरुड़-गोविन्दजी ने स्वप्न में आदेश दिया कि तुम मथुरा चले जाओ। भगवान् ने क्रमशः तीन दिन लगातार इस प्रकार का स्वप्नादेश दिया। तब आप माताजी एवं पत्नी को साथ लेकर मथुरा चले आये। जहाँ पर आपके सम्बन्धीजन एवं जाति-बिरादरी के लोग रहते थे। परन्तु आपने देखा तो वहाँ कुछ और ही रंग-ढंग है। हाँ, एक बढ़ई अवश्य ऐसा था जो कि सदा साधु-संग की अभिलाषा करता था। उसकी सज्जनता को देखकर आप उसी के घर में रहने लगे। उस समय आपकी पत्नी गर्भवती थीं और धन के अभाव में उस सतीसाध्वी पति-परायणा की बुद्धि अत्यन्त शोकमग्न रहा करती थी कि किस प्रकार से इस समस्या का समाधान होगा। दैवयोग से एक दिन कार्यवशात् घर में मिट्टी खोदते समय पृथ्वी में गड़ा हुआ धन एवं श्रीठाकुरजी की एक प्रतिमा मिली, श्रीविट्ठलदासजी ने बढ़ई को बुलाकर कहा-देखो तुम्हारे घर में पृथ्वी में गड़ा हुआ यह धन और श्रीठाकुरजी की प्रतिमा मुझे मिली है, इसे ग्रहण करो, परन्तु उस बढ़ई ने आपके चरणों में नत-मस्तक होकर प्रणाम करते हुए कहा कि इस धन से आप ही श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा कीजिये एवं श्रीठाकुरजी के परम रूपमय श्रीमुख का दर्शन कर आनन्द लीजिये। हम तो आपके दर्शन और सत्संग से ही परम सुखी हैं।।३५१।।

व्याख्या—देख्यो जब कष्ट तन— श्रीगरुड़-गोविन्द भगवान् के मन्दिर से आपको एक पारस (एक व्यक्ति का भोजन-प्रसाद) मिलता था, उससे आपका निर्वाह भलीभाँति रूप से हो जाता था, परन्तु आपकी माताजी और पत्नी के आ जाने पर अब तो एक ही पारस में तीन व्यक्ति प्रसाद पाने वाले हो गये, अब एक पारस से तीनों की पूर्ति नहीं होती थी। आप अपनी जीविका पालन हेतु और कोई अन्य उद्योग भी नहीं करते थे, केवल प्राण-रक्षार्थ अल्प ही प्रसाद ग्रहण कर लेते थे एवं शेष प्रसाद अपनी माताजी एवं पत्नी को दे दिया करते थे, फलस्वरूप श्रीविट्ठलदासजी का शरीर क्षीण-दुर्बल होने लगा, इस क्षीणता का भजनभाव पर भी कुप्रभाव पड़ा। कहावत है-'' भूखे भजन न होय गोपाला। यह लो अपनी कण्ठी माला।।'' शारीरिक कृशता

के साथ जब भजनभाव में भी कृशता आने लगी तो आप चिन्ताग्रस्त हो गये, स्वयं भूखे रह जायँ इसका आपको कोई कष्ट नहीं था परन्तु माताजी एवं पत्नी को पूर्ण भोजन-प्रसाद न मिलने के कारण से आपका ध्यान इनमें ही लगा रहता था। भजनभाव में न्यूनता आने लगी एवं आपका शरीर भी दिन-प्रतिदिन क्षीण-दुर्बल होता गया, इससे भी सोच में वृद्धि हो रही थी। आपके चिन्ताग्रस्त हो जाने के कारण धीरे-धीरे व्याधियों ने भी शरीर पर अपना अधिकार प्रारम्भ कर दिया, कष्ट बढ़ता ही जा रहा था उसके निवारण का कोई उपाय नहीं था। अत: श्रीप्रभु ने आपको स्वप्न में मथुरा चले जाने के लिए कहा।

छाये कछु औरै रंग—श्रीविट्ठलदासजी की जाति-पाँति के लोग भगवान् से विमुख होकर रात-दिन गाँजा, भाँग, तम्बाकू आदि की मादकता में ही उन्मत्त रहते थे, बात-बात में रुपया-पैसा के लिए लड़ाई-झगड़ा करते रहते थे, कहीं से यदि इनको भोजन का निमन्त्रण मिल जाय तो उसी को अपना ब्रह्मानन्द समझते थे, भूल से भी उन लोगों के मुख से श्रीभगवन्नाम नहीं निकलता था, उनका मन्त्र तो भाँग-धतूरा ही था। यथा-''तुरसी कुरसी सौ कलौ चढ़ई हरि के अंग। पीवत ही वैकुण्ठ को लिये जात है भंग।। भाँग जु ऐसी खाइयै, आवै अन्धाधुन्ध। कुनबा जानै मर गये, जीव करै आनन्द।। हरी भाँग में हरि बसैं भूजी में भगवान्। जा मुख विजया नहिं परै सो मुख जान मशान।। तनक तमाखू देत है निज मित्रन में बैठि। ानौ सौ गइया दई गंगाजी में पैठि।। चून तमाखू सानिके बिन माँगे जो देत। शिवपुर सुरपुर ागपुर सबै जीति सो लेत।। नै नारायण चिलम चतुर्भुज हुक्का हरि को बैन। काशी बसिकैं कहा ौ चलौ तमाखू लैन।। आदि। भला बताइये कि इस प्रकार के लोगों के बीच में रहकर किसी णव का कैसे निर्वाह होना सम्भव है? जो कि न्योता न मिलने पर प्राण देने को तत्पर रहते हैं।

दृष्टान्त—एक चौबे का—ग्रीष्म ऋतु का समय था, कहीं से चतुर्वेदीजी निमन्त्रण भोजन करके आये थे। अधिक भोजन कर लेने के कारण अजीर्ण हो गया था, अब ये -दस्त दोनों से ही ग्रस्त हो रहे थे। ठीक उसी समय एक सेठजी का मुनीम इनको त्रण देने आया तो इनकी पत्नी ने चौबेजी की दुर्दशा देखकर निमन्त्रण लेने से मना दिया। खाट पर पड़े-पड़े चौबेजी सुन रहे थे। एक-दो बार मुनीमजी ने कहा कि आप स्वीकार कर लें, परन्तु चौबाइनजी नहीं मानीं। तब चौबेजी ने दाँत पीसकर कहा- मन्यस्व मन्यस्व दुर्भगे दु:खकारिणि। परान्नं दुर्लभं लोके देहोऽयं च पुन: पुन:।।'' तुर्वेदीजी तो कहा करते थे कि-''अमरेण वृथा प्रोक्तं मेघाच्छन्नेऽहिन दुर्दिनं। दुर्दिनं मन्ये यदस्त्यामन्त्रणं विना।।'' इस प्रकार से जाति-पाँति वालों का व्यवहार

श्रीविट्ठलदासजी को पसन्द नहीं आया और उधर चौबे लोग इन्हें देखकर प्रेम-सद्भाव से मिलना तो दूर रहा, उल्टे व्यंग और करने लगे-''अरे, यह तो विरक्त हो गये थे, फिर घर क्यों आये, घर वापस आना ही था तो पहले घर से क्यों चले गये, फिर पत्नी-माता को साथ लिए क्यों घूम रहे हैं, न इधर के रहे न उधर के, न घर के रहे न घाट के, न दीन के रहे न दुनिया के।। आदि।। इस प्रकार कटाक्ष-व्यंग-वार्ताओं को सुनकर इनका मन और उपराम हुआ, अत: जाति-पाँति वालों के यहाँ न जाकर एक बढ़ई के घर में ही ठहरे। बढ़ई विशेष सत्संग-प्रेमी था, यह भी किसी जिज्ञासु साधुसेवी के खोज में था। दोनों की अभिलाषा पूर्ण हुई। बढ़ई ने इनके निवास के लिए एक बड़ी-सी दालान (बैठक) दे दी।

खोदि भूमि पाई प्रतिमा सुधन—-बात यह हुई कि इनकी पत्नी आसन्न प्रसवा थीं। अत: प्रसव के लिए एकान्त-स्थल की आवश्यकता विचारकर उसी बैठक में एक दीवार लगाने के लिए नींव खोद रहे थे, उसी खुदाई में श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह एवं धन मिला। ''खाती को बुलाय....मुख चाषियै''-इन्होंने बढ़ई को बुलाकर के कहा कि देखो भाई, यह तुम्हारे ही पूर्वजों का गाड़ा हुआ धन है, अत: इस पर तुम्हारा ही अधिकार है, तुम ही इसे स्वीकार करो। बढ़ई ने कहा-महाराज! यदि यह मेरे ही भाग्य में होता तो यह पहले ही मुझको मिल गया होता। यह तो आपके ही भाग्य से मिला है अत: इसे आप ही सहर्ष स्वीकार करें। इस प्रकार से दोनों ही धन लेने के इच्छुक नहीं थे। अन्त में पंचायत बुलवाई गयी, ग्राम के योग्य विचारवान् पंचों ने अन्तिम निर्णय यह दिया कि भाई, एकमात्र धन ही नहीं है, धन के साथ में श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह भी है। इसका अर्थ यह होता है कि धन भी श्रीठाकुरजी की सेवा के निमित्त सुरक्षित रखा गया था। इसका वास्तविक अधिकारी वही है जो श्रीठाकुरजी की सेवा करे। तब बढ़ई ने कहा-पंचो! यदि ऐसी बात है तो यह धन और श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह इन्हीं को मिलना चाहिए। क्योंकि श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा ये ही अच्छी प्रकार से कर सकते हैं। मैं अशिक्षित गवाँर ठाकुर की सेवा-पूजा क्या जानूँ? पंचों ने सर्वसम्मति से धन एवं प्रतिमा श्रीविट्ठलदासजी को ही दे दी। इस पर-

दृष्टान्त—दो किसानों का—प्रसंग श्रीयुधिष्ठिरजी महाराज के राज्यकाल का है। एक बड़े किसान का खेत एक गरीब किसान बटाई पर जोतता, बोता था। दैवयोग से उसे एक दिन खेत खोदते समय अशर्फियों से भरा एक घड़ा मिला। वह उस घड़े को लेकर खेत के मालिक के पास आया और बोला-यह आपके पूर्वजों की निधि है आप इसे रखो। खेत मालिक ने कहा-नहीं, यह तुम्हारे भाग्य से मिला है, तुम रखो। दोनों में बहुत विवाद हुआ, अन्त में न्याय करनवाने के लिए

श्रीयुधिष्ठिरजी महाराज के पास पहुँचे। श्रीधर्मराजजी भी बहुत असमंजस में पड़ गये कि क्या करूँ? दोनों ही महात्यागी हैं, अन्त में उन्होंने कहा कि ठीक है, इस समय हम यह धन तुम दोनों के नाम से राज्यकोष में जमा करा देते हैं। तुम लोग घर जाकर इस पर पुनः विचार-विमर्श करना। जब भी तुम दोनों इस धन को चाहोगे, तब यह धन न्यायपूर्वक तुमको प्रदान कर दिया जायेगा। अब दोनों अपने-अपने घर वापस आ गये। कुछ समय व्यतीत होने पर जब कलियुग का प्रवेश हुआ तो दोनों की बुद्धि मलीन हो गयी। अब दोनों के मन में धन का लोभ उत्पन्न हुआ, दोनों ही अपनी भूल का पश्चात्ताप करने लगे और अन्त में दोनों एक ही दिन श्रीधर्मराज युधिष्ठिजी महाराज के पास आकर अपना धन माँगने लगे। कहते हैं कि श्रीयुधिष्ठिरजी ने उस धन का न्याय इस प्रकार से किया कि एक गरीब किसान के पास विवाह योग्य कन्या थी एवं एक दूसरे किसान के पास विवाह योग्य लड़का था, उन दोनों का विवाह सम्बन्ध कराकर समस्त धन नव वर-बधू को सादर समर्पित कर दिया। इससे दोनों को सन्तोष हुआ।

करैं सेवा-पूजा और काम नहिं दूजा तब फैलि गई भक्ति भये शिष्य बहु भायकै।
बड़ोई समाज होत मानौं सिन्धु सोत आये बिबिध बधाये गुनीजन उठे गायकै।।
आई एक नटी गुण रूप धन जटी वह गावै तान कटी चटपटी-सी लगायकै।
दिये पट भूषन लै भूख न मिटत किहूँ चहुँदिसि हेरि पुत्र दियौ अकुलायकै।।३५२।।

शब्दार्थ—भायकै=भाव-प्रेम करके। जटी=जड़ी हुई। कटी=कटीली, सुरीली। चटपटी=चटकीली, मनमोहिनी। भूख=इच्छा। हेरि=देखि।

भावार्थ—अब श्रीविट्ठलदासजी सदा भगवान् की ही सेवा-पूजा में लगे रहते थे। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा कार्य नहीं करते थे। धीरे-धीरे जब आपकी भक्ति की कीर्ति चारों ओर फैल गयी, तो बहुत से लोग प्रेमपूर्वक आकर आपके शिष्य बन गये। आपके यहाँ उत्सव-समैया पर रसिकजनों तथा गुणी-गायकजनों का बहुत बड़ा समाज एकत्रित होता था। उस समय चारों ओर से उमड़ते हुए भक्तजन इस भाँति आपके यहाँ आते थे जैसे नदियाँ उमड़ती हुईं सागर में मिलने जाती हैं। एक बार ऐसे ही समाज के अवसर पर गुणीजनों ने बधाई के विविध पद गाये। सभी भक्तजन आनन्द में झूम-झूमकर भक्तिरस में सराबोर हो रहे थे। इसी बीच वहाँ रूप, गुण, धन से जटित एक नटी आयी और भगवान् के समक्ष नृत्य-गान करने लगी। जब वह विविध मूर्च्छनाओं के साथ कटीली तान से सभी के हृदय में प्रेम की चटपटी-सी उत्पन्न करती हुई गाने लगी तो उसके कौशल पर रीझकर श्रीविट्ठलदासजी ने पुरस्कार में उसे बहुत से वस्त्राभूषण दिये परन्तु फिर भी उनको सन्तोष

नहीं हुआ तो चारों ओर देखकर जब अन्य कोई वस्तु देने योग्य नहीं मिली तो प्रेम से व्याकुल होकर अपने पुत्र को ही भगवान् के ऊपर न्योछावर करके उस नटी को दे दिया।।३५२।।

व्याख्या—काम नहिं दूजा—यह परम भागवतों की रहनि है कि वे अपने आराध्य की आराधना के अतिरिक्त मन को अन्य किसी भी कार्य में नहीं लगाते हैं। यथा-श्रीकाकभुशुण्डिजी-''तजि हरि भजन काज नहिं दूजा।।' (रामा०), श्रीहरिराम व्यासजी यथा-''जाकी उपासना ताही की वासना ताही कौ नाम रूप गुन गाइयै। यहै अनन्य धर्म परिपाटी वृन्दावन बसि अनत न जाइयै।। सोई व्यभिचारी आन कहै आन करै ताको मुख देखे दारुण दुख पाइयै। व्यास होइ उपहास त्रास कियें आस अछत कित दास कहाइयै।। ''गुण रूप धन जटी''- अर्थात् उस नटिनी का रूप तो सुन्दर था ही, उस पर भी वह धन जटी अर्थात् बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत थी, साथ ही गुणवती भी थी। मन को मोहित करने के लिए तो एक ही पर्याप्त है लेकिन जहाँ पर ये तीनों हों, वहाँ का तो कहना ही क्या है। जैसे-पित्त, कफ, वायु ये तीनों मिलकर प्रबल होकर सन्निपात उत्पन्न करते हैं, जिसमें रोगी अपनी समस्त सुधि बुधि खो बैठता है। ठीक उसी प्रकार से शोभा, शृंगार और गुणों का उत्कर्ष भी प्राणी को तत्क्षण उन्मत्त बना देता है। ''दिये पट भूषन''-श्रीविट्ठलदासजी ने प्रथम तो अन्यान्य वस्तुयें न्योछावर में दीं, परन्तु जब उससे भी आपको सन्तोष नहीं हुआ तो श्रीठाकुरजी के वस्त्राभूषणों को देने लगे तब भी आपकी तृप्ति नहीं हुई तो अपने पुत्र को ही उस नटिनी को न्योछावर में दे दिया। ऐसे रिझवार थे श्रीविट्ठलदासजी। (इस पर दृष्टान्त श्रीरामरयनजी का-श्रीरासविहारी भगवान् को अपनी पुत्री ही अर्पित कर दिये। देखिये कवित्त-४८९)

'रंगीराय' नाम ताकी शिष्या एक राना सुता भयो दुख भारी नेकु जलहूँ न पीजियै।
कहिकै पठाई वासौं चाहौ सोई धन लीजै मेरौ प्रभुरूप मेरे नैननि कूँ दीजियै।।
द्रव्य तौ न चाहौं रीझि चाहौं तन मन दियौ फेरिकै समाज कियौ विनती कौ कीजियै।
जिते गुनीजन तिनै दियो अनगन दाम पाछे नृत्य कर्‌यो आप देत सो न लीजियै।।३५३।।

शब्दार्थ—समाज=भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीलादि का कीर्तन करने वालों की सभा। अनगन=अगणित।

भावार्थ—श्रीविट्ठलदासजी के सुपुत्र का नाम श्रीरंगीरायजी था। श्रीराणा साहब की एक पुत्री श्रीरंगीरायजी की शिष्या थी। जब उसने सुना कि हमारे श्रीगुरुदेवजी को उनके पिताजी ने न्योछावर में किसी नटिनी को दे दिया है तो उसे अत्यन्त दुःख हुआ, उसने एकदम अन्न-जल का परित्याग कर दिया। राणा सुता ने उस नटिनी को सन्देश भेजा कि तुम्हें जितने धन की कामना हो उतना धन ले लो, लेकिन मेरे नेत्रों की परमनिधि

मेरे श्रीभगवद्स्वरूप श्रीगुरुदेवजी को मुझे वापस दे दो। उस नटिनी ने उत्तर में कहा कि द्रव्य की तो मुझे किंचित्मात्र भी चाहना नहीं है, हाँ मैं रीझकर तो अपना तन-मन तथा सर्वस्व दे सकती हूँ। तब राणाजी की सुपुत्री ने श्रीविट्ठलदासजी से पुनः समाज कराने की प्रार्थना की, उसकी प्रार्थना स्वीकार कर श्रीविट्ठलदासजी ने द्वितीय बार समाज का आयोजन किया। समाज कराने का समस्त खर्च राणा की पुत्री ने ही किया। समाज में जितने भी गायक-गुणीजन आये थे, उन्हें उसने अगणित द्रव्य प्रदान किया। तत्पश्चात् राणा की पुत्री ने स्वयं भी समाज में नृत्य किया। इनके नृत्य पर गायक-गुणीजन एवं आगन्तुकों की प्रसन्नता की तो बात ही क्या, स्वयं वह नटिनी भी न्योछावर में बहुत-सा धन देने लगी, परन्तु उसने उस धन को लेने से मना कर दिया।।३५३।।

ल्याई एक डोला में बैठाय रंगीराय जू कौ सुन्दर सिंगार कही बार तेरी आइयै।
कियौ नृत्य भारी जो विभूति सो तौ वारी लिये भरि अँकवारी भेंट किये द्वार गाइयै।।
मोहन न्योछावर मैं भयौ मोहि लेहु मति' लियौ उन शिष्य तन तज्यौ कहाँ पाइयै।
कह्यौ जू चरित्र बड़े रसिक विचित्रनि कौ जोपै लाल मित्र कियौ चाहौ हिये ल्याइयै।।३५४

शब्दार्थ—विभूति=धन-सम्पत्ति। वारी=न्योछावर की। अँकवारी=गोद। लाल=नँदलाल।

भावार्थ—वह नटिनी श्रीरंगीरायजी का सुन्दर श्रृंगार करके इन्हें एक डोले में बैठाकर सभा में लायी और इनसे बोली कि अबकी बार तुम्हें भी न्योछावर करना है। अपने श्रीगुरुदेवजी को आया देखकर राणाजी की सुपुत्री ने प्रेमावेश में बड़ा प्रभावशाली नृत्य किया। नटिनी ने राणा सुता के नृत्य से मुग्ध हो, जो इसके पास धन-सम्पत्ति थी, उसे तो इसने पहले ही न्योछावर कर दी थी तथा राणा सुता ने भी उस न्योछावर को लेने से मना कर दिया था। अतः अबकी बार नटिनी ने श्रीरंगीरायजी को ही गोद में उठाकर श्रीठाकुरजी के द्वार पर ले जाकर भगवान् को न्योछावर करके राणा सुता को भेंट किया, जब राणा सुता ने उनको लेने के लिये हाथ बढ़ाया तो इन्होंने कहा कि मैं तो प्रथम में ही श्रीमनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रजी के न्योछावर हो चुका हूँ, अतः तुम मुझे मत लो। परन्तु प्रेमार्त्त उनकी शिष्या राणा सुता ने इन्हें ले ही लिया। इस प्रकार राणा की पुत्री का अभीष्ट तो सिद्ध हो गया, लेकिन दूसरे ही क्षण श्रीरंगीरायजी ने अपने तन को त्याग दिया। ऐसे श्रीरंगीरायजी को एवं उनकी इस प्रकार की श्रद्धा-निष्ठा को कोई कहाँ पा सकता है? श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैंने ऐसे परम विचित्र रसिकों के चरित्र कहे। यदि आप श्रीब्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी को अपना मित्र बनाना चाहते हैं तो ऐसे रसिक महानुभावों का चरित्र हृदय में धारण करना चाहिये।।३५३।।

व्याख्या—मोहन न्योछावर मैं भयौ—श्रीरंगीरायजी को एक बार इनके पिताजी ने भगवान् को न्योछावर करके नटिनी को दे दिया था। अब नटिनी ने भी इन्हें श्रीठाकुरजी को न्योछावर करके राणा सुता को दे रही है। न्योछावर की यह परम्परा श्रीरंगीरायजी को रुची नहीं, क्योंकि व्यापारी के माल की तरह एक हाथ से दूसरे हाथ में जाना उचित नहीं लगा। भगवान् पर तो एक बार ही न्योछावर हुआ जाता है। अतः अबकी बार आपने स्वयं अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया था कि अब मैं अपने देह के साथ-साथ, अपने प्राणों को भी श्रीठाकुरजी के चरणों में न्योछावर कर दूँगा। अपने इस दृढ़ निश्चय के अनुसार ही आपने राणा सुता को न्योछावर में स्वयं को लेने से निषेध किया था। "तन तज्यौ"—इसका एक कारण तो प्रथम में ही लिखा जा चुका है। दूसरा कारण यह भी है कि आपको इस बात की मन में अत्यन्त ग्लानि हुई कि कहाँ तो गुरु शिष्य को संसार बंधन से मुक्त करता हैं, कहाँ आज शिष्य ही मुझ गुरु को नटिनी के बन्धन से मुक्त कर रहा है, यह लोक में लज्जा की बात है। लोक में लज्जित होकर जीवन धारण करने की अपेक्षा मृत्यु को प्राप्त होना ही श्रेयस्कर है। अतः तन तज्यौ०।।

दृष्टान्त—भीम का—श्रीद्रौपदीजी के चीर हरण प्रसंग में जब द्रौपदी की आर्त्त-पुकार पर द्रवित होकर भगवान् श्रीकृष्ण ने उनका वस्त्र बढ़ाया तो उस समय धृतराष्ट्र परम सती श्रीद्रौपदीजी के इस अलौकिक पातिव्रत्य के प्रभाव से विशेष चमत्कृत हुए और प्रसन्न होकर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुये इच्छित वर माँगने को कहा। तब द्रौपदीजी ने यह वर माँगा कि आपके पुत्रों ने जो छलपूर्वक जुआ (द्यूत, क्रीड़ा) में हराकर धर्मराज श्रीयुधिष्ठिजी महाराज को दास बना लिया है, उनको शीघ्र ही दासता के बन्धन से मुक्त किया जाय। धृतराष्ट्र ने यह वर देकर पुनः कहा कि पुत्री! मात्र एक वर देने से मुझे सन्तोष नहीं हो रहा है, अतः तुम पुनः दूसरा वर माँगो। तब द्रौपदीजी ने दूसरा वर यह माँगा कि मेरे सभी पति दासता के बन्धन से मुक्त कर दिये जायँ। यह वर देकर धृतराष्ट्र ने पुनः तीसरा वरदान माँगने को कहा। तब द्रौपदीजी ने कहा कि प्रथम तो अधिक लोभ उचित नहीं है, दूसरे मुझे तीन वरदान लेने का अधिकार भी नहीं है। यथा—"**एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ। त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतंवराः।।**" (**महाभारत, स.प.अ.-७१**, श्लोक-३५), अर्थ-राजेन्द्र! वैश्य को एक वर माँगने का अधिकार बताया गया है। क्षत्रिय स्त्री दो वर माँग सकती है एवं क्षत्रिय पुरुष तीन वर माँग सकता है तथा ब्राह्मण को एक सौ वरदान लेने का अधिकार है। अतः मैं अब आपसे तीसरा वरदान नहीं माँग सकती हूँ। पुनः

धृतराष्ट्र चाहते थे कि द्रौपदी तीसरे वरदान में द्यूत-क्रीड़ा द्वारा गया हुआ अपना राज्य भी वापस माँग ले। परन्तु द्रौपदीजी तो यह समझती थीं कि मेरे पति महावीर हैं, ये राज्य तो अपने भुजबल से भी प्राप्त कर लेंगे फिर उसे क्या माँगना? अत: तीसरा वरदान नहीं माँगा। कहते हैं कि यह सब होने के पश्चात् श्रीभीमसेनजी अत्यन्त खेदपूर्वक बोले कि धिक्कार है हम लोगों के पुरुषार्थ को, वीरता को, मनुष्यत्व को, जो कि हम लोग अबला के छुड़ाने से दासत्व के बन्धन से छूटे हैं। कहाँ तो पुरुष, स्त्री का पति होता है, उसका रक्षक होता है, कहाँ आज स्त्री ही हम लोगों की रक्षा कर रही है और हम पुरुष होकर भी स्त्री की रक्षा नहीं कर सके। भैया सहदेव! अग्नि तो लाओ। श्रीअर्जुनजी ने पूछा-ऐसे अवसर पर अग्नि की क्या आवश्यकता है? भीमसेन ने कहा-धर्मराज युधिष्ठिरजी महाराज ने जिन हाथों से जुआ जैसा निन्द्य क्रीड़ा खेलकर यह महान् अनर्थ उत्पन्न किया है हम उनके दोनों हाथों को जलायेंगे। श्रीअर्जुनजी ने जैसे-तैसे समझा-बुझाकर भीमसेन को शान्त किया, तो जैसे भीमसेन को अत्यन्त ग्लानि हुई थी।'' ठीक उसी प्रकार से ही श्रीरंगीरायजी को भी अत्यन्त ग्लानि हुई, अत: ''तन तज्यौ''।

कह्यौ जू चरित्र बड़े रसिक विचित्रनि कौ—इस प्रसंग के सभी पात्र विचित्र रसिक हैं। श्रीविट्ठलदासजी ऐसे रसिक हैं कि इन्होंने अपने प्रिय पुत्र को ही न्योछावर कर दिया। राणा सुता ऐसी विचित्र रसिक हैं कि इन्होंने श्रीसद्गुरुदेवजी की प्राप्ति के लिये लोक-लाज, कुल-मर्यादा का भी उल्लंघन कर भरी सभा में उद्दाम-नृत्य-गान करके नटिनी को प्रसन्न किया। नटिनी ऐसी विचित्र रसिक है कि कहती है कि-''द्रव्य तौ न चाहौं रीझि चाहौं तन मन दियौ।'' जबकि यह पेशेवर जाति है, धनादि के लिये ही इनका समस्त कौशल होता है। श्रीरंगीरायजी ऐसे विचित्र रसिक निकले कि श्रीठाकुरजी के ऊपर यथार्थ में तन-मन-धन एवं निजप्राणों को न्योछावर कर दिया। अत: श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैंने इस प्रसंग में परम विचित्र रसिकों का चरित्र कहा।

श्रीहरिरामजी हठीले

हरिराम हठीले भजनबल राणा को उत्तर दियौ।।
उग्रतेज, ऊदार, सुघर, सुथराई सींवा।
प्रेमपुंज, रससासि, सदा गद्गद सुर ग्रीवा।।
भक्तन को अपराध करै ताकौ फल गायौ।

हिरण्यकशिपु प्रह्लाद प्रगट दृष्टान्त दिखायौ।।
सस्फुट बकता जगत् में राजसभा निधरक हियौ।
हरिराम हठीले भजनबल राणा को उत्तर दियौ।।८५।।

शब्दार्थ—हठीले=हठी, दृढ़-प्रतिज्ञ। राणा=राजपूत सरदार, राजा, चित्तौड़ के राजाओं की पदवी। उग्र=प्रचण्ड, तीक्ष्ण। तेज=प्रताप, प्रभाव। सुघर=सुन्दर। सुथराई=सफाई, स्वच्छता, निर्मलता। प्रेमपुंज=महान् प्रेमी, प्रेमराशि। ग्रीवा=कण्ठ। सस्फुट=स्पष्ट, साफ-साफ, सत्य। निधरक=निडर, निर्भीक।

भावार्थ—श्रीहरिराम हठीलेजी ने भजन के बल से चित्तौड़ के राणा के साथ निर्भय होकर उत्तर-प्रत्युत्तर किया। आप परम तेजस्वी, उदार, सुन्दर एवं स्वच्छता, पवित्रता की सीमा थे। आप प्रेम के निधान तथा भक्तिरस की राशि थे। प्रेमावेश के कारण आपके कण्ठ का स्वर सदैव गद्गद रहा करता था अर्थात् सदा गद्गद वाणी में ही बोलते थे। भक्तों का अपराध करने पर, उसका क्या दुष्परिणाम भोगना पड़ता है, यह बात आपने जोर देकर कही है और इसकी पुष्टि में आपने हिरण्यकशिपु एवं श्रीप्रह्लादजी का ज्वलन्त दृष्टान्त दिया है। आप संसार में बड़े स्पष्ट वक्ता थे। आपने राज्यसभा में भी निर्भय होकर राणाजी को उत्तर दिया।।८५।।

व्याख्या—हरिराम हठीले—आप अपने सिद्धान्त के बड़े पक्के थे। दृढ़-प्रतिज्ञ एवं हठी थे, अत: आपका नाम ही ''हठीले'' पड़ गया। ''भजन बल''-यह सर्वोपरि बल है। यथा-''तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा।।'' (रामा०), सर्वशक्तिमान् परमात्मा भी भजन बल के सम्मुख नतमस्तक हो जाते हैं। यथा-''कौतुक देखि चले गुरु पाहीं।। जानि बिलम्ब त्रास मन माहीं।। जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाव देखावत सोई।।'' (रामा०), फिर तो राणा जैसे राजा की तो बात ही क्या है ''राणा को उत्तर दियौ'' -समर्थ पुरुष एवं चतुर-विवेकी पुरुष अनीति देखकर चुप नहीं रह सकते हैं। यथा-''चोर चुप्प ह्वै रहै रात में पर घर ताकै। तिरिया चुप करि रहै खसम डर बोलि न साकै।। चाकर चुप ह्वै रहै सील साहिब को मानै। मूरख चुप करि रहै सभा में बोलि न जानै।। पीपर पत्र हस्तीकरन ये निसिदिन डोलत रहैं। बेताल कहैं विक्रम सुनौं चतुर चुप्प क्यों कर रहैं।।'' ''भक्तन को अपराध'' यथा-''जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।। लोकहुँ वेद विदित इतिहासा। यह महिमा जानै दुरवासा।। मानत सुख सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैर अधिकाई।।'' (रामा०), सपनेहुँ सुख न सन्त द्रोही कहुँ सुरतरु सोउ

विष फरनि फरै।।'' (वि०), (सम्पूर्ण पद, पूर्वार्द्ध पृष्ठ-३३० पर देखें), यथा-''साधु सताये हानि त्रय अर्थ धर्म अरु वंस। टीला नीके देखिले रावन कौरव कंस।। रावणारि के दास को कायर करहिं कुचालि। खरदूषण मारीच ज्यों नीच जाहिंगे कालि।। धनुष बाण धारे रहत अग्रदास के काज। भीर परै जहँ भक्त पै सावधान रघुराज।।'' भगवान् का अवतार ही ''परित्राणाय साधूनां'' होता है। यथा-''भगत के अपराधी दुखिया। इहाँ उहाँ कहुँ चैन न पावैं निज कृत फल चखिया।। निज भक्तन की सेवा कीने दुहुँ ठां ते सुखिया। रावन कंस दुजोधन कौरव हिरनकसिपु से मुखिया। सकुल सदल बल नास भयेहू जग कलंक रखिया। सुर भूसुर रिषि जगत् पूज्य हैं श्रुति पुरान साखिया।। दुरवासा सुरपति असुथामा सरन गये हरि नखिया। राममित्र दासन अपराधे नरकहुँ ठौर न लखिया।।''

सस्फुट बकता—यह सन्त की रहनि है। सन्त बोलेंगे तो सत्य यथार्थ, स्पष्ट अन्यथा मौन ही रहेंगे। यथा-''की मुख पट दीन्हे रहें यथा अर्थ भाषन्त। तुलसी या संसार में सो विचारयुत् सन्त।। बोलै वचन विचारिकैं लीन्हे सन्त सुभाव। तुलसी दुख दुर्वचन के पन्थ देत नहिं पाँव।। शत्रु न काहू को गनैं मित्र गनैं नहिं काहि। तुलसी यह मत सन्त को बोलै समता माहि।।'' (वै०सं०), ''राजसभा निधरक हियौ''-इसका भाव यह है कि आप न राजा से भयभीत हुए और न संन्यासी से ही। यह बात आगे के कथा प्रसंग से विदित होता है।

राणा सौं सनेह सदा चौपर कौं खेल्यौ करै ऐसो सो संन्यासी भूमि सन्त की छिनाई है।
जायकै पुकार्यौ साधु झिरकि बिडार्यौ पर्यौ विमुखके वश बात साँचीलै झुठाई है।।
आये हरिराम जू पै सबही जताई रीति प्रीति करि बोले चल्यौ आगे आवै भाई है।
गये बैठे आयौ जन मन में न ल्यायौ नृप तब समुझायौ झार्यौ फेरि भू दिवाई है।।३५५।।

शब्दार्थ—चौपर=चौपड़, एक खेल। झिरकि=फटकार कर। बिडार्यौ=भगायौ। जताई=जनाई, बताई। झार्यौ=फटकार्यौ।

भावार्थ—एक संन्यासी थे, उनका राणा साहब के साथ विशेष स्नेह था, वह उनके साथ में सदा चौपड़ खेला करते थे। उन्होंने राणा साहब का बल पाकर एक वैष्णव-सन्त की भूमि छिनवा ली थी। सन्तजी ने राणा के पास जाकर प्रार्थना की, परन्तु वह चूंकि विमुख सन्यासी के वेश में था, अतः उसने संतजी को डाँट-फटकारकर भगा दिया। संतजी की सत्य बात को भी झूठी करके अनसुनी कर दी। तब वह संतजी, श्रीहरिरामजी हठीले के पास आये और अपना समस्त वृत्तान्त कह सुनाये। श्रीहरिराम हठीलेजी ने उन वैष्णव-संतजी को अपना भाई समझकर उनसे अत्यन्त प्रेमपूर्वक वार्तालाप किये तथा बहुत प्रकार से आश्वासन दिये और उनको साथ में लेकर

आगे-आगे राणा के पास चले। दोनों महानुभाव राणा के यहाँ पहुँचे और उनसे वार्तालाप करने की प्रतीक्षा में बहुत देर तक बैठे रहे, परन्तु उस विमुख राणा ने इस पर किंचित् भी ध्यान नहीं दिया कि मेरे यहाँ संत-महात्मा आये हैं। तब श्रीहरिराम हठीलेजी ने स्वयं वार्ता चलायी और राजा को समझाया कि वह संन्यासी से वैष्णव-संतजी के आश्रम को वापस करा दें। परन्तु जब राणा ने इनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया तो आपने निर्भय होकर राणा को बहुत फटकार लगायी और अन्त में उसको लोक-परलोक का भय बताकर वैष्णव-संतजी की भूमि को पुनः वापस करवा दिया।।३५५।।

व्याख्या—राणा सौं सनेह.....ऐसो सो संन्यासी—इससे संन्यासी की विषयासक्ति दर्शायी गई है। नहीं तो संन्यासी को तो एकान्त देश में रहकर ध्यानावस्थित होकर ब्रह्मसुख का अनुभव करना चाहिये। परन्तु यह ब्रह्मानन्द अनुभव परित्याग कर राणा के यहाँ चौपड़ खेलता था। ऐसे ही लोगों के लिये श्रीतुलसीदासजी ने लिखा है- ''नारि मुइ गृह सम्पति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।।'' (रामा०) ऐसे ही लोग संन्यास ग्रहण करने के बाद भी विषय सुख ही खोजते रहते हैं। यथा-''बहु दाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्ह न रहि विरती।।'' (रामा०), यथा-''विषम विषय जे भरि रहे, राजा मद रंग भोइ। तिनके द्वारे रहत जे विषयी जानो सोइ।।'' अतः यह संन्यासी विषयी था। ''भूमि संत की छिनाई है-यह संन्यासी प्रथम में इन वैष्णव-संतजी के आश्रम पर आया, सन्तजी ने प्रेमपूर्वक इसकी सेवा की तो यह आश्रम में स्थायी रूप से रहने लग गया। धीरे-धीरे इस ने राणा से स्नेह-सम्बन्ध कर लिया और अन्त में वैष्णव-संत को आश्रम से निकालकर उस भूमि पर अपना ही अधिकार जमा लिया। ''भाई है''-श्रीभगवद्-सम्बन्ध से सभी वैष्णव भाई-भाई होते हैं। कण्ठी-माला-तिलक का अति सन्निकट का सम्बन्ध है। संसार में तो लोग बहुत दूर का रिश्ता जोड़कर परस्पर सम्बन्ध बनाये रखते हैं। इस पर-

दृष्टान्त—एक पण्डितजी का—एक पण्डितजी बैलगाड़ी पर पोथी-पत्रा आदि कुछ सामान रखे हुए कहीं परदेस जा रहे थे। रात्रि में विश्राम करने के लिये एक सज्जन के द्वार पर बैलगाड़ी खड़ी कर दी, बैल बाँध दिये और स्वयं भी आसन लगाकर बैठ गये। मकान मालिक ने पूछा कि-''बिना जान-पहचान के,बिना पूछताछ किये आप हमारे द्वार पर क्यों ठहरे हैं?'' पण्डितजी ने कहा-आप हमारे सम्बन्धी हैं, अतः आपके यहाँ मैंने निःसंकोच बिना पूछताछ के ही डेरा डाल दिया है। मकान मालिक ने पण्डितजी से जिज्ञासा की कि हमारा-आपका कौन-सा सम्बन्ध है? तब पण्डितजी ने कहा-''अस्माकं बदरी चक्रे युष्माकं बदरी गृहे।

सम्बन्धेनैव तेनाद्य वासमत्र करोम्यहम्।।'' अर्थात् हमारी गाड़ी का पहिया बदरी (बेर) काष्ठ का है और आपके आँगन में भी बेर का वृक्ष है, यही हमारा और आपका सम्बन्ध है। अतः मकान मालिक पण्डितजी की इस युक्ति पर परम प्रसन्न हो गया और उनको सभी प्रकार की सुविधायें प्रदान कीं। जब संसार में इस प्रकार से आत्मीयता का सम्बन्ध रक्खा जाता है। तो यहाँ पर तो परमार्थ का सच्चा सम्बन्ध है, अतः ''भाई है'' कहा। (इस पर दृष्टान्त-''शेरगढ़ के आमिल का''। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-६५), पुनः ''भाई है''-का दूसरा भाव यह है कि श्रीहरिराम हठीलेजी को संत-सेवा प्रिय लगती है। इसी ब्याज से 'सन्त-सेवा का योग प्राप्त हुआ, अतः इनको राणा के यहाँ चलने की बात अनुकूल लगी, नहीं तो ये क्योंकर ऐसे रजोगुणियों के यहाँ जाने लगे?

झार्‌यौ—श्रीहरिराम हठीलेजी ने राजा और संन्यासी इन दोनों को फटकारा। संन्यासी को तो यह फटकार लगाई कि तुम संन्यास लेकर भी स्वधर्म परित्याग कर चौपड़ खेलते हो एवं रजोगुणी लोगों से स्नेह रखते हो। जगह-जमीन का संग्रह करते हो, जिसने तुम्हारी सेवा की उसी के साथ विश्वासघात करते हो इत्यादि। फिर राणा को फटकार लगायी कि तुम एक विमुख के कहने में आकर वैष्णव-सन्त का तिरस्कार करते हो। तुम्हें मालूम नहीं है कि साधु को सताने का क्या दुष्परिणाम होता है। गो० तुलसीदासजी ने लिखा है-''मुनि तापस जिन्हते दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं।। मंगल मूल विप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू।।'' (रामा०), पश्चात् श्रीहरिराम हठीलेजी ने हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद का दृष्टान्त दिया। तब राणा ने भयभीत होकर संतजी के आश्रम को, जो कि अवैध रूप से उस पर संन्यासी ने अधिकार कर लिया था, वह भूमि पुनः श्रीवैष्णव-संतजी को वापस दिलवा दी।

श्रीकमलाकरभट्टजी

'कमलाकर भट्ट' जगत में तत्त्ववाद रोपी धुजा।।
पण्डित कला प्रवीन अधिक आदर दे आरज।
सम्प्रदाय सिर छत्र द्वितीय मनो मध्वाचारज।।
जेतिक हरि अवतार सबै पूरन करि जानैं।
परिपाटी 'ध्वज बिजै' सदृश भागौत बखानैं।।
श्रुति स्मृति सम्मत पुरान तप्तमुद्रा धारी भुजा।
'कमलाकर भट्ट' जगत में तत्त्ववाद रोपी धुजा।।८६।।

शब्दार्थ—तत्त्ववाद=दर्शनशास्त्र सम्बन्धी विचार। रोपी=स्थापित की। धुजा =ध्वजा, झण्डा। आरज=आर्य, श्रेष्ठ। परिपाटी=रीति, प्रणाली।

भावार्थ—पण्डित श्रीकमलाकर भट्टजी ने संसार में तत्त्ववाद की ध्वजा फहराई अर्थात् आपकी तत्त्व-निरूपणशैली अपूर्व थी, सर्वश्रेष्ठ थी, सर्वमान्य थी। आप शास्त्रार्थ, खण्डन-मण्डन एवं शंका समाधानादि की कलाओं में परम प्रवीण थे। श्रेष्ठ पुरुष आपका विशेष आदर-सत्कार करते थे। आप ''श्रीमन्माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय'' के शिरमौर थे। आपको देखकर ऐसा लगता था जैसे कि आप ब्रह्म-सम्प्रदाय प्रवर्त्तकाचार्य श्रीमन्माध्वाचार्यजी की ही प्रतिमूर्ति हों। आप भगवान् के समस्त अवतारों को पूर्णावतार ही जानते एवं मानते थे। श्रीमद्भागवत की ''विजयध्वजी'' टीका की पद्धति से श्रीमद्भागवत की व्याख्या करते थे। आपके वचन श्रुति, स्मृति, पुराण सम्मत होते थे। आप अपनी भुजाओं पर तप्त मुद्राओं को धारण किये हुए थे।।८५।।

व्याख्या—तत्त्ववाद—तत्वों के सम्बन्ध में ऋषियों में मतैक्य का अभाव है। पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार तत्वों की संख्या अट्ठाईस, छब्बीस, पच्चीस, सत्रह, सोलह, तेरह, ग्यारह, नौ, सात, छः अथवा चार है।

जिनका विवरण इस प्रकार से है-''अट्ठाईस''-पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, नासिका, रसना, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण।

छब्बीस पंचमहाभूत—(क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, पंचज्ञानेन्द्रिय (श्रोत, त्वचा, चक्षु, नासिका, रसना), पंचकर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), मन, पंचतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) चौबीस तत्व ये हुए। पच्चीसवाँ, जीवात्मा। छब्बीसवाँ, परमात्मा।

पच्चीस तत्व—पूर्वोक्त छब्बीस तत्वों में जीवात्मा एवं परमात्मा को एक ही मानने से पच्चीस तत्व ही सिद्ध होते हैं।

सत्रह तत्व—पंचमहाभूत, पंचतन्मात्रायें, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, एक मन और एक आत्मा।

सोलह तत्व—पूर्वोक्त सत्रह तत्वों में मन और आत्मा को एक मान लेने से सोलह तत्व ही शेष रहते हैं।

तेरह तत्व—पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय, मन, आत्मा, परमात्मा।

ग्यारह तत्व—पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रिय, आत्मा।

नौ तत्व—पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, पुरुष।

सात तत्व—पंचमहाभूत, जीवात्मा, परमात्मा।

छः तत्व—पंचमहाभूत, परमात्मा।

चार तत्व—आत्मा, तेज, जल, पृथ्वी।

श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध, अध्याय बाईस में श्रीउद्धवजी के पूछने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने भिन्न-भिन्न विद्वानों के मत से तत्त्वों की संख्या उक्त प्रकार से वर्णन की है। नाना मुनियों के नाना मत। सभी अपने-अपने मतों का समर्थन करते हैं। परन्तु श्रीकमलाकर भट्टजी को, मूलतत्व को छोड़कर शाखा-पल्लव में ही उलझकर अपना अमूल्य जीवन नष्ट करना उचित नहीं लगता था अतः आपने तत्वों की संख्या सम्बन्धी विवाद छोड़कर मूलतत्व श्रीकृष्ण का ही निरूपण किया। यथा-''चारि पाँच छः नौ तथा छब्बीस अरु पच्चीस। कमलाकर भट्ट के मते एक तत्व जगदीस।।'' (भ०व०टि०), आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी ने भी तो इसी को परम सत्य तत्त्व माना है। यथा-''कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने।।'' (सम्पूर्ण श्लोक देखिये इनके चरित्र में)।

पण्डित कला प्रवीन—देखा गया है कि प्रकाण्ड पाण्डित्य प्राप्त कर लेने पर भी बड़े-बड़े विद्वान् ''पण्डितकला'' के ज्ञान के अभाव मे स्वपक्ष सिद्धि एवं संस्थापन में असमर्थ पाये जाते हैं। यह कला तो किसी विरले पण्डित को ही परिज्ञात होती है। यथा-''खण्डन मण्डन की कला विरले पण्डित माहिं। युक्ति सहित उत्तर उचित पण्डित कला कहाहिं।। (भ०व०टि०)।

दृष्टान्त—कालिदासजी का—राजा भोज के दरबार में एक बार ''रावण'' शब्द पर विचार-विमर्श हुआ। किसी पण्डित ने ''रावण'' तो किसी ने ''रामण'' शब्द को उचित माना और उसको सिद्ध किया। कालिदासजी के एक शिष्य ने ''राभण'' कहा और उसका अर्थ किया-''रकारं अभणतीति राभणः'' अर्थात् जो रकार का उच्चारण नहीं करता हो। विद्वानों ने जब कालिदासजी से इसके अर्थ के औचित्य के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने अपने शिष्य का ही समर्थन करते हुए कहा कि- ''भकारः कुम्भकर्णे च भकारश्च विभीषणे। तयोर्ज्येष्ठे च श्रेष्ठे च भकारः किं न विद्यते।।'' अर्थात् जब कुम्भकर्ण और विभीषण के नाम में भकार है तो दोनों से ज्येष्ठ श्रेष्ठ के नाम में भकार क्यों न हो। यह युक्ति युक्त अर्थ सुनकर सभी पण्डित चुप रह गये।

पुनश्च—''सभायां पण्डिताः केचित्केचित्पण्डितपण्डिताः। गृहेषु पण्डिताः केचित्केचिन्मूर्खेषु पण्डिताः।।'' अर्थात् कोई तो सभा के पण्डित होते हैं, कोई पण्डितों के मध्य पण्डिताई करने वाले होते हैं, कोई घर में स्त्रियों के बीच विद्वत्ता दिखाने वाले होते हैं तथा कोई, मूर्खों के मध्य पाण्डित्य प्रकाशित करने वाले होते हैं, तत्व के जानने वाले एवं तत्व के रहस्य को बताने वाले पण्डित तो कोई विरले ही होते हैं। परन्तु श्रीकमलाकरभट्टजी स्वयं तत्व के ज्ञाता थे एवं अन्य को भी तत्व का रहस्य बताने वाले थे, अतः इन्हें पण्डित-कला प्रवीण कहा। ''सम्प्रदाय सिर छत्र''-इसका भाव यह है कि जैसे छत्र से सिर की शोभा एवं सुरक्षा दोनों ही होती हैं, ठीक उसी प्रकार से ही आपके द्वारा सम्प्रदाय की शोभा एवं सुरक्षा भी हुई। ''जेतिक हरि अवतार''-इस सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-१३४, कवित्त-१४ की व्याख्या। ''परिपाटी ध्वज विजै''-पण्डित श्रीविजयध्वजजी ने श्रीमद्भागवत की जो टीका की है, उसे ''विजयध्वजी'' टीका कहते हैं। आपका इस टीका के प्रति विशेष भाव था। अतः इसी के अनुसार ही श्रीमद्भागवतजी की व्याख्या करते थे।

तप्तमुद्रा धारी भुजा—तप्तमुद्रा धारण करना वैष्णव पंच- संस्कारों में से एक संस्कार है, इनकी महिमा अनन्त है। यथा-''मन्मुद्राङ्कितदेहो यो मद्भक्तो भुवि दुर्लभः। मामपेक्षते धर्मात्मा इहैकान्तेन चेतसा।। चक्राङ्कित भुजा किंचित् यत्र कुत्र वसन्ति वै। योजनानि तथा त्रीणि मम क्षेत्रं वसुन्धरे।। ये केचिद् यज्ञपुरुषा विष्णुचक्रेण मुद्रिताः। तेषां दर्शनमात्रेण महापातकनाशनम्।।'' (व०पु०), अर्थ- मेरी मुद्रा से अंकित देह वाला मेरा भक्त पृथ्वी में दुर्लभ है। धर्मात्मा पुरूष एकान्तचित्त से मेरी अपेक्षा करता है अर्थात् मेरी अकांक्षा एवं मेरा चिन्तन करता है एवं चक्रांकित भुज होकर मेरे भक्त जहाँ कहीं निवास करते हैं वहाँ तीन योजन तक मेरा ही क्षेत्र माना जाता है। विष्णुचक्र से मुद्रित होकर कोई व्यक्ति जहाँ कहीं भी बैठता है, उसके दर्शनमात्र से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।पुनश्च-''शंखचक्रांकहीनैश्च ऊर्ध्वपुण्ड्रविवर्जितैः। कृतं पूजाप्रतिष्ठादि तत्सर्वं निष्फलं भवेत्।।''अर्थ- जो लोग शंख, चक्र की छाप से रहित हैं एवं ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलकविहीन हैं, उनके द्वारा की गयी पूजा-प्रतिष्ठादि सभी निष्फल होते हैं।

एकदिन श्रीकमलाकरभट्टजी एकान्त में बैठकर श्रीभगवल्लीलाओं का चिन्तन कर रहे थे। उसी समय एक शाक्त ने आपके पास आकर शास्त्रार्थ की चुनौती दी। प्रथम तो आपने उसे वैसे ही टाल देना चाहा, परन्तु जब वह हठ करने लगा तो आप भी शास्त्रार्थ के लिए तैयार हो गये। उसने विविध युक्तियों से अपने मत का समर्थन एवं श्रैष्ठ्य् प्रतिपादन किया। परन्तु आपने अनायास ही उसके समस्त सिद्धान्तों का ऐसा खण्डन किया कि उसकी

वाणी ही बन्द (शब्दकोष विहीन) हो गयी। तब वह पुन: दूसरे दिन के लिए शास्त्रार्थ को स्थगित करके घर आया और अपनी आराध्या देवी का ध्यान करने लगा। देवी ने साक्षात् प्रकट होकर इसे दर्शन दिया। जब शाक्त ने उपालम्भ पूर्वक देवी से यह कहा कि कल तुमने शास्त्रार्थ में मेरी सहायता नहीं की, मैं परास्त हो गया, मैं किंकर्तव्य विमूढ़ बनकर बैठ रहा। तब देवीजी ने स्पष्ट कहा कि कमलाकरभट्टजी भगवान के परम भक्त हैं, भला उनके सामने मेरा अस्तित्व ही क्या है? मैं तो उनकी दासी भी होने के योग्य नहीं हूँ। देवी के श्रीमुख से ''भक्त, भक्ति, भगवन्त की यह महामहिमा सुनकर उस शाक्त की आँखें खुलीं और उसने तुरन्त आकर श्रीकमलाकरभट्टजी से वैष्णवी-दीक्षा लेकर अपने को परम धन्य माना।

श्रीनारायणभट्टजी

ब्रजभूमि उपासक भट्ट सो रचि पचि हरि एकै कियौ।।
गोप्य स्थल मथुरा मण्डल जिते वाराह बखाने।
ते किये नारायण प्रगट प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने।।
भक्तिसुधा कौ सिन्धु सदा सतसंग समाजन।
परम रसज्ञ अनन्य, कृष्णलीला कौ भाजन।।
ज्ञान स्मारत पच्छ कौं नाहिन कोउ खण्डन बियौ।
ब्रजभूमि उपासक भट्ट सो रचि पचि हरि एकै कियौ।।८७।।

शब्दार्थ—रचि पचि=कठिन प्रयास करके, निरन्तर ध्यानाभ्यास द्वारा। गोप्य=गुप्त, लुप्त। स्थल=प्राचीन तीर्थस्थान। समाजन=समाज अथवा सभाओं में। रसज्ञ=भक्तिरस का आस्वादन करने वाले। भाजन=पात्र। स्मारत=मनु आदि स्मृति शास्त्रोक्त, स्मार्त।

भावार्थ—श्रीब्रजभूमि की उपासना करने वाले, श्रीनारायणभट्टजी जैसे भक्त को भगवान ने बहुत परिश्रम करके एक ही बनाया है। श्रीवाराह पुराण में मथुरा-मण्डल के जितने तीर्थों का वर्णन किया है, वह कालचक्र के कारण समस्त तीर्थ लुप्त हो गये थे। श्रीनारायणभट्टजी ने उन सभी तीर्थों को प्रकट एवं प्रसिद्ध किया, यह बात सर्वप्रसिद्ध है तथा पृथ्वी के समस्त मनुष्यों को मालूम है। आप भक्तिरसामृत के समुद्र थे, तथा सदा ही सन्तों के समाज में विराजमान होकर सत्संग किया करते थे। आप परम रसज्ञ, अनन्य निष्ठावान् एवं श्रीकृष्णलीलामृत को धारण करने के लिए उत्तम पात्र एवं नित्यलीला के पात्र थे। शुष्कज्ञान तथा कोरे कर्मकाण्ड का खण्डन करके भक्ति की स्थापना करने वाला आपकेसमान दूसरा कोई नहीं हुआ।। ८७।।

व्याख्या—ब्रजभूमि—यहाँ ब्रजभूमि से तात्पर्य सम्पूर्ण मथुरा-मण्डल से है, श्रीवाराह पुराण में मथुरा क्षेत्र की सीमा बीस योजन कहीं गयी है। वर्तमान में भी ब्रज चौरासी कोस की परिक्रमा प्रसिद्ध है। भगवान श्रीकृष्ण की क्रीड़ा-भूमि होने के कारण श्रीनारायणभट्टजी की सम्पूर्ण ब्रजभूमि में विशेष निष्ठा थी, आप धामनिष्ठ संत थे। ''रचि पचि हरि एकै कियौ''- इसका भाव यह है कि श्रीनारायणभट्टजी विधि सृष्टि के प्राणी नहीं थे, अर्थात् आपकी सृष्टि स्वयं भगवान ने ही की थी। आपने कर्मवश विधि प्रपंच में जन्म नहीं लिया था, बल्कि विधि-प्रपंच में फँसे हुये प्राणियों को मुक्त करने के लिए स्वयं भगवान ने आपको धराधाम पर भेजा था। ''रचि पचि''- इससे यह जनाया गया कि भगवान को भी ऐसे निष्ठावान् सन्त की सृष्टि में बहुत परिश्रम करना पड़ा था। ऐसे ही श्रीहरिदासजी के लिए श्रीनाभाजी ने लिखा है- यथा-''तिलक दाम पर काम को हरीदास हरि निर्मयो।।'' (छ०-१७९), ''वाराह बखाने''-श्रीवाराह पुराण में, श्रीवाराह भगवान और श्रीभूदेवी का सम्वाद है। श्रीभूदेवी की जिज्ञासा पर श्रीवाराह भगवान् ने बड़े विस्तार से मथुरापुरी के समस्त तीर्थों का वर्णन किया है। कलियुग में सभी तीर्थ लुप्त हो गये थे, उन लुप्त तीर्थस्थलों को आपने प्रकट किया।

भट्ट श्रीनारायन जू भये ब्रज पारायन जायँ जाही ग्राम तहाँ व्रत करि ध्याये हैं।
बोलिकै सुनावें इहाँ अमुकौ सरूप हैं जू लीला कुण्ड धाम स्याम प्रगट दिखाये हैं।।
ठौर-ठौर रास के विलास लै प्रकास किये जिये यों रसिकजन कोटि सुख पाये हैं।
मथुरा ते कही चलौ बेनी पूछैं बेनी कहाँ? ऊँचेगाँव आय खोदि स्रोत लै लखाये हैं।।३५६

शब्दार्थ—ब्रज पारायन=ब्रजभूमि भक्त। व्रत=नियम, उपवास, प्रतिज्ञा। अमुकौ=अमुक, वह, फलाँ। बेनी=गंगा, यमुना, सरस्वती का संगम, त्रिबेणी।

भावार्थ—श्रीनारायणभट्टजी ब्रजभूमि के अनन्य-उपासक भक्त हुए। आप ब्रज के किसी भी ग्राम में जाते, वहाँ व्रतोपवास पूर्वक ध्यान में यह अनुसन्धान करते कि यहाँ कौन- सा तीर्थ है, तब भगवान् श्रीश्यामसुन्दर आपके ध्यान में आकर प्रत्यक्ष उस तीर्थ का दर्शन कराते। तब आप ग्रामवासियों को बुलाकर बताते कि यहाँ पर भगवान का अमुक स्वरूप विराजमान है,, यहाँ पर भगवान् ने अमुक लीला की है, यहाँ अमुक कुण्ड है, यहाँ अमुक तीर्थ है तथा वहाँ की भूमि का शोधन करके आप उन-उन तीर्थों, कुण्डों, लीलाओं एवं स्वरूपों को उन्हें प्रत्यक्ष दिखा भी देते थे। साथ ही भगवान् ने जिस जगह जो लीला की है रासमण्डली द्वारा उस जगह पर उसी लीला का अभिनय कराते। ब्रज में जगह-जगह

आपने रासलीला का अभिनय करवाया। जिससे कि रसिकजनों को कोटिगुणित अधिक सुख मिला, मानो उन्हें नव-जीवन प्राप्त हो गया हो। एकबार आप मथुरा में विराजमान थे, माघ का महीना था, बहुत लोग तीर्थराज प्रयाग में श्रीत्रिवेणी स्नान को जा रहे थे। आपने उन लोगों से कहा कि हमारे साथ चलो, हम दिखाते हैं कि श्रीत्रिवेणीजी तो ब्रज में ही है, फिर आप लोग अन्यत्र क्यों जा रहे हैं? तब लोगों ने आपसे आश्चर्य चकित होकर पूछा कि- "ब्रज में त्रिवेणी कहाँ हैं?" आपने कहा कि "ऊँचेगाँव में।" फिर सभी को आप अपने साथ लिवा लाये और वहाँ की भूमि को खोदकर श्रीत्रिवेणीजी के तीनों स्रोत सभी को प्रत्यक्ष दिखा दिये।। ३५६।।

व्याख्या—स्याम प्रगट दिखाये हैं— आपके साथ में स्वयं श्रीभगवद्प्रदत्त "श्रीलाड़िलेय" नामक श्रीठाकुरजी थे, वही आपको समस्त तीर्थों का रहस्य बतलाते थे। ऊँचेगाँव बरसाने के निकट ही ऊँचागाँव है, जहाँ श्रीराधाजी की प्रियसखी श्रीललिताजी का प्रादुर्भाव हुआ था। "स्रोत लै लखाये हैं" -उस समय दिव्य घाट एवं दिव्य धाराओं से शोभायमान श्रीत्रिवेणीजी सखी गिरि से लेकर श्रीबलदेवजी के मंदिर पर्यन्त प्रवाहित होती हुई सभी को दिखाई पड़ीं। सबने वहीं पर स्नान-ध्यान किया। कहते हैं कि श्रीतीर्थराज प्रयाग को अपनी यह अवमानना सहन नहीं हुई और वे ब्राह्मण का भेष धारण कर श्रीनारायण भट्टजी के सम्मुख प्रकट हो गये और बोले-"आपने इन तीर्थयात्रियों को प्रयाग जाने से क्यों मना किया? आप हमसे शास्त्रार्थ कीजिये।" फिर तीर्थराज प्रयाग और ब्रजभूमि को लेकर दोनों में महान शास्त्रार्थ हुआ। वर्णन आया है कि शास्त्रार्थ के आवेश में ब्राह्मण साक्षात् प्रयाग रुप में एवं श्रीनारायणभट्टजी साक्षात् श्रीनारदजी के रुप में प्रकट होकर शास्त्रार्थ करने लगे, सात दिन तक लगातार शास्त्रार्थ होता रहा, अन्त में तीर्थराज प्रयाग, ब्रज की महामहिमा के सम्मुख नतमस्तक हो गये उसी समय श्रीत्रिवेणीजी ने भी मूर्तिमती होकर दर्शन दिया और कहा कि "जिस समय श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार श्रीराधाकुण्ड में समस्त तीर्थों का आगमन हुआ था, उसी समय से मैं भी श्रीब्रजभूमि को छोड़कर कहीं नहीं गयी हूँ और यहाँ पर नित्य निवास करती हूँ, और तुम्हारी भक्ति के वशीभूत होकर ही प्रकट हुई हूँ। जो लोग यहाँ की रज एवं जल से स्नान-अभिषेक आदि करेंगे उन्हें त्रिवेणी स्नान का ही फल प्राप्त होगा।

विशेष— श्रीनारायणभट्टजी का प्रदुर्भाव वि०सं० १५८८ वैशाख शुक्लपक्ष-१४ (श्रीनृसिंह चतुर्दशी) को दक्षिण भारत के मदुरा नामक नगर में हुआ था। आप भृगुवंशी दीक्षित ब्राह्मण थे। आपके पिताजी का नाम श्रीभास्करभट्टजी एवं माताजी का नाम श्रीयशोमति तथा

बड़े भाई का नाम श्रीगोपालभट्टजी था। कालचक्र से मथुरा- मण्डल के लुप्त तीर्थों का उद्धार करने के लिए देवर्षि नारदजी ही श्री भगवद् आदेश से श्रीनारायणभट्टजी के रूप में अवतरित हुए थे।आप में भगवान् श्रीनारायण के समान गुणों की विद्यमानता देखकर ज्योतिषियों ने आपका शुभ नाम नारायण रखा था। यथा समय, यथा विधि उपनयन- संस्कार सम्पन्न होने के अनन्तर बालक नारायण ने निज पितृव्य श्रीशंकरभट्टजीसे ही वेद-वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ किया और बारह वर्ष की अवस्था में ही आपका विद्याध्ययन पूर्ण हो गया। "ब्रजदीपिका" नामक ग्रन्थ का प्रणयन आपने अपने घर पर ही किया था।

एक दिन आप श्रीगोदावरी नदी में स्नान कर स्तोत्र- पाठ पूर्वक भगवान का ध्यान कर रहे थे। उसी समय श्रीराधामाधव युगल ने प्रकट होकर आपको साक्षत् दर्शन दिया और उपासना रहस्योपदेश के साथ-साथ यह आदेश भी दिया कि तुम शीघ्र ही ब्रज में जाकर हमारी लीला-स्थलियों को प्रकाशित करो। यह कहकर भगवान् ने आपको अपना एक निजस्वरूप प्रदान करते हुए कहा कि देखो, यह लाड़िलेय नामक श्रीविग्रह मेरा ही बालस्वरूप है, इसको स्वीकार करो, इसकी सेवा-पूजा करो। यह स्वरूप तुमको ब्रज-लीला के रहस्यों का बोध करायेगा। यह कहकर श्रीप्रिया-प्रियतमजी अन्तर्धान हो गये। श्रीनारायणभट्टजी ने ठाकुर श्रीलाड़िलेयजी को साथ में लेकर श्रीब्रजधाम के लिए प्रस्थान किया, आप ढाई वर्ष में श्रीगोवर्धन में श्रीराधाकुण्ड पर पहुँचे। उस समय ठाकुर श्रीराधामदनमोहनजी वहीं पर विराजमान थे, श्रीसनातन गोस्वामीपादजी एवं श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारी सेवा में रत थे। जिस समय आप वहाँ पहुँचे, उस समय श्रीठाकुरजी दोपहर के राजभोग के अनन्तर शयन कर रहे थे, परन्तु आपके पहुँचते ही मंदिर का द्वार स्वयं खुल गया, भगवान् की यह भक्तवत्सलता देखकर श्रीनारायणभट्टजी एकदम भावविभोर होकर साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम किये, दयामय श्रीप्रभु ने आपके मस्तक पर अपना वरद- हस्तकमल रखा एवं स्वयं श्रीयुगल मंत्र का उपदेश दिया तथा श्रीराधिकाजी ने प्रेमलक्षणा-भक्ति प्रदान की। द्वार के खुलने एवं परस्पर कुछ वार्तालाप के शब्द सुनकर श्रीसनातन गोस्वामीजी, श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी एवं अन्य वैष्णवजन भी जब मंदिर के द्वार पर आये तो भक्त-भगवान का प्रत्यक्ष प्रिय-मिलन देखकर निहाल हो गये। श्रीठाकुरजी ने श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी को श्रीनारायणभट्टजी का परिचय देते हुए इन्हें सम्प्रदाय-सिद्धान्तोपदेश का आदेश दिया।

इस प्रकार श्रीनारायणभट्टजी ने श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी से सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अध्ययन किया। तदुपरान्त आपने भगवान की आज्ञा का स्मरण कर ब्रज के लुप्त

तीर्थ-स्थलों का उद्धार करने का निश्चय किया। सर्वप्रथम आपने श्रीराधाकुण्ड एवं श्रीश्यामकुण्ड को प्रकट किया, सहसा आपकी बात पर कोई विश्वास नहीं करता था, तब आपने एक जगह पर दस हाथ नीचे तक पृथ्वी खुदवाई तो वहाँ दही से आच्छन्न एक मृण्मय पात्र एवं टूटी सीढ़ियों के अवशेष का दर्शन हुआ, तब सभी लोग आपके वचनों पर विश्वास करने लगे, फिर तो आप समस्त ब्रज में भ्रमण करते हुए सभी तीर्थ-स्थलों को प्रकट करने लगे। आपके निर्देशानुसार ब्रजवासी पूर्ण सहयोग के साथ प्रकटित स्थानों पर तीर्थ की रूपरेखा तैयार करने लगे, धीरे-धीरे आपकी ख्याति बढ़ने लगी। आपके भजन प्रभाव से दिल्लीश्वर अकबर भी प्रभावित हुआ और अपने कोषाध्यक्ष टोडरमलजी को सेवार्थ, श्रीभट्टजी के पास भेजा। टोडरमलजी द्वारा सेवा हेतु प्रार्थना करने पर आपने यही कहा कि यदि तुम्हारे बादशाह का विशेष आग्रह है तो हमने जिन-जिन तीर्थो का प्राकट्य किया है, उन-उन तीर्थ-स्थलों को उनके स्वरूपानुरूप निर्माण द्वारा सुसज्जित किया जाय, टोडरमलजी ने सोल्लास पूर्वक आज्ञा शिरोधार्य कर प्रकटित तीर्थ-स्थलों में सुन्दर निर्माण कार्य कराया। श्रीबरसाना गाँव में ''श्रीश्रीजी '' एवं ऊँचेगाँव में श्रीरेवतीरमण ''श्रीबलदेवजी'' आपके प्रकटित श्रीविग्रहों में अति प्रसिद्ध एवं परमपूज्य हैं। इन दोनों श्रीविग्रहों की सेवा-पूजा आप स्वयं ही करते थे।

कालान्तर में आपने पिता श्रीभास्करभट्टजी के अनुरोध पर अपना विवाह कर लिया। कुछ समय पश्चात् आपके श्रीदामोदर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो आगे चलकर आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुआ। श्रीब्रज-प्रकाशकारी श्रीनारायणभट्टजी को तत्कालीन वैष्णव-समाज ने उनके कार्यो को लक्षित करके ''ब्रजाचार्य''पद पर अभिषिक्त किया। आपके अनेकों शिष्य-प्रशिष्य हुए, आप अपने शिष्यों को सर्वतोभावेन समर्पण पूर्वक श्रीहरि-सेवा और प्रेमाभक्ति का ही उपदेश देते थे। अनन्तर श्रीकृष्ण की आज्ञा से प्रेरित होकर आप ब्रज के सुन्दर ब्राह्मण बालकों को श्रीराधा-कृष्ण, गोपी, गोप वेष में सुसज्जित कर ब्रज-मण्डल में रास आदि लीलाओं का अनुकरण कराने लगे। आपने बारह वर्ष तक श्रीराधाकुण्ड पर निवास किया। इसके पश्चात् शेष जीवन ऊँचेगाँव में निवास करते हुए व्यतीत किया। आपने वैष्णवता का बोध कराने वाले विविध ग्रन्थों का प्रणयन किया। अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित विषय की पुष्टि के लिए आपने वेद, उपनिषद, स्मृति, संहिता, तन्त्र, पुराणादि शत-शत ग्रन्थों का प्रमाण दिया है, इसमें आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य का दर्शन होता है। आपको भगवान् की नित्य लीलाओं का नित्य साक्षात्कार होता था। श्रीवामन जयन्ती आपकी तिरोधान तिथि है।

छ० ८८)

श्रीव्रजवल्लभजी

व्रजवल्लभ 'बल्लभ' परम दुर्लभ सुख नैंननि दिये।।
नृत्य गान गुन निपुन रास में रस बरसावत।
औ लीला ललितादि बलित दम्पतिहिं रिझावत।।
अति उदार निस्तार सुजस व्रजमण्डल राजत।
महा महोत्सव करत बहुत सबही सुख साजत।।
श्रीनारायण भट्ट प्रभु परम प्रीति रस बस किये।
व्रजवल्लभ 'बल्लभ' परम दुर्लभ सुख नैंननि दिये।।८८।।

शब्दार्थ—बलित=युक्त, सहित। दम्पतिहिं=श्रीराधाकृष्ण को। रिझावत=प्रसन्न करते। निस्तार=उद्धार, पार होने का भाव, अभीष्ट की प्राप्ति।

भावार्थ—श्रीव्रजबल्लभजी सभी को अत्यन्त प्रिय थे क्योंकि आपने सभी के नेत्रों को रासलीला का परम दुर्लभ सुख प्रदान किया। आप नृत्य-गान आदि गुणों में परम प्रवीण थे। रासलीला में आप अपने कौशल से रस की वर्षा करते थे और श्रीललितादि सखियों के सहित दम्पति श्रीयुगलकिशोरजी को रिझाया करते थे। आप स्वभाव से बड़े उदार तथा प्राणियों का भव से निस्तार करने वाले थे। आपका सुयश सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में व्याप्त एवं शोभायमान है। आप बहुत से महोत्सव करते थे, जिसमें सभी को परम सुख मिलता था। आपने स्वामी श्रीनारायणभट्टजी को अपने प्रेमरस से वश में कर लिया था।।८८।।

व्याख्या—व्रजबल्लभ 'वल्लभ' परम—यह उक्ति बड़ी ही भावपूर्ण है, इसका एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। जिसका भाव यह है कि श्रीब्रजवल्लभजी समस्त ब्रजवासियों, सन्तों एवं भगवान को अति प्रिय थे। दूसरा अर्थ- श्रीब्रजवल्लभ श्रीकृष्ण के परम प्यारे श्रीव्रजबल्लभ सभी के नेत्रों को परम दुर्लभ सुख दिया। यहाँ पर ब्रजवल्लभ शब्द में श्लेषालंकार है। तीसरा अर्थ- व्रजवल्लभ श्रीकृष्ण ने अपने परम वल्लभ=(प्यारे), श्रीव्रजबल्लभजी के नेत्रों को परम दुर्लभ सुख प्रदान किया। आगे के प्रसंग से इस अर्थ का पोषण होता है। कथा इस प्रकार से है-

एकबार महोत्सव में रासलीला के प्रसंग में श्रीब्रजवल्लभजी, श्रीललिता सखी का स्वरूप धारणकर श्रीप्रिया-प्रियतम (श्रीराधाकृष्ण) को रिझाने के लिए श्रीयुगल के गुणों का गान करते हुए रसमय नृत्य कर रहे थे। अकस्मात् ही आपके पेट में असह्य पीड़ा होने लगी,

रंग में भंग हो गया। आप रासमण्डल से श्रृंगार- गृह में चले आये और ''हा कृष्ण-हा कृष्ण'' पुकारते हुए पीड़ा से व्याकुल होकर लेट गये। इनके मन में इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि मैं प्रिया-प्रियतम की यथोचित सेवा नहीं कर सका, सर्वान्तर्यामी भक्तवत्सल भगवान् ने आपके अर्न्तमन की व्यथा समझ ली और तत्काल इनका सा ही वेष धारणकर रासमण्डल में विराजमान श्रीराधाकृष्ण-स्वरूप के समक्ष पूर्ववत् नृत्य करने लगे, उस समय रासमण्डल में ऐसा आनन्द छाया कि सभी लोग चित्रलिखित से हो गये, सबका शरीर पुलकायमान हो गया तथा सभी के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछला आये। उधर एक सेवक श्रीब्रजवल्लभजी को औषधि देकर रासमण्डल में आया तो देखा कि आप तो यहाँ पर नृत्य कर रहे हैं, और उधर श्रीब्रजवल्लभजी को पीड़ा से व्याकुल हो ''हा कृष्ण-हा कृष्ण'' पुकारते देख, तथा इधर प्रेमोल्लास में नृत्य करते हुए देखकर वह सेवक हैरान हो गया, कि यह क्या बात है? उसने दौड़कर शृंगार-गृह में जाकर पीड़ित श्रीब्रजवल्लभजी को रासमण्डल का समस्त वृत्तान्त सुनाया, श्रीब्रजवल्लभजी ने धैर्य धारण कर जब रासमण्डल की ओर देखा तो सचमुच सेवक की बात सत्य निकली। सेवक तो इस रहस्य को समझ नहीं पा रहा था, लेकिन श्रीब्रजवल्लभजी ने इस रहस्य को तत्काल ही समझ लिया कि भक्तवांछाकल्पतरु श्रीप्रभु ने यह मुझ पर अहैतुकी कृपा की है। आज अचानक श्रीब्रजवल्लभजी का प्रेम का पासा अनुकूल पड़ गया, आप श्रीललिताजी के वेष में श्रीप्रभु का परम दुर्लभ दर्शन पाकर कृतकृत्य हो गये, साथ ही आनन्दाधिक्य के कारण मूर्च्छित हो गये। प्रातःकाल जब आपकी मूर्च्छा समाप्त हुई तो इस रहस्य का उद्घाटन हुआ। सभी ने आपके गूढ़प्रेम की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

इसी प्रसंग को लक्ष्य करके श्रीनाभाजी कहते हैं कि-''ब्रजवल्लभ वल्लभ परम दुर्लभ सुख नैंननि दियो।।''

किन्हीं-किन्हीं विद्वानों के मत से आप श्रीनारायणभट्टजी के शिष्य थे। यथा- श्रीबालकरामजी कृत- श्रीभक्तमालजी की टीका में लिखा हुआ है कि- ''श्रीनारायणभट्टजी के शिष्य ब्रजवल्लभ हैं सुनो ताकी कथा जथा कृष्ण प्रेम सानिये।।'' परन्तु इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि ये श्रीनारायणभट्टजी के समकालीन ही थे तथा श्रीनारायणभट्टजी के रास प्रचार कार्य में भी सहयोगी थे। इन्होंने अपनी प्रीतियुक्त सेवा-सद्भावना से श्रीनारायणभट्टजी को परम प्रसन्न कर लिया था। तभी तो श्रीनाभाजी कहते हैं कि-''श्रीनारायण भट्ट प्रभु परम प्रीति रस बस किये।''

श्रीरूप-सनातन गोसाँईजी

संसार स्वाद सुख बांत ज्यौं दुहुँ 'रूप'-'सनातन' त्यागि दियौ।।
गौड़देश बंगाल हुते सबही अधिकारी।
हय गय भवन भण्डार विभौ भू-भुज उनहारी।।
यह सुख अनित्य बिचारि वास वृन्दाबन कीन्हौ।
यथा लाभ सन्तोष कुंज करवा मन दीन्हौ।।
व्रजभूमि रहस्य राधाकृष्ण भक्त तोष उद्धार कियौ।
संसार स्वाद सुख बांत ज्यौं दुहुँ 'रूप'-'सनातन' त्यागि दियौ।।८९।।

शब्दार्थ—संसार स्वाद=संसार के भोग-विलास का स्वाद, इन्द्रियों के भोग। बांत=वमन। हुते=थे। अधिकारी=प्रधानमन्त्री, दीवान। हय=घोड़ा। गय=हाथी, गज। भू-भुज=भू=भूमि+भुज=भोगने वाला, राजा। उनहारी=समान, अनुसार। अनित्य=नाशवान्। विचारि=जानकर। यथा लाभ सन्तोष=जैसा, जितना+लाभ=प्राप्त हो, मिले+सन्तोष=सन्तुष्ट अर्थात् जितना मिले उसी में ही प्रसन्न। कुँज=वृक्ष की लता-पताओं से बना घर, श्रीकृष्ण का विहार-स्थल। करवा=मिट्टी का टोंटीदार लोटा, गडुवा। तोष=सन्तोष, प्रसन्नता।

भावार्थ—श्रीरूपजी तथा श्रीसनातनजी इन दोनों भाइयों ने संसार स्वाद के सभी सुखों को वमन की भाँति परित्याग कर दिया। आप दोनों ने पहले बंगाल प्रान्तस्थ गौड़देश के शासक के यहाँ उच्चाधिकारी थे। आपके पास राजाओं के समान घोड़े-हाथी, महल, मकान, कोष- खजाना भोग ऐश्वर्यादि थे। परन्तु अन्त में इस संसार के सुखों को अनित्य (नाशवान) विचारकर आप दोनों ने सब कुछ छोड़कर श्रीवृन्दावन में दृढ़ वास किया। श्रीभगवद् इच्छा से शरीर के लिये सहज में जो कुछ भी प्राप्त हो जाता, उसी में संतोष करते थे। राज्य-ऐश्वर्य से मन हटाकर, कुँज और करवा में मन को लगाया अर्थात् परम वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। आप दोनों ने श्रीब्रजभूमि के रहस्यों तथा श्रीराधाकृष्ण के रहस्य तत्वों को प्रकट कर भक्तों को परम संतोष प्रदान किया तथा जगत के जीवों का उद्धार किया।।८९।।

व्याख्या—संसार स्वाद सुख बांत ज्यौं—श्रीभगवद् अनुरागी बड़भागीजनों को संसार का सुख वमन की भाँति प्रतीत होता है। अत: जैसे वमन=(उल्टी) करने पर उसकी ओर देखा तक नहीं जाता, उसका स्मरणमात्र मन को खराब कर देता है, ठीक उसी प्रकार से

श्रीहरिचरणानुरागी भक्तजन सांसारिक सुखैश्वर्य का परित्याग कर मन से अथवा नेत्रों से भी उसकी ओर दृष्टि नहीं करते हैं। यथा- ''रमा विलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि जन बड़भागी।।'' (रामा०) श्रीऋषभदेवजी के पुत्र राजर्षि भरतजी के लिए भी ऐसा ही कहा गया है। यथा-''यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः। जहौ युवैव मलवदुत्तम श्लोकलालसः।।'' (भा० ५-१४-४३), विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-४५६ राजर्षि भरत प्रसंग।। ''हुते सबही अधिकारी''-श्रीसनातनजी गौड़देश के नबाब हुसेनशाह के दबीरखास (प्रधानमंत्री) थे तथा श्रीरूपजी साकरमल्लिक (राजस्वमंत्री) थे। नबाब आपका बड़ा सम्मान करता था। अतः इनके पास भी राजाओं के समान ऐश्वर्य था। कहते हैं कि यह हुसेनशाह पहले गौड़देश के शासक सुबुद्धिराय का सेवक था। श्रीरूप-सनातनजी बड़े भारी पण्डित थे। एक बार इन दोनों भाइयों ने हुसेनशाह की जन्मपत्री देखी, तो उसमें ऐसा योग पड़ा था कि यह किसी दिन देश का शासक बनेगा। आपने जब यह बात हुसेनशाह को बतायी तो उसने कहा कि महाराज! यदि ऐसा हुआ तो मैं आप लोगों को भी अपने समान ही रखूँगा। कालान्तर में यही हुआ, हुसेनशाह ने राजा सुबुद्धिराय को पदच्युत करके वह स्वयं गौड़देश का शासक बना, तो इन दोनों भाइयों को उच्चपद प्रदान किया।

यह सुख अनित्य विचारि—संसार सुख भोग अनित्य हैं। इसका बड़ा ही सुन्दर विवेचन श्रीतुलसीदासजी ने कवितावली में किया है। यथा-

गज बाजि घटा भले भूरि भटा बनिता सुत भौंह तकैं सबवै।
धरनी धन धाम सरीर भलो सुरलोकहु चाहि इहै सुखु स्वै।।
सब फोटक साटक है तुलसी अपनो न कछू सपनो दिन द्वै।
जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ जिये जग में तुम्हरो बिनु ह्वै।।१।।

सुरराज सो राज समाज समृद्धि विरंचि धनाधिप सौं धनु भो।
पवमान सो पावक सो जम सोम सो पूषन सो भवभूषनु भो।।
करि जोग समीरन साधि समाधि कै धीर बड़ो बसहू मनु भो।
सब जाय सुभायँ कहैं तुलसी जो न जानकि जीवन को जनु भो।।२।।

काम से रूप प्रताप दिनेस से सोम से सील गनेस से माने।
हरिचन्द से साँचे बड़े विधि से मघवा से महीप विषय सुख साने।।
सुक से मुनि सारद से बकता चिरजीवन लोमस ते अधिकाने।
ऐसे भये तौ कहा तुलसी जो पै राजिवलोचन राम न जाने।।३।।

झूमत द्वार मतंग अनेक जंजीर जरे मद अंबु चुचाते।
तीखे तुरंग मनोगति चंचल पौन के गौनहु ते बढ़ि जाते।।
भीतर चन्द्रमुखी अवलोकति बाहर भूप खरे न समाते।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै जानकीनाथ के रंग न राते।।४।।

राज सुरेश पचासक को विधि के कर को जो पटो लिखि पाये।
पूत सपूत पुनीत प्रिया निज सुन्दरता रति को मद नाये।।
संपति सिद्धि सबै तुलसी मन की मनसा चितवै चित लाये।
जानकी जीवन जाने बिना जग ऐसेउ जीव न जीव कहाये।।५।।

(क०उ० ४१, ४२, ४३, ४४, ४५)

श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा। यावच्चेन्द्रिय-शक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः।। आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्। प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः।।''अर्थ- जब तक यह शरीर स्वस्थ है, जब तक बुढ़ापा दूर है, जब तक इन्द्रियों में शक्ति भरपूर है, जब तक आयु का अवसान नहीं हुआ है, विद्वान् पुरुष को चाहिए कि तब तक अपने कल्याण के लिए महान् प्रयत्न कर ले, नहीं तो घर में आग लग जाने पर कुआँ खोदने का प्रयत्न किस काम का।। श्रीभगवद् कृपा से श्रीरूप-सनातनजी को सहसा संसार सुख की क्षुद्रता एवं क्षणभंगुरता का विचार मन में आया, कहते हैं कि एक दिन दोनों भाई रात्रि के समय राजकोष के जमा-खर्च का हिसाब-किताब कर रहे थे, जोड़-बाकी में कहीं भूल हो रही थी, जिससे हिसाब बैठ नहीं रहा था, दोनों भाई हैरान थे। अधिक परिश्रम के कारण दोनों को बड़े जोर की प्यास लगी, तब आपने एक सेवक को बुलाकर शर्बत बनाकर लाने की आज्ञा दी, रात्रि में ठीक से न दिखायी देने के कारण वह सेवक बूरा मिलाने की जगह मैदा को ही घोलकर ले आया और दोनों भाइयों को पीने के लिए दिया, कार्य में अत्यन्त व्यस्त होने के कारण दोनों ही उस शर्बत को पी तो गये, परन्तु समझ नहीं पाये कि यह कैसा शर्बत है और पुनः काम में लग गये। प्रातःकाल जब वह सेवक कोठार में गया तो उसने देखा कि बूरा तो पात्र में ज्यों का त्यों रखा हुआ है, हाँ दूसरे पात्र से मैदा अवश्य निकाला गया है, तब उसे अपनी भूल मालूम पड़ी कि मैंने रात्रि में शर्बत में बूरा मिलाने की जगह मैदा ही घोलकर दोनों भाइयों को पिला दी। फिर वह सेवक अत्यन्त डरता हुआ हाथ जोड़कर दोनों भाइयों के पास आया और गिड़गिड़ाकर कहने लगा कि मुझसे बहुत बड़ी भूल हो गयी

है, आप लोग मुझे क्षमा करें। जब इन लोगों ने सेवक को बहुत-बहुत आश्वासन दे हुए उससे भूल का वृत्तान्त पूछा तो उसने सब बात बताई, अब तो दोनों भाइयों के मन में बड़ी ग्लानि हुई कि अहो? हम लोग संसार के मिथ्या कार्य में ऐसे तन्मय हो रहे थे कि बूरा और मैदा का भेद नहीं जान पड़ा। इस पर दोनों भाइयों ने विचार किया कि नश्वर सांसारिक कार्य से न तो स्वार्थ की ही सिद्धि है न परमार्थ की ही। स्वार्थ सिद्धि तो इसलिए नहीं, कि शरबत पीया परन्तु उसके स्वाद का भान नहीं हो पाया, सम्पूर्ण रात्रि दो पैसे के हिसाब-किताब मिलाने में ही व्यतीत हो गयी हम लोग रात्रि भर जागते ही रहे, सुख से सो भी नहीं सके? और इसमें परमार्थ इसलिए नहीं है कि रात्रि में एक बार भी भगवान का नाम मुख से नहीं निकला। जैसी तन्मयता हमें लौकिक कार्यों में है, कदाचित् हमें ऐसी तन्मयता यदि भगवान के ध्यान में होती तो अति शीघ्र हम लोगों को भगवद्-साक्षात्कार हो जाता। फिर तो उसी दिन से ही दोनों भाइयों ने संसार के सुख की अनित्यता विचारकर श्रीवृन्दावन वास का दृढ़ संकल्प कर लिया। विशेष विवरण आगे इनके चरित्र में देखिये।

वास वृन्दावन कीन्हौ—श्रीगौरांग महाप्रभुजी की प्रेरणा से आप दोनों भाइयों ने अखण्ड श्रीवृन्दावन वास किया। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि संसार सुख की अनित्यता एवं भगवद्-भजन की साररूपता का यथार्थ में बोध हो जाने पर तो घर में भी भजन करके भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है, फिर इन दोनों भाइयों ने घर छोड़कर श्रीवृन्दावन में क्यों वास किया? समाधान इस सम्बन्ध में विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२३३, ''वन में रहति'' की व्याख्या।

दृष्टान्त—बलखबुखारे के बादशाह का—एक बार बलखबुखारे के बादशाह के मन में निर्वेद (वैराग्य) जागृत हुआ। वह रात्रि के समय एकान्त में राज्य-सुख की नश्वरता का चिन्तन करते हुए विचार करने लगा कि साहब (भगवान) से किस प्रकार मिलन होगा? एक बार तो मन में यह विचार आया कि बादशाहत छोड़कर फकीरी वेष धारण करने पर ही साहब से मिलना सम्भव है। परन्तु दूसरे ही क्षण विचार बदल गया, वह सोचने लगा कि क्या महलों में रहकर साहब को नहीं पाया जा सकता है? परम सर्वज्ञ श्रीकबीरदासजी ने बादशाह के मन की गति जान ली और उसको उपदेश देने के लिए एक ऊँट हारे का वेष धारण करके हाथ में मशाल लिए उसके महल में प्रविष्ट होकर महल के प्रत्येक कोठरी-कोठरी में ऐसे घूमने लगे कि जैसे कोई खोई हुई वस्तु को ढूँढ़ रहे हो। बादशाह तो जाग ही रहा था, इन्हें देखकर उसने पूछा कि-''तुम

कौन हो और इतनी रात्रि में क्या ढूँढ़ रहे हो?'' इन्होंने कहा-''हम ऊँट वाले हैं, हमारा ऊँट खो गया है, हम उसे ही ढूँढ़ रहे हैं।'' बादशाह ने झुंझलाकर कहा-''कमबख्त कहीं के, इतना बड़ा ऊँट महलों के कमरों में क्यों कर मिलने लगा, उसे खोजना है तो कहीं वन में जाकर ढूँढ़।'' श्रीकबीरदासजी ने तत्काल जवाब दिया कि-''अरे बेवकूफ! जब इतना छोटा-सा ऊँट महल के कमरों में नहीं मिल सकता है, तो इतना बड़ा साहिब महलों में कैसे मिल सकता है? यदि तुम्हें भी साहब को पाना है तो किसी वन में जाकर उसे ढूँढ़। इस प्रकार के सिद्धान्त के वचन सुनते ही बादशाह समझ गया कि यह तो कोई खुदा के वन्दे ही जान पड़ते हैं। बादशाह ने समीप आकर पूछा कि ''आप कौन हैं?'' तब इन्होंने कहा कि-''हम कबीर हैं तुम्हें उपदेश देने के लिये ही आये हैं।'' तत्पश्चात श्रीकबीरदासजी ने बादशाह को साहिब की प्राप्ति का उपदेश दिया, जिसे सुनकर वह अपनी बादशाहत छोड़कर फकीर होकर वन को चला गया। ठीक इसी प्रकार से ही श्रीरूप-सनातनजी भी घर तथा राजसुख का परित्याग कर श्रीवृन्दावन में दृढ़ वास किया।

''यथा लाभ सन्तोष''—यह सन्त की रहनि है—यथा-''कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।। श्रीरघुनाथ कृपाल कृपा ते सन्त स्वभाव गहौंगो। यथा लाभ सन्तोष सदा काहू सौं कछू न चहौंगो।।'' (वि०), पुनः-''जथा लाभ सन्तोष सदाई।।'' (रामा०), ''कुंज करवा मन दीन्हौ'' यह प्रबल वैराग्य का स्वरूप है तथा श्रीवृन्दावन वास की विधि है। इन दोनों भाइयों को ऐसा वैराग्य हुआ कि महलों को छोड़कर श्रीवृन्दावन में आकर वृक्ष की लता-पताओं के तल में निवास करते थे तथा स्वर्ण-रजत पात्रों के स्थान पर मृत्तिका पात्र का ही प्रयोग करते थे, मधुकरी माँगकर खाते थे। रसिकजन ऐसे जीवन की अभिलाषा करते हैं।-यथा-''ऐसो कब करिहौ मन मेरौ। कर करवा हरवा गुँजन को कुँजन माहिं बसेरौ।। भूख लगै तब माँगि खाउँगो गिनौं न साँझ सबेरौ। ब्रजवासिन के टूक जूठ पुनि घर घर छौंछ महेरौ।। रासविलास वृत्ति करि पाऊँ मेरे खूँट न खेरौ। व्यास विदेही वृन्दावन में हरि भक्तन कौ चेरौ।।'' (व्यासवाणी) रसिकाचार्य स्वामी श्रीहरिदासजी कहते हैं-''मन लगाय प्रीति कीजै कर करवा सौं ब्रज बीथिन दीजै सोहनी। वृन्दावन सौं वन उपवन सौं गुँजमाल हाथ पोहनी।। गो, गो सुतन सौं, मृगी, मृग सुतन सौं और तन नेकु न जोहनी। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी सौं चित ज्यौं सिर पर दोहनी।।''करवा की महिमा वर्णन करते हुए श्रीभगवत रसिकजी कहते हैं- ''परम पावन करुवा कौ पानी। जाके पिये हृदय में आवत मोहन राधारानी।। अनुभव प्रगट होत क्रीड़ा कौ मोद विनोद कहानी। भगवतरसिक निकुँज

महल की टहल मिलै मनमानी।।'' अत: ''कुँज करवा मन दीन्हौ।।'' ''ब्रजभूमि रहस्य....उद्धार कियौ।'' इस सम्बन्ध में विशेष देखिये आगे के कवित्त में।

कहत बैराग गये पागि नाभा स्वामी जू वै गई यों निबर तुक पाँच लागी आँचि है।
रही एक माँझ धर्‍यो कोटिक कवित्त अर्थ याहीठौर लै दिखायो कविता कौ साँचि है।।
राधाकृष्ण रस की आचारजता कही यामें सोई जीवनाथभट्ट छप्पै बानी नाँचि है।
बड़े अनुरागी ये तौ कहिबो बड़ाई कहा अहो जिन कृपादृष्टि प्रेम पोथी बाँचि है।।३५७।।

शब्दार्थ—पागि=प्रेममग्न। निबर=बीत। तुक=छप्पय के चरण।

भावार्थ—श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि गोस्वामी श्रीनाभाजी, ''श्रीरूपजी तथा श्रीसनातनजी'' के वैराग्य का वर्णन करने में ऐसे प्रेममग्न हुए कि छप्पय के पाँच चरण वैराग्य वर्णन में ही पूरे हो गए। केवल एक चरण ही शेष रह गया, तब श्रीनाभाजी का मन अत्यन्त संतप्त हो उठा कि मैंने इनके प्रेमपक्ष का तो कुछ वर्णन ही नहीं किया। छप्पय की एक कड़ी ही शेष रह गयी थी कि आपने उसी में करोड़ों कवित्तों का अर्थ भर दिया। श्रीनाभाजी ने इस स्थल पर कविता का सच्चा स्वरूप प्रदर्शित किया है। इस एक तुक=(कड़ी) में श्रीनाभाजी ने श्रीरूप- सनातनजी की, श्रीराधाकृष्ण-रस की आचार्यता वर्णन की है। यह आचार्यता श्रीनाभाजी की वाणी में, श्रीजीव गोस्वामीपाद (छ०४९) एवं श्रीश्रीनाथभट्टजी (छ०-१५९)के छप्पय में प्रत्यक्ष रूप से है तथा श्रीजीव गोस्वामीपाद एवं श्रीश्रीनाथभट्टजी की वाणियों में भी नृत्य करती हुई दिखाई पड़ती है अर्थात् प्रत्यक्ष प्रकट है। अहो! जिनकी कृपादृष्टि से जनसाधारण भी प्रेम-पोथी पढ़े, पढ़ते हैं एवं पढ़ेंगे उनके लिए यह कहना कि ''ये दोनों महानुभाव बड़े अनुरागी थे'' क्या कोई बड़ाई है? अर्थात् नहीं। भाव यह है कि ये तो सहज ही प्रेम के रूप थे।।३५७।।

व्याख्या—रही एक माँझ धर्‍यो कोटिक कवित्त—वह कड़ी=(तुक) इस प्रकार से है-''ब्रज-१, भूमि-२, रहस्य-३, राधा-४, कृष्ण-५, भक्त-६, तोष-७, उद्धार-८, कियौ-९।।'' इस कड़ी (तुक) में कुल नव शब्दों का प्रयोग हुआ है (देखिये उद्धृत तुक में अंकांकित शब्दों को। ठीक इसी प्रकार से श्रीकूबाजी के स्मरण में श्रीनाभाजी ने नव अक्षरों का ही प्रयोग किया है। में यथा-''केवल कूबै मोल लियौ।।'' (छ०-१४९) तथा श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने भी श्रीकूबाजी का चरित्र वर्णन करने में नव कवित्त लिखे हैं। मानो एक-एक अक्षर पर एक-एक कवित्त लिखे हों। कारण यह है कि गणितशास्त्र में नव के अंक को, अंको की अवधि कहा गया है, अत: जहाँ कहीं भी वर्णन

की अंतिम सीमा दिखलायी जाती है, वहाँ उस विषय को नव की संख्या में कहा जाता है। श्रीरूप-सनातनजी की महिमा की अवधि को जनाने के लिए श्रीनाभाजी ने इस कड़ी=(तुक) में नव शब्दों का प्रयोग किया है। पुन: नव शब्दों में इनका वर्णन करके इन्हें नवधा-भक्ति का पोषण अनुयायी बताया। सुधी महानुभावों ने इस तुक का अनेक प्रकार से अर्थ किया है। यथा-(१) ब्रजभूमि रहस्य=गूढ़तत्व को जानने वाले तथा श्रीराधाकृष्ण के रहस्य को जानने वाले भक्तों को तोष (सन्तोष) प्रदान करने वाले अथवा तोष नामक भक्त के उद्धारक थे। (२) ब्रजभूमि के रहस्य को उद्धार=(प्रकट) किया, श्रीराधाकृष्ण के भक्त थे, तोष अर्थात् सन्तोष घर का नाम था (श्रीरूपजी का गृह का नाम सन्तोष था) (३) ब्रजभूमि के रहस्य, जो श्रीराधाकृष्ण, उनके भक्तों को तोष (वैष्णवतोषिणी टीका)है। उद्धार=प्रकट कियौ। (४) ब्रजभूमि ही की उपासना करके निवास किये। रहस्य = गूढ़तत्व के ज्ञाता थे। आपके श्रीराधाकृष्ण ही सर्वस्व थे। श्रीराधाकृष्ण के परम भक्त थे। तोष (श्रीकृष्णजी के सखारूप भी थे)। उद्धार =विमुखों का उद्धार किया। (५) ब्रजभूमि का रहस्य, श्रीराधाकृष्ण का रहस्य, तोष अर्थात् सन्तोष, शान्ति, ज्ञान-वैराग्य का रहस्य तथा उद्धार = जीवों का उद्धार कैसे हो इसका रहस्य। कियौ = अर्थात् अपने ग्रन्थों में वर्णन किया। (६) ब्रजभूमि के रहस्य का उद्धार किया। इससे श्रीराधाकृष्ण को तोष अर्थात् सन्तोष भयो एवं भक्तों को भी सन्तोष हुआ। (७) ब्रजभूमि के रहस्य श्रीराधाकृष्ण (श्रीराधागोविन्ददेवजी, श्रीराधामदनमोहनजी) को उद्धार=प्रकट किया। (८) ब्रजभूमि के रहस्य श्रीराधाकृष्ण एवं उनके भक्तों को तोष = प्रसन्न कर अपना भी उद्धार किया। (९) भूमि का रहस्य ब्रज और ब्रज के रहस्य श्रीराधाकृष्ण तथा श्रीराधाकृष्ण के रहस्य, रसिक भक्त, इन सभी को तोष=सन्तोष एवं उद्धार अर्थात् प्रकटीकरण किया एवं समस्त पृथ्वी के विमुख जीवों का उद्धार अर्थात् उन्हें भव से पार किया। (भ०व०टि०)

बड़े अनुरागी—यथा-''साधु सिरोमणि रूप सनातन। जिनकी भक्ति एकरस निबही प्रीति कृष्ण राधा तन।। जाको काज सँवार्‍यो चित दै हित कीनो छिन ता तन। जाके विषय वासना देखी मनसा करी न बातन।। वृन्दावन की सहज माधुरी रोम रोम सुख गातन। सब तजि कुँज केलि भजि अहनिसि अति अनुराग सदा तन।। तृनहूँ ते नीचे तरुहूँ ते सहकर अमानी मान सुहात न। असि धारा व्रत ओर निबाह्यौ तिन मन कृष्ण कथा तन।। करुणासिन्धु कृष्ण-चैतन्य की कृपा फली दुहुँ भ्रातन। तिन बिनु व्यास अनाथ भये अब सेवत सूखे पातन।।''
''जिन कृपादृष्टि प्रेम पोथी बाँचि है''-इसका भाव यह है कि आपने जीवों पर कृपा करके भक्ति-ग्रन्थों की रचना करके परम दुर्लभ प्रेम-रसामृत को सहज ही सुलभ कर दिया।

वृन्दावन ब्रजभूमि जानत न कोऊ प्राय दई दरसाय जैसी शुक मुख गाई है।
रीति हूँ उपासना की भागवत अनुसार लियौ रससार सो रसिक सुखदाई है।।
आज्ञा प्रभु पाय पुनि 'गोपीश्वर' लगे आय किये ग्रन्थ पाय भक्ति भाँति सब पाई है।
एक-एक बात में समात मन बुद्धि जब पुलकित गात दृग झरी-सी लगाई है।।३५८।।

शब्दार्थ—काल के कुचक्र से ब्रजमण्डल के तीर्थ प्रायः लुप्त-गुप्त हो गये थे। अतः उस समय उन तीर्थों एवं श्रीब्रजभूमि, श्रीवृन्दावन के स्वरूप एवं रहस्य को कोई नहीं जानता था। परन्तु श्रीरुप-सनातनजी ने, श्रीमद्भागवत में श्रीशुकदेवजी ने श्री ब्रज वृन्दावन के सम्बन्ध में जैसा कुछ कहा है, वैसा ही प्रगट करके दिखा दिया। आपकी उपासना की रीति-पद्धति भी श्रीमद्भागवतजी के अनुसार ही थी। आपने रस-सार शृंगार रस की उपासना अपनायी थी, जो रसिक महानुभावों को परम सुखदायिनी है। श्रीगौरांग महाप्रभुजी का आदेश पाकर आपने कुछ समय पर्यन्त श्रीगोपीश्वर महादेवजी के निकट निवास किया और श्रीमहाप्रभुजी की कृपा से सब प्रकार की भक्ति प्राप्त कर आपने अनेक भक्ति-ग्रन्थों की रचना की। उन सद्ग्रन्थों के द्वारा सबने सब प्रकार की भक्ति प्राप्त की। आपके सद्ग्रन्थों में वर्णित आपकी एक-एक बात में मन, बुद्धि जब निमग्न होते है तो ऐसा सुख मिलता है, कि शरीर पुलकायमान हो जाता है और आंखों से आंसुओं की झड़ी-सी लग जाती है।। ३५८।।

व्याख्या—दई दरसाय जैसी शुक मुख गाई है—श्रीवृन्दावन के सम्बन्ध में श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि-''वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद् देवकीसुतपदाम्बुज लब्धलक्ष्मि। गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्।।'' (भा० १०-२१-१०), अर्थ- गोपियाँ आपस में कहती हैं, अरी सखी! यह वृन्दावन वैकुण्ठलोक तक पृथ्वी की कीर्ति का विस्तार कर रहा है, क्योंकि यशोदानन्दन श्रीकृष्ण के चरण-कमलों के चिह्नों से चिह्नित हो रहा है। सखि! जब श्रीकृष्ण अपनी मुनिजन मन मोहिनी मुरली बजाते हैं तब मोर मतवाले होकर उसकी ताल पर नाचने लगते है। यह देखकर पर्वत की चोटियों पर विचरण करने वाले सभी पशु-पक्षी चुपचाप शान्त होकर खड़े हो जाते हैं।। ''ब्रजभूमि''- श्रीब्रजभूमि का माहात्म्य वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी अनुग्रह करते हैं-''श्रृणुतं दत्तचित्तौ मे रहस्यं ब्रजभूमिजम्। ब्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् ब्रज उच्यते।। गुणातीतं परं ब्रह्मं व्यापकं ब्रज उच्यते। सदानन्दं परं ज्योतिर्मुक्तानां पदमव्ययम्।।'' (भा०मा०), अर्थ- श्रीशाण्डिल्यजी कहते हैं- प्रिय परीक्षित एवं वज्रनाभ! मैं तुम लोगों को ब्रजभूमि का रहस्य बताता हूँ। तुम दत्तचित्त होकर सुनो, ब्रज शब्द का अर्थ है व्याप्ति। इस वृद्धवचन के अनुसार व्यापक होने के कारण ही इस भूमि

का नाम ब्रज पड़ा है। सत्व, रज, तम, इन तीनों गुणों से परे जो परब्रह्म है, वही व्यापक है, इसलिए उसे ब्रज कहते हैं। वह सदानन्द स्वरूप परम ज्योतिर्मय एवं अविनाशी है। जीवनमुक्त पुरुष उसी में स्थित रहते हैं। श्रीशुकदेवजी के द्वारा वर्णित श्रीवृन्दावन ब्रजभूमि का यह माहात्म्य काल के व्यतिक्रम से लुप्त हो गया था। जैसे कि श्रीचित्रकूटस्थ श्रीभरतकूप की महिमा का वर्णन करते हुए श्रीअत्रिजी कहते हैं-''तात अनादि सिद्ध थल एहू। लोपेउ काल विदित नहिं केहू।।'' (रामा०), श्रीव्रज-वृन्दावन के इस लुप्त-माहात्म्य को श्रीरूप-सनातनजी ने साकार करके दिखा दिया। यथा-

''वैकुण्ठाज्जनितो वरामधुपुरी तत्रापि रासोत्सवाद् वृन्दारण्यमुदारपाणि रमणात्तत्रापि गोवर्धनः। राधाकुण्डमिहापि गोकुलपतेः प्रेमामृताप्लावनात् कुर्यादस्य विराजतो गिरितटे सेवां विवेकी न कः।।''

अर्थ-भगवान् श्रीकृष्ण के जन्म लेने के कारण ही मथुरापुरी, वैकुण्ठ से भी श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण की रासलीला के कारण ही श्रीवृन्दावन, मथुरापुरी से भी श्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण के दिव्य परिकरों से उत्थित उनकी विविध प्रेमलीलाओं का स्थल होने से श्रीगोवर्धनगिरि, वृन्दावन से श्रेष्ठ है, किन्तु गोकुलपति श्रीकृष्ण के प्रेमामृत से पूर्णतया आप्लावित श्रीराधाकुण्ड इन सभी में श्रेष्ठ है। फिर ऐसा कौन बुद्धिमान् है जो श्रीगोवर्धनजी की तलहटी में स्थित इस राधाकुण्ड का सेवन न करेगा? (श्रीरूप गोस्वामिपाद कृत उपदेशामृत नवम श्लोक)।

श्रीसनातन गोस्वामिपाद ने श्रीवृहद्भागवतामृत, द्वितीयखण्ड, सातवें अध्याय में विविध शास्त्र, पुराण, प्रमाण पुरस्सर श्रीव्रज-वृन्दावन की महिमा का विस्तार से वर्णन किया है।

रहैं नन्दगाँव रूप आये श्रीसनातन जू महासुख रूप भोग खीर कौ लगाइयै।
नेकु मन आई सुखदाई प्रिया लाड़िली जू मानो कोऊ बालकी सुसौंज सब ल्याइयै।।
करिकै रसोई सोई लै प्रसाद पायो भायौ अमल सो आयो चढ़ि पूछी सो जताइयै।
फेरि जिनि ऐसी करौ यही दृढ़ हिये धरौ ढरौ निज चाल कहि आँखैं भरि आइयै।।३५९।।

शब्दार्थ—सुसौंज= सुन्दर सामान। अमल = प्रेम का नशा।

भावार्थ—एक समय श्रीरूप गोस्वामीजी श्रीनन्दग्राम में कदम्बटेर पर भजन कर रहे थे। उसी समय बड़े भाई श्रीसनातनजी श्रीवृन्दावन से आपके पास आये। उस समय श्रीरूपजी के मन में यह विचार आया कि आज मैं परम सुखदायी खीर का भोग श्रीठाकुरजी को लगाकर वह प्रसाद अपने अग्रज को पवाऊँ। आपके मन में किंचितमात्र् ही यह विचार आया था कि तत्काल ही भक्तों को सुख देने वाली श्रीलाड़िली श्रीप्रियाजू (श्रीराधिकाजी) एक

बालिका के रूप में खीर के लिए सभी सामग्री ले आयीं। उसी सामग्री से तुरन्त रसोई करके श्रीठाकुरजी को भोग लगाया और जब वह प्रसाद श्रीसनातनजी को पवाया तो उन्हें अत्यन्त ही प्रिय लगा तथा प्रेम का नशा छा गया। तब उन्होंने पूछा कि यह खीर किस प्रकार से बनी है? इसमें तो अलौकिक स्वाद है, तब श्रीरूपजी ने समस्त वृत्तान्त बताया, सुनकर श्रीसनातनजी ने कहा- कि अब पुन: ऐसी इच्छा मत करना मेरी इस बात को हृदय में दृढ़तापूर्वक धारण कर लो। तुम तो अपनी वैराग्य की चाल से ही चलो, इतना कहते-कहते श्रीरूप गोस्वामीजी एवं श्रीसनातनजी इन दोनों भाइयों के नेत्रों में प्रेमाश्रु छलछला आये।।३५९।।

व्याख्या—भोग खीर कौ लगाइयै—श्रीरूप गोस्वामीजी ने देखा कि श्रीसनातनजी शरीर से अत्यन्त कृश हो रहे हैं। तब आपके मन में विचार आया कि अहो! जो राजसुख भोगने वाले थे, वही आज इतना उत्कट वैराग्य अपनाकर शरीर को अत्यन्त दुर्बल कर दिया है। ज्येष्ठ भ्राता की कृशता श्रीरूपजी से देखी नहीं गयी। तब आपने सोचा कि ऐसा कौन-सा उपाय करूँ जिससे भाई साहब को शीघ्रातिशीघ्र शक्ति प्राप्त हो जाय, फिर विचार आया दूध सद्य: शक्तिदायी होता है, अत: यदि कहीं से दूध प्राप्त हो जाता तो मैं इन्हें खीर-प्रसाद पवाता। खीर-भोग श्रीठाकुरजी को भी अति प्रिय होगा और खीर-प्रसाद इन्हें भी बलकारी एवं पौष्टिक होगा।

सुखदाई प्रिया लाड़िली जू—श्रीरूपजी के मन में बस इतना विचार आते ही भक्तवाछां-कल्पवल्लीस्वरूपा श्रीराधिकाजी एक साधारण गोप-कन्या का रूप धारणकर दूध, चावल, बूरा, मेवा आदि सभी खीर की सामग्री लेकर तत्काल आ गयी और बोलीं- बाबा दण्डवत्! हमारी गैया को ब्याये आज इक्कीस दिन हो गये हैं अत: मेरी मैया ने कहा है कि लाली! यह दूध एवं अन्य सामग्री लेकर कदम्बटेर पर जो बाबा रहते हैं उनको पहले दे आ। जब बाबा अपने श्रीठाकुरजी को भोग लगा लेंगे तभी हम लोग गैया का दूध अपने उपयोग में लेंगे और मेरी मैया ने यह भी कहा है कि यदि बाबा खीर बनाने में आलस्य करें अथवा बनाना नहीं जानते हों, तो तू ही खीर बना देना।।'' श्रीरूपजी का तो मन-भावता हो गया। आप घर में राजसुख से रहने वाले थे, अत: आपको कभी रसोई बनाने का कार्य तो करना ही नहीं पड़ा था और श्रीवृन्दावन आने पर तो मधुकरी वृत्ति ही अपनायी थी, अत: रसोई बनाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। इसलिए खीर बनाना तो आपके लिए निश्चय ही टेढ़ी-खीर थी, परन्तु जब श्रीश्रीजी ने स्वयं खीर बनाने के लिए कहा तो आप अति प्रसन्न हुए और बोले-''अच्छा लाली तू ही बना दे, मैं कण्डा-ऊपला आदि बीन लाता हूँ।'' फिर

तो आनन-फानन में (अति शीघ्र) श्रीश्रीजी ने खीर बनायी और बाबा को दण्डवत्-प्रणाम करके अपने घर को चली गयीं। श्रीरूपजी ने श्रीठाकुरजी को भोग लगाया, श्रीठाकुरजी ने भी आज बड़े प्रेम एवं चाव से खीर भोग अरोगा, क्योंकि यह खीर साक्षात् श्रीश्रीजी के कर-कमलों द्वारा बना था। तत्पश्चात् श्रीसनातनजी को खीर-प्रसाद परोसा गया, श्रीसनातन गोस्वामीजी को प्रसाद पाते समय ग्रास-ग्रास में अलौकिक स्वाद का अनुभव होता था, रोम-रोम परमानन्द से परिपूर्ण हो रहा था। होना भी चाहिए, क्योंकि यह खीर स्वयं श्रीराधा सर्वेश्वरी ने बनाया था एवं साक्षात् श्रीसर्वेश्वर भगवान ने अति प्रेमपूर्वक पाया है, फिर क्यों न प्रेम का नशा चढ़े। श्रीसनातनजी से रहा नहीं गया, वे पूछ ही बैठे। तब श्रीरूपजी ने इसका समस्त वृत्तान्त बताया।''फेरि जिनि ऐसी करौ''-श्रीसनातनजी समझ गये कि वह बालिका कोई अन्य नहीं साक्षात् श्रीश्रीजी ही थीं। अत: आप श्रीरूपजी से बोले भैया! देखो, पुन: कभी भी ऐसा नहीं सोचना। आज श्रीस्वामिनीजी को तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिये कितना श्रम करना पड़ा? श्रीसनातनजी की बात सुनकर श्रीरूपजी प्रेम-विभोर हो गये।

रूप गुण गान होत कान सुनि सभा सब अति अकुलान प्रान मूरछा-सी आई है।
बड़े आप धीर रहे ठाढ़े न शरीर सुधि बुधि में न आवै ऐसी बात लै दिखाई है।।
श्रीगुसाँई कर्णपूर पाछे आय देखे आछे नेकु ढिंग भये स्वांस लग्यौ तब पाई है।
मानौ आगि आँचि लागी ऐसो तन चिह्न भयौ नयौ यह प्रेमरीति कापै जात गाई है।।३६०।।

भावार्थ—एक बार वैष्णव-समाज में श्रीरूप गोस्वामीजी के श्रीमुख से श्रीराधाकृष्ण के रूप-गुण लीला का गान हो रहा था, जिसे कानों से सुनकर सभा में उपस्थित सभी भक्तों के प्राण व्याकुल हो गये एवं सभी को मूर्च्छा सी आ गयी, परन्तु आप (श्रीरूपजी) बड़े धैर्यवान् थे, अत: यद्यपि आपको भावावेश में देह का भान भी न था फिर भी खड़े ही रहे, और खडे-खड़े ही रूप-गुणगान करते रहे। उस समय आपने प्रेम की ऐसी रहस्यमय स्थिति का दर्शन कराया जो कि बड़े-बड़े भावज्ञों की बुद्धि में नहीं आ सकती। उसी समय आपको श्रीकर्णपूर गोस्वामीजी ने पीछे से आकर भलीभाँति से देखा तो श्रीरूपजी यथार्थ में पूर्णरूप से स्वस्थ लग रहे थे, किसी प्रकार की आकुलता नहीं थी, परन्तु जब श्रीकर्णपूरजी आपके समीप आये तो श्रीरूपजी की श्वास इनके शरीर को लगी तब वे आपके प्रेम-प्रभाव को समझ पाये। श्वास का स्पर्श होते ही आपको ऐसा लगा कि मानो अग्नि की लपट लग गयी हो, तथा इनके शरीर पर अग्नि से जलने का चिह्न भी बन गया अर्थात् फफोले पड़ गये। श्रीरूपजी की इस प्रेम की नवीन रीति भला किससे गाई जा सकती है।।३६०।।

व्याख्या—अकुलान प्रान मूरछा-सी आई है— श्रीरूपजी विरह का प्रसंग वर्णन कर रहे थे, इस प्रसंग को सुनकर भक्तों के प्राण व्याकुल हो रहे थे तथा कितने तो मूर्च्छित हो गये थे। "बुधि में न आवै"- यह बात किसी के समझ में नहीं आ रही थी, कि जिस विरह-प्रसंग को सुनकर हम सभी व्याकुल हो रहे हैं, उसी प्रसंग के वर्णन करने पर इनके तन-मन में प्रेम-विरह का कोई भी लक्षण तक दिखायी नहीं दे रहा है, बात क्या है? "नयौ यह प्रेमरीति"-नयो प्रेम का भाव यह है कि जैसे एक हाथी छोटी-मोटी ताल-तलैया को तो अपने पौरुष से क्यों न मथ डाले, परन्तु वही हाथी जब महासमुद्र में जा पड़ता है तो वह उसे क्षुब्ध करने में असमर्थ हो जाता है, वहाँ तो वह स्वयं ही डूब जाता है। ठीक इसी प्रकार से जब प्रेमाभक्तिरूपी- हाथी सामान्य भक्तों के हृदय सरोवर में प्रविष्ट होकर तो उथल-पुथल मचा देता है, लेकिन श्रीरूप गोस्वामी जैसे महापुरुषों के हृदय-रूपी महासमुद्र में प्रेमरूपी हाथी उथल-पुथल न मचाकर वह अपने-आप में, शान्त भाव से निमग्न हो जाता है। पुन:-"प्रेम" पवन है, सामान्य प्रेमी तूल=रुई के समान हैं और विशेष प्रेमी हेमपिण्डवत् हैं। जैसे पवन रुई को तो उड़ाकर ले जाता है, परन्तु हेमपिण्ड को नहीं उड़ा सकता, ठीक उसी प्रकार से "प्रेम" सामान्य प्रेमियों को भले विचलित कर दे, परन्तु विशेष प्रेमी भक्त तो अविचल धैर्य वाले होते हैं, उस स्थिति में पहुँचकर "प्रेम" को भी समाधिस्थ होना पड़ता है। महापुरुषों की कृपा-प्रसाद के बिना इस स्थिति को प्राप्त करने की तो बात ही क्या, इसको समझना भी महान कठिन है। श्रीरूप गोस्वामीजी ऐसे ही "प्रेम" के महासमुद्र थे। यथा-"हृदय सरोवर छलछलहीं देत गयन्द झकोर। महासमुद्रहिं परै जब पावत ओर न छोर।। कहूँ बिन्दु कहुँ बिन्दु द्वै कहुँ चुल्लू भर जान। मूल सिन्धु रस रसिकता रूप सनातन मान।।"

श्रीगोविन्दचन्द आय निसि कौ स्वपन दियौ, दियौ कहि भेद सब जासौं पहिचानियै।
रहौं मैं खिरक माँझ पोषैं निसि भोर साँझ सीचैं दूध धार गाय जाय देखि जानियै।।
प्रगट लै कियौ रूप अति ही अनूप छबि कवि कैसे कहै थकि रहै लखि मानियै।
कहाँ लौं बखानौं भरै सागर न गागर में नागर रसिक हिये निसिदिन आनियै।।३६१।।

शब्दार्थ— खिरक = गोशाला। नागर =चतुर।

भावार्थ— श्रीरूप गोस्वामीजी को एक दिन रात्रि के समय ठाकुर श्रीगोविन्दचन्द्रजी ने स्वप्न में दर्शन दिया और अपना सभी रहस्य भी बता दिया, जिससे सहज में ही ये मुझे पहचान लें। श्रीठाकुरजी ने कहा कि मैं खिरक में भू-गर्भ में निवास करता हूँ। एक गाय नित्यप्रति सुबह शाम एवं रात्रि को भी अपनी दूध की धार से मेरा अभिषेक करती

है और मेरा पोषण भी करती है। आप वहाँ जाकर के देखिये, तब स्वयं समझ जायेंगे। श्रीठाकुरजी के संकेतानुसार श्रीरूप गोस्वामीजी ने श्रीगोविन्ददेवजी भगवान् का स्वरूप प्रकट किया। ठाकुर श्रीगोविन्ददेवजी की अत्यन्त ही अनुपम छबि है। भला कोई कवि उस छबि का वर्णन कैसे कर सकता है। इस बात पर पूर्ण विश्वास करें कि उस छबि के दर्शनमात्र से ही मन, बुद्धि एवं समस्त इन्द्रियाँ थकित हो जाती हैं। श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैं श्रीरूपजी की महिमा तथा श्रीगोविन्ददेवजी की शोभा का कहाँ तक वर्णन करूँ? क्या! कभी गागर में सागर भरा जा सकता है अर्थात् नहीं। चतुर रसिकजन रसिकेन्द्र चूड़ामणि श्रीराधागोविन्ददेवजी का एवं परम रसिक श्रीरूप गोस्वामीजी का निरन्तर हृदय में ध्यान करते हैं।।३६१।।

व्याख्या—श्रीगोविन्दचन्द्रजी— यह द्वापरयुग के अन्त में भगवान् श्रीकृष्णजी के प्रपौत्र श्रीवज्रनाभजी द्वारा प्रतिष्ठित श्रीविग्रह हैं। कालान्तर में भू-गर्भस्थ हो गये थे। अब आप श्रीरूपजी के प्रेम-भक्ति पर रीझकर पुन: प्रकट होकर भक्तों को आनन्द देना चाहते हैं। अत: स्वप्न में दर्शन देकर अनुरोध किया कि "मैं इस गोमा टीला के अन्दर हूँ, मुझे बाहर निकालकर मेरी सेवा-पूजा का विस्तार करो।" कवित्त में जो "खिरक" शब्द आया है उसे वर्तमान में "गोमा टीला" कहते हैं। स्वप्नानन्तर सहसा ही श्रीरूपजी की नींद खुल गयी, स्वप्न की झाँकी का दर्शन एवं मधुर वचनामृत का स्मरण कर आपका रोम-रोम पुलकायमान हो गया। प्रात:काल दैनिक कृत्य करके ज्यों उठे तो क्या देखते हैं कि एक श्यामवर्ण सुन्दर ब्रजबालक मधुर मुस्क्यान पूर्वक कह रहा है-"बाबा! मैं गोमा टीला पर नित्य एक गाय को दूध की धार बहाते हुए देखता हूँ, न मानो तो स्वयं चलकर देख लो।" यह सुनते ही श्रीरूपजी को स्वप्न का स्मरण हो आया विचार किया तो स्वप्नदृष्ट स्वरूप एवं इस बालक के स्वरूप में कोई भेद नहीं था तथा वचन भी दोनों के एक से ही थे। श्रीरूपजी मंत्रमुग्ध से हुए इस बालक के पीछे-पीछे चल दिये, जब निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचे तो समस्त बातें सत्य निकलीं। यह सब लीला देखकर आपका हृदय अपार आनन्द से उछल पड़ा। "प्रगट लै कियौ रूप"-वर्षा ऋतु समाप्त हो जाने पर आपने ब्रजवासियों को एकत्रित कर बड़ी सावधानीपूर्वक "गोमा टीला" खोदा गया तो दस हाथ नीचे श्रीगोविन्ददेवजी का दर्शन हुआ।

अति ही अनूप छबि— श्रीगोविन्ददेवजी का दर्शन कर एवं उनकी छवि पर मोहित होकर स्वयं श्रीरूप गोस्वामीजी कहते हैं-"स्मेरां भंगीत्रय परिचितां सातिविस्तीर्ण दृष्टिं, वंशी न्यस्ताधर किशलयामुज्ज्वलांचन्द्रकेण। गोविन्दाख्यां हरितनुमित: केशितीर्थोपकण्ठे, मा प्रेक्षिष्ठास्तव

यदि सखे! बन्धुसंगेऽस्तिरंगः।।'' ''अर्थ- हे सखे! यदि बन्धु-बान्धवों के संग में तुम्हारी आसक्ति है, तब तो केशीघाट तीर्थ निकटवर्ती, ईषद् हास्ययुक्त, त्रिभंगललित, तिरछी मनोहर विशाल दृष्टि वाली, जिनके अधर किसलय पर वंशी विराजमान है, और जो मयूरपंख द्वारा उत्कृष्ट शोभायुक्त है, ऐसी श्रीगोविन्ददेवजी नाम वाली श्रीहरिमूर्ति का दर्शन नहीं करना।।''

इस निषेध का वास्तविक तात्पर्य यह है कि यदि एकबार भी श्रीगोविन्ददेवजी का दर्शन कर लोगे तो सहज ही संसार की समस्त ममता से मुक्त हो जाओगे, तुम्हारी समस्त ममता सिमिट कर श्रीगोविन्ददेवजी में ही हो जायेगी। अत: यदि सांसारिक संकटों से छूटना चाहते हो तो शीघ्र हीश्रीगोविन्ददेवजी का दर्शन करो। गौड़ीय वैष्णव श्रीरघुनाथभट्टजी की प्रेरणा से जयपुर नरेश महाराज श्रीमानसिंहजी ने श्रीवृन्दावन में श्रीगोविन्ददेवजी का लाल पत्थर द्वारा सात मंजिल का विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था। आगे चलकर इस मंदिर को यवन राजाओं का कोपभाजन बनना पड़ा। इसकी तीन मंजिलें ध्वस्त कर दी गयीं। वर्तमान में भगवान् श्रीगोविन्ददेवजी जयपुर में विराजमान हैं।

रहैं श्रीसनातन जू नन्दगाँव पावन पै आवन दिवस तीन दूध लैकै प्यारियै।
साँवरौ किशोर, आप पूछें किहिं ओर रहो? कहे चारि भाई पिता रीतिहूँ उचारियै।
गये ग्राम, बूझी घर हरि पै न पाये कहूँ चहुँदिसि हेरि-हेरि नैंन भरि डारियै।
अबकै जो आवैं फेर जान नहीं पावै सीस लाल पाग भावै निसिदिन उर धारियै।।३६२।।

शब्दार्थ—पावन = नन्दगाँव का पावन सरोवर।

भावार्थ—एकबार श्रीसनातन गोस्वामीजी नन्दगाँव में पावन सरोवर पर भजन कर रहे थे, भजन में मन लग जाने से तीन दिन तक न तो गाँव में मधुकरी आदि माँगने गये और न तो संयोग से गाँव का ही कोई व्यक्ति सरोवर की ओर आया। चौथे दिन एक श्यामवर्ण का बालक दूध लेकर आया और उसने प्रार्थना पूर्वक आपको दूध पिलाया। बालक की रुपमाधुरी से आकृष्ट होकर आपने पूछा कि-तुम कहाँ रहते हो? तब बालक ने अपने घर का पता बताया तथा कहा कि हम चार भाई हैं, साथ ही पिताजी का भी परिचय दिया। बालक के चले जाने पर श्रीसनातनजी का मन पुन: बालक के दर्शन के लिए उत्कण्ठित हुआ, अत: सरोवर से उठकर नन्दगाँव आये और घर-घर जाकर पूछा, परन्तु कहीं भी बालक-रूपधारी श्रीहरि नहीं मिले। चारों ओर खोज-खोजकर हार गये। आपके नेत्रों से अश्रुपात होने लगा। तब आपने यह निश्चय किया कि यदि इस बार वह बालक आवेगा तो उसे मैं जाने नहीं दूँगा। श्रीसनातनजी को बालक के सिर पर बँधी लाल पगिया

बहुत ही अच्छी लग रही थी। आप दिन-रात उसी लाल पाग वाले साँवरे किशोर का ही ध्यान-चिन्तन करने लगे।।३६२।।

व्याख्या—साँवरौ किशोर—वह स्वयं ठाकुर श्रीमदनमोहनजी ही थे। ''कहे चारि भाई'' उनके नाम इस प्रकार से हैं-श्रीहरिदेवजी, श्रीबलदेवजी,श्रीकेशवदेवजी, श्रीगोविन्ददेवजी। श्रीठाकुरजी ने, दो नाम श्रीबलरामजी के एवं दो नाम अपने बताये। श्रीहरिदेवजी, श्रीगोवर्धन में विराजते हैं, श्रीबलदेवजी, बलदेव ग्राम में विराजते हैं। श्रीकेशवदेवजी मथुरा में विराजते हैं। श्रीगोविन्ददेवजी, श्रीवृन्दावन में विराजते हैं। इन चारों श्रीविग्रहों के नाम के साथ ''देव'' शब्द है, अत: इन्हें भाई-भाई कहा। पिताजी का नाम ''नन्दू'' बताया। ''गये ग्राम बूझी घर''- श्रीसनातनजी नन्दगाँव में घर-घर जाकर सबसे पूछते कि यहाँ कोई ''नन्दू'' नाम के ब्रजवासी हैं, उनके श्रीहरिदेव, श्रीबलदेव, श्रीकेशवदेव, श्रीगोविन्ददेव नाम के चार पुत्र हैं। नन्दगाँव में सभी ब्रजवासी कहते कि बाबा इस नाम का तो यहाँ कोई नहीं रहता है। ये बावरे से भये जहाँ-तहाँ पूछताछ कर रहे थे। एक वृद्ध ब्रजवासी ने आपके मन की व्यथा को समझ लिया, कि बाबा को नन्द के लाला ने छल लिया है, अत: वह आपको समझाते हुए बोला कि बाबा! वह श्याम किशोर बालक कोई और नहीं था, वह तो साक्षात् ठाकुर श्रीनन्दनन्दन ही थे। उन्होंने तुम्हें चकमा देने के लिए ही दो नाम अपने तथा दो नाम श्रीबलरामजी के बताये हैं और पिताजी श्रीनन्दबाबा को ही ''नन्दू'' नाम बताया है। यह सुनते ही श्रीसनातन गोस्वामीजी प्रेमविभोर हो गये और आँखें डबडबा आयीं।

कही व्याली रूप बेनी निरखि सरूप नैंन जानी श्रीसनातन जू काव्य अनुसारियै।
राधासर तीर द्रुम डार गहि झूलैं-फूलैं देखत लफलफात गति मति वारियै।।
आये यों अनुज पास फिरे आस-पास देखि भयौ अति त्रास गहे पाउँ उर धारियै।
चरित अपार उभै भाई हितसार पगे जगे जग माहिं मति मन में उचारियै।।३६३।।

शब्दार्थ—व्याली =सर्पिणी। वेनी = स्त्रियों की चोटी। राधासर =राधाकुण्ड। लफलफात = लहराती हुई। फिरे आस-पास =परिक्रमा की। हितसार = प्रेम का तत्व।

भावार्थ—श्रीरूप गोस्वामीजी ने ''चाटु पुष्पांजली'' नामक स्तोत्र में श्रीराधिकाजी की वेणी की नागिन से उपमा दी है। इस प्रसंग को जब श्रीसनातन गोस्वामीजी ने पढ़ा तथा श्रीराधिकाजी का स्वरूप अपने नेत्रों से देखा तो आपको यह उपमा प्रिय नहीं लगी। आपने विचार किया कि ऐसा लगता है कि भाई साहब ने भाव-पद्धति से हटकर केवल काव्य-पद्धति का ही अनुसरण करते हुए ऐसा लिखा है। परन्तु एकदिन श्रीसनातनजी, श्रीराधाकुण्ड

के तट पर बैठे भजन-ध्यान कर रहे थे। इतने में आप क्या देख रहे हैं कि एक वृक्ष की डाल पर झूला पड़ा हुआ है और उस पर बैठी एक गौरवर्ण की किशोरी प्रफुल्लितमना झूला, झूल रही है और सखियाँ उमंग में भरकर झुला रही हैं, उस किशोरी की पीठ पर आपको लफलफाती हुई नागिन-सी दिखायी पड़ी, आप तुरन्त ही उस नागिन से किशोरीजी की रक्षा करने के लिए दौड़े, परन्तु समीप पहुँचने पर देखा कि वह नागिन नहीं है, वस्तुतस्तु उसकी वेणी ही है। इतने में ही वह झूला का दृश्य भी अन्तर्धान हो गया। फिर तो आप समझ गये कि यह तो साक्षात् किशोरी श्रीराधिकाजी ही सखियों के साथ झूला, झूल रही थीं और हमारे भ्रम के निवारण के लिये ही यह लीला की थी। फिर तो श्रीराधिकाजी की वेणी को साक्षात् देखकर श्रीरुपजी के वर्णन को पूर्ण सत्य पाकर आपने उस पर अपनी मति-गति न्यौछावर कर दी। फिर तत्काल ही आप अपने छोटे भाई श्रीरूपजी के निकट आये एवं अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनकी परिक्रमा करने लगे, बड़े भाई को अपनी प्रदक्षिणा करते देखकर श्रीरूपजी ने भयभीत होकर इनके चरण पकड़ लिए, श्रीसनातनजी ने उन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया। दोनों ही भाई सदा भक्ति प्रेमरस-सार में पगे रहते थे। आप दोनों के चरित्र अपार हैं, आपका सुयश संसार में जगमगा रहा है। मन, बुद्धि को एकाग्र करके ऐसे अनन्य श्रीभक्तिमान् परम वैष्णवों के चरित्रों का गुणगान एवं चिन्तन मनन करना चाहिए।।३६३।।

व्याख्या—कही व्याली रूप वेनी—यथा-''नवगोरोचनागौरीं प्रवरेन्दी वराम्बराम् मणि स्तबक विद्योति वेणी व्यालांगना फणाम्।'' ''काव्य अनुसारियै''-इसका भाव यह है कि-भाव-पद्धति में तो परम सौम्यमूर्ति श्रीराधिकाजी की वेणी के लिए विष भरी कठोर नागिनी की उपमा देना समीचीन नहीं है। परन्तु कवियों ने प्राकृत नायिकाओं की वेणी के लिए इस प्रकार की उपमाओं का प्रयोग किया है, उसी कवि-पद्धति का अनुसरण करके इन्होंने ऐसा लिख दिया है। भावपक्ष को ध्यान में लाने पर यह उपमा किसी भी प्रकार से योग्य नहीं है, परन्तु श्रीकिशोरीजी ने अपने भक्त की वाणी को सत्य करके श्रीसनातनजी को अनुभव कराया कि श्रीरूपजी ने ध्यान में दर्शन करके यह उपमा दी है, केवल काव्य-पद्धति का अनुसरण नहीं है।

विशेष—श्रीरूप गोस्वामीजी—आपका अविर्भाव गोस्वामी श्रीवनमालीलालजी के निकट सुरक्षित प्रति के आधार पर वि०सं० १५५० एवं ''सज्जनतोषिणी-पत्रिका'' के आधार पर वि०सं० १५४६ में हुआ था। आपके पिताजी का नाम श्रीकुमारदेवजी एवं माताजी का नाम श्रीरेवतीदेवी था। श्रीसनातनजी बड़े भाई एवं श्रीअनुपमजी छोटे भाई थे। पिता

श्रीकुमारदेवजी मुर्शिदाबाद माँड़ ग्राम में निवास करते थे। आपके विद्वान् पिताजी ने आपको बँगला, हिन्दी, संस्कृत, अरबी, फारसी आदि भाषाओं की तथा व्यावहारिक राजनीति की भी उच्चतम शिक्षा दिलवायी थी। अपनी अलौकिक प्रतिभा-बल से ही आगे चलकर ये गौड़देश के शासक हुसेनशाह के मंत्रीपद पर आसीन हुए। वह प्रसंग इस प्रकार से है- नवाब हुसेनशाह का एक पीरू नामक राजमिस्त्री था। जो उस समय वास्तुविद्या एवं शिल्पकला में अद्वितीय था। नबाब के आदेश पर पीरू ने एक विशाल नीलप्रस्तर-खचित उच्चस्तम्भ का अपने हाथों से निर्माण किया। एक दिन नबाब स्वयं उस स्तम्भ को देखने करने के लिए गया, तो उस स्तम्भ की सुन्दरता पर मुग्ध होकर तथा पीरू के शिल्प नैपुण्य पर प्रसन्न होकर हुसेनशाह ने उसी समय उसे अपना बहुमूल्य हार एवं बहुत से वस्त्रादि उपहार में दिये, पीरू ने विशेष प्रसन्नता के आवेश में आकर कहा-हुजूर! मैं तो इससे भी अधिक सुन्दर स्तम्भ का निर्माण कर सकता हूँ। यह सुनकर नबाब ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर कहा कि-''नमक हराम! तू जब इससे भी अधिक सुन्दर स्तम्भ बना सकता है तो तूने इस स्तम्भ को वैसा क्यों नहीं बनाया?'' इस अपराध के कारण नबाब ने पीरू को एक ऊँचे स्थान से गिराकर मरवा दिया। पीरू ने जो स्तम्भ बनाया था तो इससे प्रसन्न होकर नवाब ने इसे पुरस्कार भी देने को कहा था, अत: पीरू ने मृत्यु से पहले नवाब से यह प्रार्थना की थी कि इस स्तम्भ का नाम मेरे नाम पर ही रखा जाय। नवाब ने उस स्तम्भ का नाम ''पीरूसा-स्तम्भ'' ही रखवाया। स्तम्भ का शिरोभाग बनना शेष रह गया था। इस घटना के कुछ समय पश्चात् हुसेनशाह एक दिन हिंगा नामक एक पियादा को साथ लेकर वहाँ गया एवं स्तम्भ को अपूर्ण देखकर अत्यन्त ही दु:खित हुआ। उस समय नवाब ने बिना कुछ कार्य निर्देश किये हिंसा को मोरग्राम जाने का आदेश दिया। हिंगा भयवश नवाब से कुछ पूछ न सका। हिंगा ने समझ लिया कि जिस प्रकार से पीरू का स्तम्भ निर्माण के कारण ही विनाश हुआ था, ठीक उसी प्रकार से ही आज मेरी भी मरणवेला है। वह व्याकुल मोर ग्राम में जाकर इधर-उधर घूमने लगा। श्रीसनातनजी ने हिंगा की यह दशा देखकर श्रीरूपजी के द्वारा उसे अपने पास बुलवाया, हिंगा ने अपने दु:ख का कारण बताया। श्रीसनातनजी ने अपने अनुमान से समझ लिया कि राजमिस्त्री के लिये ही हिंगा को मोरग्राम भेजा गया है। अत: उन्होंने हिंगा के साथ मोरग्राम के सुयोग्य राजमिस्त्रियों को अपने शिल्प- उपकरणों के सहित नवाब के पास भेज दिया, नवाब ने हिंगा की बुद्धि की प्रशंसा की। तब हिंगा ने श्रीरूप-सनातनजी का प्रसंग सुनाया, सुनकर नबाब ने तत्काल ही पालकी भेजकर दोनों भाइयों को बड़े आदरपूर्वक बुलवाया और दोनों को दरबार में ''दबीरखास'' एवं ''साकरमल्लिक'' का पद प्रदान किया। दोनों भाइयों ने बड़ी

दक्षता पूर्वक राज्यकार्य सभाँला। परन्तु कुछ समय पश्चात् इन दोनों भाइयों की राजपद एवं राजसुख से ग्लानि हो गयी, इस ग्लानि का एक प्रसंग मूल छप्पय की "यह सुख अनित्य विचारि"। की व्याख्या में आ चुका है। दूसरा प्रसंग इस प्रकार से है-

जब श्रीगौरांग महाप्रभुजी नीलाचल से श्रीवृन्दावन के लिए प्रस्थित हुए तो उस समय प्रभु के साथ में असंख्य भक्तजन चल रहे थे। इतने जनसमुदाय के साथ यात्रा करना उचित न समझकर श्रीमहाप्रभुजी,"कानाई नाट्यशाला" से वापस लौट आये एवं रामकेलिग्राम में उपस्थित हुए। उन दिनों दोनों भाई रामकेलिग्राम में ही निवास करते थे तथा श्रीमहाप्रभुजी की महामहिमा से भी परिचित थे। अत: दोनों भ्राता रात्रि में राजवेश गोपन कर श्रीमहाप्रभुजी से मिले एवं अत्यन्त दैन्यपूर्वक दोनों ने श्रीमहाप्रभुजी की स्तुति की। श्रीमहाप्रभु ने प्रसन्न होकर कहा कि तुम दोनों मेरे जन्म-जन्म के किंकर हो, तुम पर शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा होगी, मेरा गौड़देश आगमन का प्रधान कारण तुमसे मिलना ही था। ऐसा कहकर उनके मस्तक पर अपना हस्तकमल स्पर्श पूर्वक अपार कृपा की तथा दोनों का नाम बदलकर बड़े भाई का नाम सनातन एवं छोटे भाई का नाम रूप रखा (पहले तो श्रीसनातनजी का नाम अमर था एवं श्रीरूपजी का नाम सन्तोष था), श्रीमन्महाप्रभुजी का चरण-दर्शन एवं उनका कृपा-प्रसाद प्राप्त कर दोनों भाई मध्यरात्रि के समय पालकी में बैठकर अपने घर आ रहे थे। रास्ते में एक रजक-दम्पति (धोबी एवं उसकी पत्नी) अपने घर में बैठे बातचीत कर रहे थे। धोबिन को इनके जाने की आहट मिली तो उसने भयवश अपने पति से इस समय जाने वाले इन व्यक्तियों के सम्बन्ध में पूछा, तब रजक ने कहा कि इस समय और कोई नहीं हो सकता है या तो कोई कुत्ता है या कोई राज्य-कर्मचारी। श्रीरूप-सनातनजी ने यह बातें सुनीं, श्रीमन्महाप्रभुजी के उपदेशों द्वारा जो वैराग्यभाव उदय हुआ था वह रजक-दम्पत्ति के वार्तालापों को सुनकर और प्रखर हो गया। फिर तो घर आकर सम्पूर्ण सम्पत्ति का अर्द्धभागब्राह्मण एवं वैष्णवजनों की सेवा में लगा दिया और तृतीय भाग कुटुम्ब पालन एवं चतुर्थांश भाग विपत्ति के समय प्रयोग हेतु एक विश्वस्त ब्राह्मण के यहाँ पर रख दिया। श्रीरूपजी ने दस हजार मुद्रा श्रीसनातनजी के व्यय के लिए एक मोदी के पास सुरक्षित रख दी। इसी बीच जब श्रीचैतन्य महाप्रभु ने पुन: श्रीवृन्दावन के लिए प्रस्थान किया तो दूत मुख से (सेवक द्वारा) यह सम्वाद सुनकर श्रीरूपजी भी घर छोड़कर अपने छोटे भाई अनुपम को साथ लेकर श्रीवृन्दावन को चल दिये। राज्यकार्य में उदासीनता आ जाने के आरोप में हुसेनशाह ने श्रीसनातनजी को कैद कर लिया। श्रीरूपजी ने श्रीसनातनजी के नाम

एक गुप्त पत्र लिखकर भेजा जिसका आशय यह था कि किसी भी उपाय से बन्धन-मुक्त होकर श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में आ जाइये, श्रीगौरांग महाप्रभुजी श्रीवृन्दावन का दर्शन कर प्रयागराज लौट आये थे।

प्रयाग में ही श्रीरूपजी का श्रीगौरांग महाप्रभुजी से मिलन हुआ, इन्हें देखकर श्रीमहाप्रभुजी अत्यन्त प्रसन्न हुए एवं इनके विषय त्याग की भूरि-भूरि प्रशंसा की, श्रीसनातनजी का समाचार ज्ञात होने पर श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि वे शीघ्र ही बन्धन से मुक्त होकर हमसे मिलेंगे। श्रीत्रिवेणीजी के निकट श्रीप्रभु का वास स्थान था, श्रीरूपजी एवं अनुपमजी, श्रीमहाप्रभुजी के ही सान्निध्य में रहने लगे। वहाँ दशाश्वमेध घाट पर श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीरूप गोस्वामीजी को दस दिन तक भक्ति-सम्बन्धी शिक्षा दी एवं शक्ति का संचार किया। श्रीभक्तितत्व, रसतत्व, सिद्धान्ततत्व आदि का निगूढ़तम उपदेश देकर आपको श्रीवृन्दावन के लिए भेज दिया एवं स्वयं श्रीकाशी के लिए प्रस्थान किया। श्रीवृन्दावन में आकर श्रीरूप गोस्वामीजी एक मास पर्यन्त निवास किये। तदनन्तर श्रीगौर-चरणों के दर्शन तथा श्रीसनातनजी का वृत्तान्त जानने की आकांक्षा से दोनों भाई गंगातट मार्ग से पुन: प्रयाग आये। इसी मध्य श्रीसनातनजी बन्धन मुक्त होकर राजपथ से श्रीवृन्दावन आ गये थे। अत: इन दोनों भाइयों से श्रीसनातनजी का साक्षात्कार नहीं हो पाया। प्रयाग से चलकर श्रीरूप अनुपमजी काशी आये, वहाँ आपने दस दिन तक निवास कर फिर गौड़देश के लिए प्रस्थान किया, मार्ग में श्रीअनुपमजी का देहावसान हो गया। श्रीचैतन्य-चरणों का चिन्तन करते हुए श्रीरुपजी श्रीनीलाचल पहुँचे, तब तक श्रीमहाप्रभुजी, श्रीवृन्दावन से लौटकर वापस श्रीनीलाचल आ गये थे। श्रीचैतन्यदेव एवं श्रीजगन्नाथ भगवान् का दर्शन कर श्रीरूपजी परम आनन्दित हुए, यहाँ श्रीगौड़ीय श्रीवैष्णव-भक्तवृन्दों ने रूपजी का दर्शन पाकर परम सुख माना। कुछ समय श्रीनीलाचल में निवास करके श्रीरुपजी श्रीमहाप्रभुजी के संकीर्तन, नृत्यमाधुरी का दर्शन किया। तत्पश्चात् उनकी आज्ञा लेकर आप गौड़देश होते हुए श्रीब्रजभूमि में आ गये। श्रीसनातनजी का श्रीब्रजभूमि में प्रथम ही आगमन हो गया था। श्रीब्रजभूमि में निवास कर दोनों भाईयों ने श्रीमन्महाप्रभुजी के आदेश को स्मरण कर श्रीभक्तिरसपूर्ण शास्त्रों की रचना तथा लुप्त-तीर्थों का प्राकट्य एवं अनुसंधान, श्रीविग्रहों का प्रगटन तथा श्रीभक्ति-प्रचार आदि कार्यों में दृढ़तापूर्वक लग गये। श्रीरूपजी ने श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, श्रीउज्ज्वलनीलमणि, श्रीललितमाधव, श्रीविदग्धमाधव, श्रीमथुरा-माहात्म्य, दानकेलि कौमुदी, पद्यावली, हंसदूत,उद्धव-सन्देश, अष्टादशलीला छन्द, स्तवमाला, लघुभागवतामृत आदि अपूर्व ग्रन्थों की रचना की, इस प्रकार से आपका सम्पूर्ण जीवन ही श्रीभक्तिमय रहा।

एक बार श्रीरूप गोस्वामीजी भावना में लीला का दर्शन कर रहे थे। आपने उ
समय यह दृश्य देखा कि श्रीप्रियाजी पुष्पों से लदी एक लता से पुष्प चयन कर
का प्रयत्न कर रहीं हैं, परन्तु लता की डाली अधिक ऊँची होने के कारण पुष्प नहीं मि
रहे हैं, इतने में श्रीठाकुरजी वहाँ आ जाते हैं, श्रीप्रियाजू उनसे निवेदन करती हैं कि आ
तनिक डाली को पकड़ कर झुका दें, जिससे आसानी से फूल मिल जायँ, ठाकुर श्रीश्यामसुन्
ने तत्काल उछलकर उस पुष्प लता को झुका दिया, श्रीप्रियाजी पुष्प चयन करने में तन्मय हो गयीं
इतने में उस छली छैल ने डाली को छोड़ दिया,फलस्वरूप श्रीप्रियाजी उस पुष्प लता की
डाली को पकड़े ही झूल गयी, श्रीठाकुरजी की इस चंचलता पर श्रीरूप गोस्वामीजी को हँसी
आ गयी, संयोग की बात कि उसी समय एक लँगड़े वैष्णव उनके सामने होकर जा रहे थे,
उन्होंने इन्हें हँसते हुए देख लिया और मन में दुःख मान लिया कि ये मेरे लंगड़ेपन पर
हँस रहे हैं। वैष्णव के दुःख मानते ही, श्रीरूपजी को जो भावना-ध्यान में लीला-विलास
का साक्षात्कार हो रहा था वह बन्द हो गया। श्रीरूपजी के लाख प्रयत्न करने पर भी
लीलानुभव नहीं हुआ। तब आप अत्यन्त व्यथित होकर श्रीसनातनजी के निकट आये
और अपनी स्थिति निवेदन किये। श्रीसनातनजी ने सुविवेक-चिन्तन करके कहा-''निश्चय
ही तुमसे कोई जाने अनजाने में श्रीवैष्णव अपराध हो गया है, तभी श्रीप्रिया-प्रियतम
ध्यान में नहीं आ रहे हैं।''बहुत विचार करने पर भी श्रीरूपजी नहीं समझ पाये कि मुझसे किस
श्रीवैष्णव का अपराध बन गया। तब श्रीसनातनजी ने यह युक्ति बतायी कि तुम समस्त
श्रीवैष्णवों का वृहद्! भण्डारा करो एवं सभी से समष्टिरूप में क्षमा-याचना करो। श्रीरूपजी ने
आज्ञा शिरोधार्य कर ऐसा ही किया। जब ये समस्त श्रीवैष्णवों से अनुनय-विनय पूर्वक
प्रार्थना करने लगे कि, हे श्रीवैष्णवों! मुझसे जाने अथवा अनजाने में कोई श्रीवैष्णव अपराध
बन गया हो तो वे महानुभाव हमें क्षमा करें। तब वे लंगड़े श्रीवैष्णव अति क्रोधित होकर
बोले कि तुमने मेरा ही तो उपहास किया था, जब वे उस दिन की याद दिलाये तो इन्हें लीला
प्रसंग याद आया। फिर ये उस दिन के हंसने का स्पष्टीकरण किये। तब वैष्णव के चित्त का
खेद दूर हुआ। श्रीप्रिया-प्रियतम पुनः इनकी आँखों के सामने लीला विनोद करने लगे। इस
प्रसंग में वैष्णवापराध की परिणामरूपता पर प्रकाश पड़ता है।

एकबार अकबर बादशाह इनका दर्शन करने के लिए आया। इन्हें लता-कुंजों
में विराजमान देखकर अकबर ने इच्छा प्रकट की कि यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपके
निवास के लिए कुटिया बनवा दूँ। श्रीरूपजी मुस्कराये और मन ही मन विचार किये

कि इसको कुंजों की महिमा का परिज्ञान नहीं है, तभी तो ऐसा कह रहा है। फिर आपने अकबर का भ्रम दूर करने के लिए कृपापूर्वक श्रीवृन्दावन की दिव्य लताओं का दर्शन कराया, यह देखकर अकबर चकित हो गया और बोला-''महाराज हम नहीं जानते थे कि आप ऐसे दिव्य महल में निवास करने वाले हैं। हम तो अपनी सम्पूर्ण बादशाहत लगाकर भी एक कुंज महल का निर्माण नहीं करवा सकते हैं।'' तब श्रीरूपजी ने उसे यही आदेश दिया कि तुम आज से यही व्यवस्था कर दो कि-कोई भी ब्रज की लता-पताओं को नहीं काटे तथा यहाँ के पशु-पक्षियों की हिंसा नहीं करे। अकबर ने श्रीरूपजी की आज्ञा शिरोधार्य की और तत्काल ही आदेश करके कार्यरूप में परिणित किया।

श्रीसनातनजी गोस्वामी के तिरोभाव के पश्चात् श्रीरूप गोस्वामीजी अपनी कुटी से बाहर निकले, वहिर्व्यवहार को त्यागकर आप आन्तरिक ध्यान में निमग्न हो गये। अन्त में ''सज्जनतोषिणी पत्रिका'' के प्रकाशित लेख के आधार पर वि०सं० १६२१ एवं श्रीवनमालीलालजी के पास सुरक्षित प्रति के आधार पर वि०सं० १६२५श्रावणशुक्ल द्वादशी को कालिन्दी के तट, श्रीश्रृंगारवट के समीप श्रीगोस्वामी श्रीरूपजी नित्यनिकुँज लीला में प्रविष्ट हो गये, नित्यलीला परिकर में आप श्रीरूपमंजरी हैं, गोरोचन के सदृश आपकी अंगकान्ति है, प्रायः मयूरपक्ष के समान आप वस्त्र धारण करती हैं, सभी मंजरियों में प्रधान हैं इनकी प्रधान सेवा श्रीप्रिया-प्रियतम को ताम्बूल देना है। योगपीठ में सिंहासन के अति निकट उत्तर दिशा में इनकी नित्य स्थिति है। आपके सम्बन्ध में यह कविता बड़ी ही हृदयस्पर्शिनी है। ''भक्तिरस रूप राधाकृष्ण रस रूप पद रचना के रूप यातै रूप नाम भाखियै। त्याग रूप भाग रूप सेवासुख साज रूप रूप ही की भावना और रूप सुख चाखियै।। कृपा रूप भाव रूप रसिक प्रभाव रूप गीत गान रूप यातैं मन अभिलाखियै। महाप्रभु कृष्णचैतन्य जू के हृदय रूप श्रीगुसाँई रूप सदा नैंनन में राखियै।।''

श्रीसनातनजी—आपका अविर्भाव सप्त गोस्वामी ग्रन्थ के आधार पर वि०सं० १५२२ तथा श्रीवनमालीलालजी के निकट सुरक्षित प्रति के आधार पर वि०सं० १५४५ में हुआ था। आपके प्रारम्भिक जीवन का बहुत कुछ प्रसंग श्रीरूप गोस्वामीजी के चरित में आ चुका है। आगे का प्रसंग संक्षेप में इस प्रकार से है- श्रीरूपजी एवं श्रीअनुपमजी के श्रीवृन्दावन चले जाने के पश्चात् श्रीसनातनजी अत्यन्त उद्विग्न हो उठे, राज्यकार्य अब आपको संकटमय लगने लगा, अब तो रात-दिन यही चिन्ता घेरे रहती कि अब हमें यहाँ से किस प्रकार से मुक्ति मिले, अन्ततोगत्वा आप अस्वस्थता का बहाना बनाकर राजसभा में न जाकर, घर पर ही शास्त्रालोचन में लग गये। आपकी ओर से दो ब्राह्मण ''श्रीगोपाल-मंत्रराज'' का पुरश्चरण

इसलिए कर रहे थे, जिससे कि शीघ्रातिशीघ्र आपको श्रीचैतन्य चरणों की प्राप्ति हो। जब नवाब हुसेनशाह को यह समाचार प्राप्त हुआ तो उसने प्रथम तो साम, दाम नीतियों से समझा-बुझाकर आपको पुनः राजकार्य सँभालने की ओर उन्मुख करना चाहा, परन्तु जब यह प्रयत्न विफल रहा तो उसने दण्डनीति को अपनाया। फलस्वरूप उसने श्रीसनातनजी को करागार में बन्द करा दिया, परन्तु इसी बीच उड़ीसा में युद्ध छिड़ जाने के कारण नवाब को वहाँ जाना पड़ा। इधर श्रीसनातनजी ने जेल अधीक्षक को सात हजार अशर्फियाँ देकर अपने पक्ष में कर लिया, उसने श्रीसनातनजी की हथकड़ी-बेड़ी काटकर रात्रि में ही आपको गंगा नदी से पार कर दिया, आपके साथ में एकमात्र ईशान नाम का एक सेवक था, आपने पातड़ा पर्वत की उपत्यका पार करने के पश्चात् ईशान को भी वापस कर दिया और स्वयं अकेले ही श्रीवृन्दावन की ओर चल पड़े। हाजीपुर में आपके बहनोई श्रीकान्तजी मिले, परिस्थिति से परिचित होने पर श्रीकान्तजी ने शीतकाल का आगमन जानकर एक सुन्दर मूल्यवान् भूटानी कम्बल देकर इन्हें विदा किया। आप अविश्रांत भाव से पैदल यात्रा करके काशी आये, यहाँ आने पर आपको समाचार मिला कि प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभुजी यही श्रीचन्द्रशेखर वैद्यजी के घर विराज रहे हैं। यह समाचार सुनकर आपको अपार प्रसन्नता हुई और श्रीमहाप्रभुजी के दर्शनों की आकांक्षा से चन्द्रशेखर वैद्यजी के द्वार पर आकर एक कोने में बैठ गये।

अन्तर्यामी श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीसनातनजी का आगमन जान लिया और तत्काल ही चन्द्रशेखरजी को कहा कि द्वार पर बैठे हुए श्रीवैष्णव को अंदर ले आओ, परन्तु द्वार पर कोई श्रीवैष्णव-वेषधारी हों तब ही तो उन्हें साथ में लावें, उन्होंने वापस आकर कहा-''वहाँ तो कोई श्रीवैष्णव-वेषधारी नहीं हैं, लेकिन हाँ फकीर-सा एक मनुष्य अवश्य बैठा हुआ है।'' श्रीमन्महाप्रभुजी ने कहा कि वही तो वास्तविक वैष्णव हैं, उन्हें आप सम्मानपूर्वक यहाँ लाइये। श्रीचन्द्रशेखरजी ने श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा श्रीसनातनजी को सुनाई और उन्हें अपने साथ लेकर श्रीमहाप्रभुजी के निकट आये। श्रीसनातनजी ने भाव-विभोर होकर दूर से ही श्रीमन्महाप्रभुजी के श्रीचरणों में साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया और श्रीप्रभु की श्रीचरण-रज को मस्तक पर लगाया। श्रीमहाप्रभुजी ने दौड़कर उठाकर हृदय से लगा लिया। श्रीसनातनजी ने अत्यन्त ही आर्त होकर कहा कि-''प्रभो! आप यह क्या कर रहे हैं? मैं तो अत्यन्त नीच हूँ, आप मेरा स्पर्श नहीं कीजिये।'' श्रीमहाप्रभुजी ने कहा कि-''सनातन! तुममें वह भाव-भक्ति बल विद्यमान है, जिससे कि तुम अनेक ब्राह्मणों को पवित्र कर सकते हो। मैं तो अपनी आत्मसंशुद्धि के लिये ही तुम्हें स्पर्श कर रहा हूँ तथा अपनी वाणी

और इन्द्रियों की पवित्रता के लिये ही तुम्हारे दर्शन एवं गुणों का गान कर रहा हूँ। श्रीकृष्ण की तुम्हारे ऊपर अपार कृपा है, जो कि तुम सहज में ही सांसारिक बन्धनों से छूट कर यहाँ आ गये। यह सुनकर श्रीसनातनजी ने कहा कि-''प्रभो! मैं तो श्रीकृष्ण को नहीं केवल आपको जानता हूँ।'' तदनन्तर श्रीमहाप्रभुजी ने प्रयाग में श्रीरूपजी का मिलन एवं श्रीवृन्दावन गमन का समाचार सुनाया। श्रीप्रभु की आज्ञा से श्रीसनातनजी का वह फकीरी वेष हटाकर क्षौर=कराके (मुण्डन-संस्कार) करवाकर श्रीगंगाजी में स्नान कराया गया, फिर धारण करने को नवीन वस्त्र दिया गया, आपने नवीन वस्त्र स्वीकार न करके श्रीवैष्णव-उच्छिष्ट-वस्त्र ही धारण करने की अभिलाषा व्यक्त की। तब श्रीमहाप्रभुजी ने अपने कृपापात्र महाराष्ट्रीय ब्राह्मण श्रीतपनमिश्रजी जिनके यहाँ पर श्रीमहाप्रभुजी नित्य प्रति भिक्षा लेने जाते थे, उनसे ही अपनी पहनी उच्छिष्ट-वस्त्र एक धोती इनको दिलवायी, इन्होंने उसी उच्छिष्ट-धोती में से एक कौपीन एवं बहिर्वास बनाकर धारण किया। उस दिन तो ये श्रीतपनमिश्रजी के गृह पर ही श्रीमहाप्रभुजी का उच्छिष्ट-प्रसाद ग्रहण किया। परन्तु प्रतिदिन के लिए तो आपको मधुकरी ही उत्तम लगी, अतः ये संकोच छोड़कर घर-घर जाकर मधुकरी माँग लाते और उसी से उदरपूर्ति कर लेते। पूर्व कहा जा चुका है कि आपके बहनोई ने आपको एक सुन्दर मूल्यवान् भूटानी कम्बल दिया था। श्रीमहाप्रभुजी बार-बार उस कम्बल की ओर देखते, श्रीसनातनजी ने श्रीमहाप्रभुजी का अभिप्राय समझ गये। अतः एक दिन स्नानार्थ श्रीगंगाजी के तट पर जाकर आपने एक श्रीवैष्णव को वह बहुमूल्यवान् कम्बल दे करके उससे पुराना कन्था लेकर निज निवास स्थान पर आये। श्रीमहाप्रभुजी, इनके इस उत्कृष्ट वैराग्य पर अति प्रसन्न हुए और बोले-''सनातन! तुमने यह बहुत अच्छा कार्य किया। लोग तुम्हें देखकर कहते थे कि देखो, बाबा घर-घर भिक्षा माँगता है लेकिन तीन रुपये का भूटानी कम्बल ओढ़ता है। उन दिनों का तीन रुपया ही आज के तीन हजार के बराबर होता है। आपकी आकांक्षानुसार भगवान ने सर्वथा आपको निरुज बना दिया।'' श्रीसनातनजी ने तो इसे श्रीमन्महाप्रभुजी का ही कृपा-प्रसाद समझा।

तदनन्तर श्रीसनातनजी की प्रार्थना पर श्रीमहाप्रभु ने इन्हें साध्य-साधनतत्व का सारगर्भित उपदेश दिया। जिसका सारांश यह है कि-''**नामे रुचि जीवे दया करु आचरन। यही मते भक्तिसार श्रीवैष्णव सेवन।।**''अर्थात् जीवों पर दया करना, श्रीहरिनाम में रुचि रखना एवं श्रीवैष्णवों की सेवा करना यही श्रीवैष्णव धर्म का सार सिद्धान्त है। उपदेश सुनकर श्रीसनातनजी ने परम कृतज्ञता प्रकट की। तत्पश्चात् श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा एवं आशीर्वाद

शिरोधार्य कर श्रीवृन्दावन को चल पड़े। संयोग की बात, है कि जब श्रीसनातनजी श्रीवृन्दावन आये तो आपके आगमन के पूर्व ही श्रीरुपजी श्रीनीलाचल को प्रस्थान कर चुके थे। अत: इस यात्रा में श्रीरुपजी से भेंट नहीं हुयी, कुछ समय श्रीवृन्दावन में निवास करने के पश्चात् आपने श्रीनीलाचल के लिए प्रस्थान किया, मार्ग में झारिखण्ड में दूषित जलवायु के संस्पर्श से आपके शरीर में रक्तदोष हो गया। सर्वाङ्ग में सूजन आ गई एवं जहाँ-तहाँ पूयस्त्राव होने लगा, इसी स्थिति में श्रीनीलाचल पहुँचे। संकोचवश सीधे श्रीमहाप्रभुजी के यहाँ न जाकर, श्रीहरिदासजी ठाकुर की भजन कुटी पर गये। सर्वज्ञ श्रीमन्महाप्रभुजी आपके आगमन को जान गये और वहीं जाकर आपने श्रीसनातनजी को दर्शन दिया तथा इनके मना करने पर भी इन्हें हृदय से लगाकर कृतार्थ किया। अपनी दयनीय देह दशा देखकर श्रीसनातनजी ने ग्लानिवश रथ यात्रा के समय रथ के पहिये के नीचे दबकर देह-त्याग करने का संकल्प कर लिया था। श्रीमन्महाप्रभुजी से इनका मनोभाव छिपा न रहा, अत: एक दिन एकान्त में समझाते हुए बोले-'सनातन! यदि तुम्हें देह-त्याग से श्रीभगवद्-प्राप्ति अथवा दु:खों से छुटकारा हो जाता हो तो मैं भी तत्काल अपने शरीर को श्रीकृष्ण चरण-कमलों में न्यौछावर करने को प्रस्तुत हूँ। परन्तु श्रीभगवत्प्राप्ति तो भजन एवं भक्ति से ही सुलभ है। दूसरी बात यह है कि जब तुमने अपना सर्वस्व त्यागकर मेरे चरणों में अपने को समर्पित कर दिये हो, तब मेरी इस सम्पत्ति को नष्ट करने वाले तुम कौन हो? इस पर तो मेरा ही पूर्ण अधिकार है, इससे मुझे बहुत कार्य कराने हैं। श्रीप्रभु की यह ममतामयी वाणी सुनकर श्रीसनातनजी गद्गद हो गये। श्रीहरिदास ठाकुर का अर्न्तभाव जानकर श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीसनातनजी का रक्तदोष दूर करने के लिए पुन: कृपापूर्वक आलिंगन किया। श्रीप्रभु के दिव्य-स्पर्श से श्रीसनातनजी का शरीर स्वर्णमय हो गया। तदुपरान्त श्रीसनातनजी ने श्रीमन्महाप्रभुजी के आदेशानुसार एक वर्ष तक श्रीनीलाचल में ही निवास किया और श्रीमन्महाप्रभुजी का दिव्य-दर्शन एवं उपदेशामृत का लाभ लेते रहे। तत्पश्चात् आप पुन: श्रीवृन्दावन चले आये, यहाँ आकर श्रीसनातनजी ने श्रीमन्महाप्रभुजी के आदेशानुसार अनेक शास्त्रों का मंथन करके ब्रज के विलुप्त तीर्थस्थलों का उद्धार किया एवं सद्ग्रन्थ रचना द्वारा शुद्धवैष्णवोचित मर्यादा स्थापित की। आपके प्रणीत सद्ग्रन्थों में वृहद्भागवतामृत, वृहद्वैष्णवतोषिणी, श्रीलीलास्तव आदि प्रमुख हैं।

एक दिन श्रीसनातन गोस्वामीजी ने महावन में एक रहस्यमय दृश्य देखा कि कुछ गोप बालकों के संग खेलते हुए एक नव तमाल श्यामल बालक आपकी ओर देखकर मुस्करा रहा

है, ये उसकी मंद मुस्क्यान एवं रूपमाधुरी से आकृष्ट होकर उसे पकड़ने के लिये दौड़े तो वह बालक अन्तर्धान हो गया, आप भाव-विभोर हो विलाप करने लगे, रोते-रोते आपको निद्रा की एक झपकी-सी आयी तो क्या देखते हैं कि वही श्यामल गोपबालक स्वप्नावस्था में कह रहा है कि-"मैं मथुरा में श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी के घर में हूँ। अब तुम मुझको इनके यहाँ से ले चलो।" श्रीसनातन गोस्वामीजी की निद्रा भंग हुयी और प्रात:काल होते ही मधुकरी के बहाने श्रीपरशुरामजी चौबे के आवास स्थान पर पहुँचे। वहाँ आपको उस बालक का ठाकुर श्रीमदनमोहनजी के रूप में दर्शन हुआ। आप वैसे तो एक दिन मधुकरी कर लाते और श्रीठाकुरजी का भोग लगाकर कई-कई दिन तक प्रसादरूप में ग्रहण कर भजन में तल्लीन रहते, परन्तु उस दिन से तो आप प्रतिदिन मधुकरी भिक्षा के लिये जाने लगे और श्रीमदनमोहनजी का दर्शन कर अश्रुपात करते रहते।

एक दिन घर की एक वृद्धा माता ने आपकी दैन्य दशा को देखकर कहा कि "बाबा! इन्हें क्या देखते हो, ये तो ऐसे ठाकुरजी हैं कि जब से मेरे घर में आये हैं तब से मेरा सर्वनाश हो गया, पहले मेरा बहुत बड़ा कुटुम्ब था, घर धन-सम्पत्ति से भरा था। परन्तु अब तो मैं एक अकेली ही रह गयी हूँ।"श्रीसनातनजी ने भी उदासमुद्रा में कहा कि -"माताजी! कुछ पूछो मत मेरी भी यही दशा है, मैंने भी जबसे इनसे प्रीति की तब से मेरा भी सर्वनाश हो गया, नहीं तो मेरे पास भी पहले राजाओं के समान ऐश्वर्य था। परन्तु अब तो एकमात्र लँगोटी ही शेष रह गयी है।"वृद्धा ने कहा-"बाबा! मैं तो वृद्ध हो चली, अत: मैं तो चाहती हूँ कि इनको कोई यहाँ से ले जाय तो अच्छा हो क्योंकि अब मुझसे इनकी सेवा-पूजा भी नहीं बन पाती है और इनका यह हाल है कि इन्होंने मेरे सपरिवार में से किसी को भी रहने नहीं दिया। अन्ततोगत्वा मेरी मृत्यु के पश्चात् इनको किसी न किसी के यहाँ जाना ही होगा, यदि अपने सामने ही इनको किसी को सौंप देती तो मुझको सन्तोष हो जाता, मैं इन्हें छोड़ना नहीं चाहती, परन्तु मेरा स्वयं का शरीर ही मेरे लिए भार हो रहा है, फिर मैं इनकी किस प्रकार से सेवा-पूजा कर सकती हूँ।" तब श्रीसनातनजी ने कहा-"मैया! यदि ऐसी ही बात है तो तू इन्हें मुझे ही दे दे, मैं इन्हें अपने संग ले जाऊँगा।" वृद्धा माता ने कहा-"बाबा! जब इन्होंने तेरा भी सर्वनाश कर दिया है तो तुम इनको ले जाकर क्या करोगे?" इन्होंने कहा-"मैया! ये अब इससे अधिक कर भी क्या सकते हैं। अब तो मेरे तन पर एकमात्र लंगोटी ही रह गई है, अत: अब मुझे अपने विनाश का भय नहीं है।" बाबा की ठाकुर श्रीमदनमोहनजी के प्रति अनन्य निष्ठाभाव देखकर, वृद्धा माताजी ने श्रीठाकुरजी

को सौंप दिया। ये अत्यन्त ही प्रसन्न मुद्रा में श्रीठाकुरजी श्रीवृन्दावन ले आये और आदित्य टीला स्थित अपनी पर्णकुटी में पधरा दिये। पहले ये एक दिन मधुकरी लाते तो उसको कई दिन तक प्रयोग में लेते, परन्तु श्रीठाकुरजी के आगमन से अब श्रीसनातनजी भोग-राग हेतु चिन्तित हुये। अत: अब आप भिक्षा में आटा माँगकर लाने लगे और बिना आटा छाने बिना नमक डाले ही उसकी अँगाबाटी बनाकर श्रीठाकुरजी को अर्पण कर देते, कुछ दिन तक यह क्रम चलता रहा, फिर एक दिन श्रीठाकुरजी ने कहा-''बाबा! यह अग्नि में जली हुई सूखी बाटियाँ मुझे अच्छी नहीं लगती हैं, थोड़ा सा नमक तो अवश्य माँग लाया करो।'' यह सुनते ही परम वैराग्यवान श्रीसनातन गोस्वामीजी झल्लाते हुए बोले कि-''अहो! मैं तो समझ गया, आप तो जन्म के ही चटोरें हो, बाल्यकाल से ही खाने-पीने के सम्बन्ध में आपकी जीभ बिगड़ गई है, अब आप मुझको भी अपने जैसा बनाना चाहते हैं। आज नमक माँगते हो, कल घी माँगोगे, परसों चीनी के लिये कहोगे, क्या! इसीलिये मैंने वैराग्य लिया है। क्या! आप अपनी गीता के गुटका का विस्तार कर मेरा वैराग्य बिगाड़ना चाहते हैं।

दृष्टान्त—गीता के गुटका का—एक गाँव के बाहर एक अत्यन्त ही विरक्त महात्मा रहते थे। वे परम अकिंचन एवं परम अपरिग्रही थे। संग्रह के नाम पर कुछ पूजा-पाठ की, कुछ तिलक-स्वरूप की सामग्री के अतिरिक्त उनके पास कुछ नहीं था। एक सेवक ने इन्हें अत्यन्त सुन्दर सुनहली जिल्दयुक्त एक ''श्रीमद्भगवद्गीता'' का गुटका (रेशमी वस्त्र से आवेष्टित करके महात्माजी को भेंट में दिया था) वह उनकी कुटिया की परम सम्पत्ति थी, सेवा में एक शिष्य रहता था। कुछ समय पश्चात् महात्माजी ने तीर्थ पर्यटन का विचार किया, अत: शिष्य को कुटिया एवं श्रीगीताजी के गुटका को सौंपते हुए बोले-''बच्चा! यह गीता समस्त ज्ञान का भंडार है, साक्षात् श्रीकृष्ण स्वरूप है, इसको तुम संभालकर रखना एवं इसका स्वाध्याय करना भगवान का भजन करना।'' यह उपदेश देकर महात्माजी तो तीर्थ पर्यटन के लिये चले गये। शिष्य बड़ी चौकसी से गीता के गुटका की सार-संभाल रखता, श्रीगुरुजी का कृपा प्रसाद जो था। संयोग की बात एक दिन गीता के गुटका की जिल्द को चूहा ने काट दिया, अब तो शिष्य को बड़ा दु:ख हुआ, उसने ग्राम वालों को बुलाकर कहा कि अब हम यहाँ पर नहीं रहेंगे, क्योंकि चूहों ने मेरा सर्वनाश कर दिया। ग्राम वालों ने विचार किया कि साधु का इस प्रकार से दु:खित होकर जाना ठीक नहीं है। अत: उनको समझाते हुए बोले-''महाराज! आप चूहों से चिन्तित न हों, चूहों के भगाने का उपाय कर दिया जायेगा। इसके पश्चात् लोगों ने एक बिल्ली लाकर

इनकी कुटिया में रख दी, अब बिल्ली के आ जाने से चूहों का आगमन तो बन्द हो गया परन्तु बिल्ली शिष्यजी की चिन्ता का विषय बन गयी, क्योंकि बिल्ली को तो चाहिए दूध-दही, वह प्रतिदिन रोटी खा-खाकर दुर्बल होने लगी, शिष्य ने पुन: ग्रामवासियों के समक्ष यह समस्या रखी, तो ग्रामवासियों ने एक दुग्ध देने वाली गाय की व्यवस्था कर दी, अब तो महात्माजी को खूब आनन्द हो गया। दुग्ध का स्वयं भी सेवन करते एवं बिल्ली को भी पिलाते। अब कुछ ही दिनों में दोनों ही हृष्ट-पुष्ट हो गये, परन्तु उचित मात्रा में घास-चारा न मिलने के कारण गाय दुर्बल होने लगी, फलस्वरूप दूध भी कम हो गया। शिष्य ने पुन: ग्रामवासीजनों का आह्वान किया, तो उन लोगों ने घास-चारा, गोबर-पानी के लिए एक नौकरानी की व्यवस्था कर दी। अब महात्माजी का समय अति आनन्दपूर्वक व्यतीत होने लगा। पहले तो वह नौकरानी दिन भर कार्य करके सायंकाल अपने घर को चली जाती थी, कुछ दिन पश्चात् नौकरानी अपने घर न जाकर रात-दिन कुटिया में स्थायी निवास करने लगी। कुटिया में साथ-साथ रहने पर महात्माजी की नौकरानी में भयंकर आसक्ति हो गयी। वह उसके मोहपाश में फँस गये, वह नौकरानी अन्ततोगत्वा इनकी गृहणी बन गयी, अब उस नौकरानी द्वारा कई बाल-बच्चे भी पैदा हुए। अब वह भजनकुटी भजनकुटी न रही, एवं अब वह बाबा भी बाबा न रहे, अब उस भजनकुटी में सम्पूर्णतया गृहस्थ आश्रम जैसा वातावरण हो गया। दैवयोग से कुछ समय पश्चात् इनके श्रीसद्गुरुदेवजी तीर्थयात्रा करके अपनी भजनकुटी पर वापस आये। आकर देखा कि यहाँ पर तो केवल दुनियादारी की ही बातें दिखाई पड़ रही हैं श्रीगुरुजी की समझ में नहीं आ रहा था कि यह सब क्या है, आश्रम का स्वरूप ही बदल गया था, ठीक उसी समय ही शिष्यजी अपने परिवार सहित स्नान करने जा रहे थे। आगे-आगे स्वयं थे एवं दो बालकों को कन्धा पर बैठाये हुये थे और दो बच्चों को उंगली पकड़ाकर चल रहे थे, पीछे-पीछे इनकी घरवाली थीं वह भी एक शिशु को गोद में लिये एवं एक बच्चे का हाथ पकड़कर चल रही थी। गाय-बछड़ा, बिल्ली भी इन लोगों के संग-संग चल रहे थे, यह सब दृश्य देखकर श्रीगुरुजी अवाक् रह गये। शिष्य ने श्रीसद्गुरुदेवजी को पहचानकर उनको दण्डवत्-प्रणाम किया, तत्पश्चात् श्रीगुरुदेवजी ने शिष्य को आशीर्वाद देकर कुशल प्रश्नोपरान्त पूछा कि-''बेटा! श्रीगीताजी के तुमने कितने अध्याय पढ़ लिये?'' शिष्य ने कहा-''गुरुजी प्रथम अध्याय तो, यह (बिल्ली) है, दूसरा अध्याय, यह (गाय-बछड़ा) हैं, तीसरा अध्याय, यह मेरी (पत्नी) हैं एवं चतुर्थ, पंचम, षष्ठम, सप्तम, अष्टम, नवम अध्याय ये बच्चे हैं, इस प्रकार से कुल नौ अध्याय हुए हैं। यह सुनकर श्रीगुरुजी ने माथा

ठोका और कहा-बच्चा तूने अच्छा गीता के गुटका का विस्तार किया। फिर सच्चे सद्गुरु ने बहुत उपदेश देकर जैसे-तैसे शिष्य को अन्धकूप से बाहर निकाला।

श्रीसनातन गोस्वामीजी का इसी प्रसंग की ओर संकेत था आपने स्पष्ट कह दिया कि यह कार्य मुझसे नहीं होगा। क्या! आप मुझको जड़भरत बनाना चाहते हैं, यदि आपकी इन वस्तुओं में स्पृहा है तो आप स्वयं ही इसकी व्यवस्था कर लें, अपने भक्त की प्रेमभरी फटकार सुनकर भगवान् मुस्कुराने लगे और श्रीसनातनजी से बोले-''अच्छा बाबा! आप कह रहे हैं तो मैं ही स्वयं इसका प्रबन्ध कर लूँगा एवं किसी यजमान को चेता लूँगा मुझको यजमान भी चेताने आता है।'' इस पर-

दृष्टान्त—कथावाचक का—एक परम अकिंचन विद्वान् ब्राह्मण थे। एक बार ये धन से अभावग्रस्त होकर अपनी पत्नी के कथनानुसार कथा आदि के माध्यम से धन कमाने के लिये परदेस को गये। मार्ग में एक श्रीसीतारामजी का मन्दिर मिला, वहीं पर बैठकर विश्राम करने लगे, भगवान् की मंगलमयी झाँकी का दर्शन कर निज चित्त को विशेष आनन्द मिला, श्रीप्रभु के चरणप्रान्त में श्रीहनुमानजी भी विराजमान थे। श्रीपण्डितजी के मन में यह भाव जागृत हुआ कि भगवान् श्रीसीतारामजी से बढ़कर एवं श्रीहनुमानजी से बढ़कर तो कोई कथा श्रवण का अधिकारी हो नहीं सकता एवं ऐसा परम उदार यजमान भी कहीं नहीं मिलेंगे, अत: मैं इन्हीं को कथा क्यों न सुनाऊँ? फिर तो वे अत्यन्त प्रेमपूर्वक श्रीसीतारामजी एवं श्रीहनुमानजी को कथा श्रवण कराने लगे। दर्शनार्थी श्रीपण्डितजी को सीधा-सामग्री दे जाते, अब आप यहीं भोजन बनाते और भगवान को भोग लगाकर प्रसाद पाते एवं श्रीठाकुरजी को प्रतिदिन कथा सुनाते थे। धीरे-धीरे जब उन्तीस दिन व्यतीत हो गये तो श्रीरामजी ने श्रीहनुमानजी से कहा कि ''कल श्रीपण्डितजी के कथा की पूर्णाहुति है, अत: उनको क्या दक्षिणा दी जाय।'' श्रीहनुमानजी ने कहा-''जै जै, प्रभो! श्रीपण्डितजी को कम से कम एक हजार रुपया तो मिलना ही चाहिए।'' भगवान् ने कहा-''बहुत अच्छा!'' श्रीरामजी एवं श्रीहनुमानजी की यह वार्ता संयोगवश एक बनिया (वणिक्) सुन रहा था। उसने अपनी वणिक्वृत्ति के अनुसार श्रीपण्डितजी से कथा की चढ़ोत्तरी का सौदा किया कि-''आप पाँचसौ रुपया मुझसे अग्रिम ही ले लीजिये और इसके पश्चात् चढ़ोत्तरी में जो रुपया आवेगा वह हमारा होगा।'' पण्डितजी ने अपने मन में विचार किया कि यहाँ श्रोतागण अधिक संख्या में तो आते नहीं, न कोई धनवान ही श्रोता आते हैं, जो कि हजार-दो हजार रुपया चढ़ा सकें, सच तो यह है कि यहाँ पर पाँच सौ

रुपये की भी उम्मीद नहीं है। अत: श्रीभगवद्प्रेरणा से यह बनिया मुझे पाँच सौ रुपये देने को कह रहा है तो मुझे ले लेने चाहिये यही ठीक रहेगा। पण्डितजी ने अपने मन में विचार-विमर्श करके सेठजी का वह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन प्रात:काल सेठजी ने पण्डितजी को पाँच सौ रुपये दे दिये और स्वयं पोथी के निकट बैठकर चढ़ोतरी की प्रतीक्षा करने लगा, सारा दिन बैठा रहा परन्तु एक रुपया भी नहीं चढ़ा, तब वह क्रोधित होकर बोला कि देवता भी झूठ बोलते हैं, ये एक हजार रुपया चढ़ाने की आपस में वार्ता कर रहे थे पर इन्होंने तो एक हजार पैसा भी नहीं चढ़वाया मेरे गाँठ का पाँच सौ रुपया और चला गया। फिर तो अधिक क्रोधित हो उसने श्रीहनुमानजी को मारने के लिए लात चलाया, तो तत्काल ही श्रीहनुमानजी ने उसका पांव पकड़ लिया बनिया के लाख प्रयत्न करने पर भी वह पांव न छुड़ा सका। इसी मध्य श्रीरामजी ने श्रीहनुमानजी से पूछा-''पण्डितजी की कथा पूरी हो गयी, उन्हें कुछ भेंट विदाई मिली, अथवा नहीं?'' श्रीहनुमानजी ने कहा-''एक हजार रुपये देने की बात थी तो उसमें से पाँच सौ रुपये तो पण्डितजी को मिल गये हैं अब पाँच सौ रुपये देने शेष हैं, यजमान फँसा रखा है।'' अब बनिया की आँखें खुलीं। उसने कहा-''क्या मुझसे ही एक हजार रुपये दिलवाने थे'' श्रीहनुमानजी ने कहा-''हाँ, जब तक तुम पाँच सौ रुपये और नहीं दे दोगे तब तक तुम्हारा पांव नहीं छूटेगा।'' विवश होकर बनिया ने घर से पाँच सौ रुपये मँगवाये तब जाकर इसका पांव छूटा। इस प्रकार से भगवान् भी यजमान चेताना जानते हैं।

भगवत्प्रेरणा से उसी समय मुल्तान देशवासी श्रीरामदासजी कपूर की एक विशाल नौका जो विविध रत्न, सैन्धव नमक, काबुल के मेवा इत्यादि से भरी हुई आगरा जा रही थी, वह नौका आदित्य टीला के नीचे दैववश रुक गयी। नाविकों के अनेक प्रयत्न करने पर भी वह नौका इधर-उधर हिली-डुली नहीं, श्रीरामदासजी कपूर किं कर्तव्य विमूढ़ हो रहे थे, उसी समय एक श्यामवर्ण बालक ने आदित्य टीला से उच्च स्वर में आवाज दी कि ''यदि तुम अपनी नौका को यहाँ से निकालना चाहते हो तो उस वृक्ष के नीचे बैठे श्रीसनातन गोस्वामीजी की शरण में जाकर उनसे ही अनुनय-विनय करो।'' श्रीरामदासजी कपूर तत्काल ही उस निर्दिष्ट संकेतानुसार श्रीसनातन गोस्वामीजी के निकट आकर इनके चरणों में पड़कर रोने लगे और अपनी रक्षा की भिक्षा माँगने लगे। श्रीसनातनजी ने पूछा कि-''तुम यहाँ आये कैसे?'' तब उन्होंने समस्त वृत्तान्त बताया। श्रीसनातनजी ने समझ लिया कि यह सब श्रीठाकुरजी की ही लीला है, अत: बोले-''भैया!

मैं इसमें क्या कर सकता हूँ। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीठाकुरजी से जाकर निवेदन करो।'' श्रीरामदासजी ने ठाकुर श्रीमदनमोहनजी का दिव्य-दर्शन किया एवं दर्शन करते ही मन में शुभ-संकल्प उठा कि ''यदि मेरी नौका यहाँ से निकल गयी तो मैं इसके विक्रय धन से श्रीमदनमोहनजी के मंदिर का निर्माण कराऊँगा एवं श्रीठाकुरजी के राग-भोग की उत्तमोत्तम व्यवस्था करूँगा।'' श्रीभगवद् इच्छा से नाव संकट से निकल गयी। फिर तो श्रीरामदासजी कपूर ने आगरा पहुँचकर सब सामान बेचकर, प्राप्त समस्त धन से श्रीमदनमोहनजी का विशाल मन्दिर बनवाया एवं राग-भोग की समुचित व्यवस्था की। इस प्रकार से श्रीठाकुरजी ने स्वयं अपनी व्यवस्था कर ली और श्रीसनातनजी की चिन्ता छूट गयी। आपने अपने शिष्य श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारी को श्रीमदनमोहनजी की सेवा-पूजा का कार्य सौंपकर निश्चिन्त होकर भजन करने लगे। वर्तमान में ठाकुर श्रीमदनमोहनजी करौली राजस्थान में विराजमान हैं।

श्रीसनातन गोस्वामीजी का नित्यप्रति श्रीगोवर्धनजी की परिक्रमा करने का नियम था वृद्धावस्था में कष्ट देखकर श्रीठाकुरजी ने इन्हें श्रीगोवर्धनजी की एक शिला प्रदान की जिस पर श्रीठाकुरजी के श्रीचरण-चिह्न अंकित थे और कहा-''बाबा! अब तुम इस शिला की परिक्रमा कर लिया करो, इस शिला की ही परिक्रमा मात्र से श्रीगोवर्धनजी की परिक्रमा का नियम पूर्ण हो जायेगा।'' वह पावन शिला वर्तमान में भी श्रीवृन्दावन में श्रीराधादामोदरजी के मन्दिर में विद्यमान है। इसी प्रकार से आप प्रतिदिन आदित्य टीला से गोपीश्वर महादेवजी के दर्शन करने आते थे, श्रीमहादेवजी को भी इनकी वृद्धावस्था की अशक्तता असह्य हो गयी, अत: वे श्रीसनातनजी को शीघ्र दर्शन देने के लिए मध्य मार्ग में ही प्रकट हो गये, जो वर्तमान में श्रीवनखण्डी महादेवजी के नाम से विख्यात हैं।

आपकी अकिंचनता के सम्बन्ध में कथा आती है कि गौड़देश वर्द्धमान जिला के एक गरीब ब्राह्मण ने दरिद्रता से दु:खित होकर धन-प्राप्ति के लिये श्रीआशुतोष भगवान श्रीशिवजी की आराधना की। श्रीशिवजी ने प्रसन्न होकर स्वप्न में आदेश दिया कि ''श्रीवृन्दावन में श्रीसनातन गोस्वामीजी निवास करते हैं, उनके पास पारसमणि है, वे तुम्हें वह पारसमणि दे देंगे। ब्राह्मण बड़े उल्लास में भरकर श्रीवृन्दावन आया और इनका पता लगाते-लगाते श्रीसनातन गोस्वामीजी के यहाँ पहुँचा। प्रथम तो श्रीगोस्वामिपादजी का कन्था, करवा, कोपीन को देखकर ब्राह्मण बड़ा ही निराश हुआ एवं मन ही मन विचार करने लगा कि जिनके पास में पारसमणि होगा वह इतना कंगाल होगा? परन्तु श्रीशिवजी के वचनों में विश्वास कर

साहस करके श्रीसनातनजी के समीप जाकर प्रणाम करके पूछा-''क्या बाबा आपके पास में पारसमणि है?'' श्रीसनातनजी ने कहा कि मेरे पास तो नहीं है।, हाँ एक दिन मैं श्रीयमुना स्नान करने जा रहा था तो मार्ग में पाँव से टकरा गया और मैंने उसको वहीं रज=(रेती, बालू मिट्टी, धूलि) से ढक दिया था, जिससे किसी दिन स्नान करके वापस आते समय पैर से न स्पर्श हो जाय, नहीं तो मुझे पुन: स्नान करना पड़ेगा और श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा में भी बिलम्ब होगा। तुम्हें आवश्यकता हो तो तुम जाकर उस पारसमणि को ले लें। ब्राह्मण तत्काल ही उस स्थल पर गया और थोड़ी -सी मिट्टी हटाई तो उन्हें पारसमणि की प्राप्ति हो गयी, परीक्षा के लिए लौह का स्पर्श कराया तो तुरन्त ही वह लोहा स्वर्ण हो गया, ब्राह्मण का मन प्रसन्न हो गया। परन्तु द्वितीय क्षण ही उनके मन में यह विचार आया कि आखिर सन्तजी ने इस अमूल्य पारसमणि का तिरस्कार क्यों कर रखा है और यह भी कहते हैं कि इसके छू जाने पर पुन: स्नान करना पड़ेगा। ''क्या इनके पास इससे भी बहुमूल्य कोई पारसमणि है? क्या इसमें कोई महान् दोष है? जो कि इसके स्पर्श करने पर बिना स्नान के शुद्धि ही नहीं होती?'' आखिर ब्राह्मण ने अपने मन का असमंजस श्रीसनातनजी को सुनाया। श्रीसनातनजी ने मुस्कराकर कहा-'' अवश्य मेरे पास इससे भी अधिक बहुमूल्य पारसमणि है एवं इस पारसमणि में अनन्त दुर्गुण हैं एवं मेरे पास जो पारसमणि है वह परम शुद्ध है।'' ब्राह्मण ने हाथ जोड़कर कहा-''क्या आप उस पारसमणि को मुझे दे सकते हैं?'' श्रीसनातनजी ने कहा-''अवश्य, परन्तु प्रथम में तुम्हें इस पारसमणि को श्रीयमुनाजी में फेंकना पड़ेगा।'' ब्राह्मण ने तत्काल ही उस पारसमणि को श्रीयमुनाजी में फेंक दिया। तब श्रीसनातन गोस्वामीजी ने ''श्रीकृष्ण नाम'' की दीक्षा दी।

वि० सं० १६१५, सप्त गोस्वामी ग्रन्थ के आधार पर वि० सं० १६११, आषाढ़ पूर्णिमा के दिन प्रात:काल श्रीसनातन गोस्वामिपादजी ने नित्य निकुँज लीला में प्रवेश किया। आपके तिरोधान से सबसेअधिक व्यथा श्रीरूप गोस्वामीजी को हुई। वे आपके तिरोधान के पश्चात् अपनी भजन कुटी से बाहर ही नहीं निकले और छब्बीस दिन पश्चात् आप इस भौतिक शरीर को छोड़कर नित्यलीला में प्रवेश कर गये। धन्य प्रेम। नित्य लीला परिकरों में आपका शुभनाम श्रीलवंगमंजरी है, आपके तन की कान्ति स्वर्ण सदृश, तारावली अर्थात् छींट के वस्त्र धारण करती हैं, आपकी प्रधान सेवा श्रीप्रिया-प्रियतम के लिए सुन्दर मनमोहिनी माला निर्माण कर धारण कराना है, आप योगपीठ में पश्चिम भाग में विराजती हैं।

इन दोनों महाभागवतों का स्मरण करते हुए परम रसिक श्रीहरिराम व्यासजी कहते हैं-

''जै जै मेरे प्राण सनातन रूप। अगतिन की गति दोउ भैया जोग जग्य के जूप।
वृन्दावन की सहज माधुरी प्रेमसुधा के कूप। करुनासिन्धु अनाथबन्धु जय भक्ति सभा के भूप।
भक्ति भागवत मत आचारज कुल के चतुर चमूप। भुवन चतुर्दश विदित विमल यश रसना रसके तूप।
चरण कमल कोमल रज छाया मेटति कलि रवि धूप। व्यास उपासक सदा उपासी राधा चरण अनूप।।''

श्रीहितहरिवंश गोसाँईजी

(श्री) हरिवंश गुसाँई भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै।।
(श्री) राधा चरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पत्ति तहाँ की करत खवासी।।
सर्बसु महाप्रसाद प्रसिद्धि ताके अधिकारी।
बिधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट ब्रतधारी।।
व्यास सुवन पथ अनुसरै सोइ भले पहिचानिहै।
(श्री) हरिवंश गुसाँई भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै।।९०।।

शब्दार्थ—सकृत=एक। कोउ = कोई विरला। खवासी = विशेष सेवा। विधि =स्मृति शास्त्रोक्त कर्तव्य कर्मों के करने की रीति, नियम। निषेध=वे अकर्तव्य कर्म, जिन्हें शास्त्रों ने न करने का आदेश दिया है। उत्कट व्रत =कठोर व्रत नियम। अनुसरै =चले, आचरण करे। सोइ भले=वही अच्छी तरह से। पहिचानिहै=समझ सकेगा। जान सकेगा।

भावार्थ—श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजी की भजन की रीति को कोई विरला ही समझ सकेगा। आपकी उपासना-पद्धति में श्रीराधाजी की प्रधानता है। आप उन्हीं के श्रीचरणों को हृदय में अत्यन्त सुदृढ़भाव से उपासना करते थे और कुँजक्रीड़ा में दम्पति श्रीश्यामा-श्याम की सखीरूप में सेवा करते थे। आपके सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि आप श्रीमहाप्रसाद को सर्वस्व करके मानते थे। अपनी अनन्य निष्ठा के कारण आप यथार्थ में महाप्रसाद के उत्तम अधिकारी थे। आपने श्रीश्यामा-श्याम की सेवारूपी उत्कट व्रत को धारण किया था, अतः आप स्मृति-शास्त्रोक्त विधि-निषेधों की अपेक्षा नहीं रखते थे। श्रीव्यासमिश्रजी के पुत्र श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजी द्वारा प्रवर्तित पथ का जो अनुसरण करेंगे, वे ही भलीभाँति आपके सिद्धान्तों को समझ सकेंगे।।९०।।

व्याख्या—श्रीहरिवंश गुसाँई....कोउ जानिहै—यह श्रीनाभाजी का स्वयं का अनुभव है। वर्णन आया है कि श्रीनाभाजी के श्रीसद्गुरुदेव श्रीअग्रदेवाचार्यजी ने इन्हें भक्तों का सुयश वर्णन करने का आदेश दिया था तब इन्होंने विशेष असमर्थता प्रकट की। यथा-''बोल्यो कर जोरि याको पावत न ओर छोर गाऊँ राम-कृष्ण पै न पाऊँ भक्तदावँ को।।'' तब श्रीअग्रदेवाचार्यजी ने सान्त्वना दी कि तुम इसकी चिन्ता मत करो, तुम जिस भी सन्त का स्मरण करोगे, वे सन्त स्वतः ही तुम्हारे हृदय में प्रकट होकर अपने गुण-रूप-स्वभाव से परिचय करायेंगे। यथा-''कही समुझाइ वोइ हृदय आइ कहैं सब जिन लै दिखाइ दई सागर में नाव को।'' (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-८६, कवित्त-११ की व्याख्या) हुआ भी ऐसा ही। परन्तु जब श्रीनाभाजी ने श्रीवृन्दावन के परम रसिक श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजी एवं श्रीस्वामी हरिदासजी का ध्यान किया तो वे हृदय में नहीं आये। तब श्रीनाभाजी ने अपने श्रीगुरुदेवजी से निवेदन किया तो उन्होंने इसका रहस्य बताया कि ये श्रीराधिकाजी के अनन्य भक्त हैं। तुमने तो चौबीस अवतारों की वन्दना करके चौबीस अवतारों के उपासकों का रहस्य समझ लिया। परन्तु ये तो चौबीस अवतार से परे ''श्रीराधिकाजी'' को अपना इष्ट मानते हैं। अतः इनका रहस्य समझने के लिए श्रीराधिकाजी की ही तुम्हें प्रार्थना करनी होगी। तदनन्तर श्रीरामोपासना में श्रृंगार-रसोपासना के प्रवर्त्तकाचार्य श्रीअग्रदेवाचार्यजी ने अत्यन्त भावमग्न होकर स्वयं श्रीराधिकाजी की वन्दना की। यथा-''वन्दौं श्रीराधिका पद पदम। परम कोमल सुभग सीतल कृपायुत् सुख कदम।। चरण चिन्तत अमल उरसिज जगत् सबही छदम। भाल पर अक्षर अनायास सोहै होत परसत रदम।। कृष्ण अलंकृत स्वहस्त पूजन निगम नूपुर रदम। रसिकजन जीवन समूली अग्र सरबसु सदम।।'' तब इन श्रीमहानुभावों की श्रीनाभाजी के हृदय में स्फूर्ति हुई अन्यथा श्रीनाभाजी जैसे सिद्ध सन्त के लिए भी उनकी उपासना-पद्धति का रहस्य बोध अगम्य था। अतः कहते हैं-''श्रीहरिवंश कोउ जानिहै।''

सकृत कोउ जानिहै—यहाँ ''सकृत कोउ'' से श्रीहितहरिवंशजी के परम कृपापात्र श्रीदामोदरदासजी ''सेवकजी'' से तात्पर्य है। श्रीराधावल्लभीय श्रीप्रियादासजी ने श्रीसेवकजी को श्रीहरिवंशजी का सकृत सेवक कहा है। यथा-''जै जै हरिवंश सकृत सेवक लसै। एक भजन हरिवंश जपै दृढ़ पन रसै।।'' श्रीहितजी की उपासना-पद्धति को इन्होंने भलीभाँति से समझा है। श्रीसेवकजी की वाणी में ही श्रीहितहरिवंशजी की भजन की रीति का सम्यक्, सम्पूर्ण एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है। इसलिए श्रीहिताचार्यजी के ज्येष्ठ सुपुत्र श्रीवनचन्द्र गोस्वामीजी ने श्रीसेवकवाणी सुनने के पश्चात् यह आज्ञा दी थी कि-

''सेवकवाणी को पढ़ौ श्रीचौरासी संग।'' तात्पर्य यह है कि श्रीराधावल्लभ सम्प्रदाय के रस-पद्धति एवं उपासना मार्ग के सम्यक् ज्ञान के लिए श्रीसेवकवाणी का अनुशीलन नित्य आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है।

श्रीराधाचरण प्रधान—यथा-

अलं विषयवार्तया नरककोटिबीभत्सया,
वृथा श्रुतिकथा श्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः।
परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं ततः,
परन्तु मम राधिका पदरसे मनो मज्जतु मे।। (रा०सु०नि०-८

अर्थ-कोटि-कोटि नरकों से भी घृणास्पद विषयभोगों की वार्तायें रहने दो। श्रुति कथा के श्रवण में श्रम करना निरर्थक है। हाय-हाय एकाकीभावरूप मोक्ष से तो मुझे भय लगता है। यदि शुक, सनकादिक भक्तगण परेश श्रीकृष्ण के भजन में उन्मत्त हो रहे हैं तो इससे मुझे क्या प्रयोजन? मेरा मन तो एकमात्र श्रीराधिकाजी के श्रीचरण-कमलों के रस में निमग्न करता रहे। पुनश्च-

यदि स्नेहाद्राधे दिशसि रतिलांपट्यपदवीं,
गतं मे स्वप्रेष्ठं तदपि मम निष्ठं श्रृणु यथा।
कटाक्षैरालोके स्मितसहचरै र्जात पुलकं,
समाश्लिष्याम्युच्चैरथ च रसये त्वत्पदरसम्।। (रा०सु०नि०-८७

अर्थ—हे श्रीराधे! विहार लम्पटता को प्राप्त प्रियतम को यदि आप स्वयं स्नेहवश मुझे सौंप दो, तो भी मेरी निष्ठा को सुनिये। मैं मन्द-मुस्क्यान से युक्त कटाक्षपात पूर्वक उनको देखूँगी और पुलकित होने पर अति गाढ़ आलिंगन भी करूँगी, इतना होने पर भी आपके ही चरणारविन्द के दास्यरस का आस्वादन करूँगी।

सुदृढ़ उपासी—यथा-''रहौ कोउ काहू मनहि दिये। मेरी प्राणनाथ श्रीश्यामा सपथ करौं तृण छिये।। जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिये। तेऊ उमगि तजत मर्याद वन विहार रस पिये।। खोये रतन फिरत जे घर घर कौन काज ऐसे जिये। जै श्रीहित हरिवंश अनत सचु नाहीं बिन या रजहिं लिये।। (स्फुटवाणी-२)

कुँजकेलि—श्रीहिताचार्यजी की उपासना में नित्य दम्पति श्रीश्यामा-श्याम, नित्य नव-निकुँजों में कलकेलिरत रहते हैं। यथा-

छ० ९०)

दूरे सृष्ट्यादिवार्ता न कलयति मनाङ्नारदादीन्स्वभक्तां,
छीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः।
किन्तु प्रेमैकसीमां मधुर रससुधासिन्धु सारैरगाधां,
श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुंज वीथीमुपास्ते।।
(रा०सु०नि०-२३५)

अर्थ—सृष्टि आदि का वर्णन तो सुदूर रहा। आपने नारदादिक भक्तों का भी अल्पमात्र भी स्मरण नहीं करते, श्रीदामा आदि सुहृदों से भी नहीं मिलते, अपने पितृवर्ग श्रीनन्द-यशोदाजी आदि की भी स्नेहवृद्धि को भी संकुचित कर देते हैं। परन्तु अगाध मधुर रससुधासिन्धु के सारस्वरूप प्रेम की चरमावधि श्रीप्रियाजी को ही एकमात्र जानते हुए मधुपति श्रीलालजी निरन्तर कुँज वीथी की ही उपासना करते रहते हैं। श्रीहित चौरासीजी के एक पद में श्रीश्यामा-श्याम की कुंजकेलि का बड़ा मनोहारी वर्णन किया गया है। यथा-''वन की कुँजन कुँजन डोलन। निकसत निपट साँकरी बीथिन परसत नाहिं निलोचन। प्रातकाल रजनी सब जागे सूचत सुख दृग लोचन। आलसवन्त अरुण अति व्याकुल कछु उपजत गति गोलन।। निर्त्तन भृकुटि वदन अम्बुज मृदु सरस हास मधु बोलन। अति आसक्त लाल अलि लम्पट बस कीने बिनु मोलन।। बिलुलित सिथिल स्याम छूटी लट राजत रुचिर कपोलन। रति विपरीत चुम्बन परिरम्भण चिबुक चारु टक टोलन।। कबहुँ स्त्रमित किसलय सिज्या पर मुख अंचल झक झोलन। दिन हरिवंश दासि हिय सींचत वारिधि केलि कलोलन।।

दम्पति—पूर्व ''श्रीराधा चरण प्रधान कहा गया है, इसका अर्थ यह नहीं कि श्रीहिताचार्यजी की उपासना में श्रीश्यामसुन्दर का कोई स्थान नहीं है। सत्य तो यह है कि नित्य दम्पति श्रीश्यामा-श्याम श्रीहितजी के आराध्य हैं। यथा-''हरिवंश सुरीति सुनाऊँ। श्यामा-श्याम एक संग गाऊँ।। छिन इक कबहुँ न अन्तर होई। प्रान सु एक देह हैं दोई।। राधा संग बिना नहिं स्याम। स्याम बिना नहिं राधा नाम।।'' (सेवकवाणी) इतना अवश्य है कि मन की गति श्रीप्रियाजी की ओर विशेष है। दम्पति का दर्शन करके ही श्रीहितजी का हृदय शीतल होता है। यथा-''आज अति राजत दम्पति भोर। सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवलकिशोर।। अंसन पर भुज दिये विलोकत इन्दु वदन बिबि ओर। करत पान रसमत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर।। छूटी लटन लाल मन करष्यौ ये याके चितचोर। परिरम्भन चुम्बन मिलि गावत सुर मन्दर कल घोर।। पग डगमगत चलत बन बिहरत रुचिर कुँज घन खोर। जै श्रीहित हरिवंश लाल ललना मिलि हियो सिरावत मोर।।''

करत खवासी—श्रीहितजी के हृदय में श्रीराधाजी की दासी बनने के प्रति प्रबल अभिलाषा है।-यथा-''श्रीराधिके तव कदा भवितास्मि दासी।'' (रा०सु०नि०-३०), अर्थ-हे श्रीराधिके! मैं कब आपकी किंकरी बनूँगी।''ब्रह्मादि दुर्गमगते वृषभानुजायाः कैंकर्यमेव मम जन्मनि जन्मनि स्यात्।।'' (रा०सु०नि०-३९),अर्थ ब्रह्मादिकों से भी दुर्लक्ष्यगति उन श्रीवृषभानु कुमारी का किंकरी भाव ही मुझे जन्म-जन्मान्तर में प्राप्त हो। पुनः-''यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे स्यात्किंकरी भवतुमेव ममाभिलाषः।।'' (रा०सु०नि०-४०), अर्थ-जो कृपा परवश श्रीवृषभानुजी के भवन में प्रकट हैं, उनकी दासी बनना ही मेरी लालसा हो, आदि। श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजी का यह सुदृढ़ निश्चय है कि श्रीराधा दास्य के बिना श्रीश्यामसुन्दर में रति होना असम्भव है। यथा-''राधा दास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसंगाशया सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना कांक्षति।।'' (रा०सु०नि०-७९),अर्थ- जो व्यक्ति श्रीराधा कैंकर्य को त्याग कर श्रीलालजी के प्रेम की आशा से प्रयत्न, साधन, भजन करता है, तो वह व्यक्ति मानो कि पूर्णिमा की रात्रि के बिना ही पूर्णचन्द्र का दर्शन करना चाहता है।, श्रीप्रिया-प्रियतम का रति रसवर्द्धन करना ही आपकी प्रधान सेवा है। यथा-''जै श्रीहित हरिवंश परस्पर प्रीयतम रति रस मिलवत घातन।।।'' (स्फुटवाणी), एक बात यहाँ पर स्मरण रखने की है कि पूर्वोक्त प्रसंगों में ''श्रीराधा दास्य'' का ही पुनः-पुनः उल्लेख किया गया है तो इसका मतलब यह नहीं कि श्रीमाधव से इनका कोई प्रयोजन नहीं है, बल्कि श्रीराधा-माधव युगल की सेवा से तात्पर्य है। यथा-

ताम्बूलं क्वचिदर्पयामि चरणौ संवाहयामि क्वचित्,
मालाद्यैः परिमण्डले क्वचिदहो संवीजयामि क्वचित्।
कर्पूरादिसुवासितं क्व च पुनः सुस्वादु चाम्भोऽमृतं,
पायाम्येव गृहे कदा खलु भजे श्रीराधिकामाधवौ।।

(रा०सु०नि०-१३४)

अर्थ—अहा! कभी पान की बीरी अर्पण करूँगी, कभी श्रीचरणों को सहलाऊँगी, कभी माला आदि से विभूषित करूँगी, कभी व्यजन से हवा करूँगी और कभी कर्पूरादि से सुगन्धित एवं स्वादिष्ट अमृत तुल्य जल पान कराऊँगी, इस प्रकार से कब मैं भलीभाँति निकुँज सदन में ही श्रीराधा-माधव युगल की सेवा करूँगी।

सर्वसु महाप्रसाद—यथा-''काहु लियो जप काहु लियो तप काहु महाव्रत साधि लियो है। काहु लियो गुन काहु लियो धन काहु महा उनमाद हियो है। रंचक चारु चकोरनि दम्पति

सम्पति प्रेम पियूष पियो है। श्रीराधिकावल्लभ लाल के थाल को हितहरिवंश प्रसाद लियो है।।''श्रीराधासुधानिधि में आपकी अपूर्व प्रसाद की लालसा अभिव्यक्त हुई है। यथा-''श्रीराधाया मधुर मधुरोच्छिष्ट पीयूषसारं भोजं भोजं नव नव रसानन्द मग्नः कदास्याम्।।'' (रा०सु०नि०-८६)

अर्थ—श्रीराधिकाजी के मधुराति मधुर उच्छिष्ट रूप सुधा सार का पुनः-पुनः आस्वादन कर मैं कब नित्य नवीन रसानन्द में डूब जाऊँगी। (महाप्रसाद की महिमा के सम्बन्ध में विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५७४, छप्पय-१५)।

विधि निषेध नहिं दास—यह प्रेम का स्वभाव है कि वह किसी की भी परवाह नहीं करता है। यथा-''प्रीति न काहू की कानि विचारै। मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारै।। ज्यौं सरिता सावन जल उमगत सन्मुख सिन्धु सिधारै। ज्यौं नादहिं मन दिये कुरंगनि प्रगट पारधी मारै।। (जै श्री) हित हरिवंश हिलग सारंग ज्यौं सलभ सरीरहिं जारै। नाइक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हारै।'' (हित चौरासी-४२), पुनः-''जाको मनमोहन दृष्टि परे। सो तो भयो सावन को आँधरो सूझत रंग हरे ही हरे।। जड़ चैतन्य कछू नहिं सूझत जित देखै तित स्याम खरे। विह्वल विकल सम्हार न तन की घूमत नैंना रूप भरे।। करनी अकरनी दोउ विधि भूले विधि निषेध सब रहे धरे। नरहरिदास ते भये बावरे जे यह प्रेम प्रवाह परे।।'' पुनः-''स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्। सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेवकिंकराः।।'' (प.पु.उ. ७२-१००), अर्थ- भगवान् का सदा स्मरण करना चाहिए, कभी भी उन्हें विस्मृत नहीं करना चाहिए। बस सभी विधि निषेध इन्हीं दोनों के दास हैं अर्थात् श्रीभगवद्-स्मरण ही सर्वोपरि विधि है। जो सज्जन सदा-सर्वदा भगवान् का स्मरण करते हैं, उन्हें समझो कि वे समस्त विधि कर्मों का यथोचित अनुष्ठान कर चुके हैं। यथा-''तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्। येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्यकालम्।।'' (वि०), (विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-४२०) यथा-''अहो वत श्वपचोऽतो....नामगृणन्ति ये ते।।'' (भा०), भगवान् का विस्मरण ही सर्वश्रेष्ठ निषेध है अर्थात् जो भगवान् को भूल गये हैं, उन्हें समझों कि वे समस्त निषिद्ध कर्म कर चुके हैं। श्रीतुलसीदाजी कहते हैं कि ''राम सुमिरन सब विधि हू को राज रे। राम को बिसारिवौ निषेध सिरताज रे।।'' आपका भी यही सिद्धान्त है। यथा-''विधि अखण्ड स्मृति सरस भूलन सोइ निषेध। व्रत अनन्य दृढ़ एक यह प्रगटा प्रगट अभेद।।'' अतः ''विधि निषेध नहिं दास'' कहा। आपका तो यह उद्घोष है कि ''रहोदास्यं तस्याः किमपि वृषभानो र्व्रजवरीयसः पुत्र्याः पूर्णप्रणय रसमूर्त्तेर्यदि लभे। तदा नः किं धर्मैः किमु सुरगणैः किं च विधिना किमीशेन श्याम प्रियमिलन यत्नैरपि च किम्।।'' (रा०सु०नि०-११५),

अर्थ—इस ब्रजमण्डल के राजा श्रीवृषभानुरायजी की पूर्णप्रेम की प्रतिमा, अति प्रि[illegible] सुपुत्री श्रीराधाजी के किसी अनिर्वचनीय रहस्यमय कैंकर्य की प्राप्ति हो जाय तो फिर [illegible] धर्म से, देवगणों से ब्रह्माजी से एवं भोलानाथ श्रीशिवजी से भी क्या प्रयोजन? अरे! इ[illegible] तो बात ही क्या, स्वयं श्रीश्यामसुन्दर के प्रिय समागम के लिए भी नाना प्रकार के प्रयत्नों [illegible] भी क्या प्रयोजन? अर्थात् वे तो सहज-अनायास ही प्राप्त हो जायेंगे। क्योंकि वे तो नित्[illegible] श्रीप्रियाजी के संग ही रहते हैं।

व्यास सुवन पथ अनुसरै—छप्पय के प्रथम चरण में श्रीहित उपासना की त[illegible] रस-पद्धति की दुरूहता (जो कि शीघ्रता से समझ में न आ सके) दिखलायी गयी है [illegible] इससे साधकों के मन में नैराश्य स्वाभाविक ही है क्योंकि जब कोई इस भजन पद्धति की [illegible] रसरीति को समझ हीं नहीं सकेगा तो इसका रसास्वादन कैसे करेगा?, अत: अब [illegible] श्रीनाभाजी श्रीरसिकजनों को आश्वासन देते हैं कि-"व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई [illegible] पहिचानिहै।" अर्थात् श्रीहिताचार्य महाप्रभुजी ने जिस मार्ग का संकेत किया है एवं श्रीदामोदर[illegible] (सेवकजी) ने जिसकी प्रशस्त व्याख्या की है उस मार्ग पर चलने से सहज-अनायास ही उ[illegible] रीति का बोध हो जायेगा। बड़ा ही सुन्दर किसी कवि ने लिखा है-

हित हरिवंश बिन हित की न रीति जानै कैसे वृषभानुनन्दिनी सौं प्रीति करिये।
कौन सो है धर्म जासौं कर्मनि को भर्म जाय सुत बित राज पाय कैसे ध्यान धरिये।।
रसिकन रसन की राह औ कुराह कौन कौन की उपासना सौं आशु सिन्धु तरिये।
जो पै नन्द नन्दन को चहै जग वन्दन को तो तैं व्यासनन्दन के नाम को उचरिये।।

इस छप्पय में श्रीहितहरिवंशजी के चारो स्वरूपों का स्मरण किया गया है "श्रीराधाचर[illegible] प्रधान हदै अति सुदृढ़ उपासी" में आचार्यस्वरूप का "कुँजकेलि दम्पति तहाँ की कर[illegible] खवासी" में सहचरिस्वरूप का "सर्वसु महाप्रसाद प्रसिधि ताके अधिकारी" में वंशीस्वरूप क[illegible] (क्योंकि वंशी नित्य ही अधरामृत का पान करती है) और "विधि निषेध नहिं दास अन[illegible] उत्कट व्रतधारी" में श्रीहित (प्रेम) स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है।

हित जू की रीति कोऊ लाखनि में एक जानै राधा ही प्रधान मानै पाछे कृष्ण ध्याइयै।
निपट विकट भाव होत न सुभाव ऐसो उनहीं की कृपा दृष्टि नेकु क्यौं हूँ पाइयै।।
विधि औ निषेध छेद डारे प्रान प्यारे हिये जिये निज दास निसि दिन वहै गाइयै।
सुखद चरित्र सब रसिकन विचित्रन के जानत प्रसिद्ध कहा कहिकै सुनाइयै।।३६४।।

शब्दार्थ—हित जू = श्रीहितहरिवंशजी, निकुँज में आपका नाम श्रीहित सखी है, हित का अर्थ प्रेम होता है, इससे जनाया गया कि आप युगल के प्रेम के मूर्त्तिमान स्वरूप हैं। रीति = भजन करने की पद्धति। निपट = नितान्त, बिल्कुल। विकट = कठिन, दुर्ज्ञेय। छेद डारे=खण्डन, त्याग कर दिये।

भावार्थ—श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी की भजन की रीति को लाखों में से कोई एक जानता है। आप श्रीराधिकाजी को ही प्रधान मानते थे, अत: प्रथम श्रीराधिकाजी का ही ध्यान करते, तत्पश्चात् श्रीकृष्ण का ध्यान करते थे। उपासना में श्रृंगार भाव की उपासना नितान्त ही कठिन है। सब किसी को इस प्रकार के भाव की प्राप्ति असम्भव है। यह तो उनकी (श्रीहितजी) की कृपादृष्टि से भले ही यत्किंचित् किसी को प्राप्त हो जाय आपने प्रेम के समक्ष समस्त विधि-निषेधों का परित्याग कर दिया था। आपके हृदय में प्राण-प्यारे श्रीश्यामा-श्याम नित्य निवास करते थे, जिससे श्रीयुगल के निज दासस्वरूप आप जीवन धारण करते थे तथा अहर्निश (निरन्तर) उन्हीं की कुंजकेलि का गान करते थे। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि आपके बड़े विलक्षण चरित्र हैं एवं समस्त चरित्र परम सुखदायी हैं। रसिक महानुभाव आपके चरित्रों को भलीभाँति से जानते हैं, क्योंकि आपका सुयश जगत प्रसिद्ध है अत: मैं उसका कहाँ तक वर्णन करूँ।।३६४।।

आये घर त्यागि राग बाढ्यौ प्रिया-प्रीतम सौं विप्र बड़भाग हरि आज्ञा दई जानियै।
तेरी उभै सुता ब्याहि देवौ लेवौ नाम मेरौ इनकौ जो वंस सो प्रशंस जग मानियै।।
ताही द्वार सेवा विसतार निज भक्तन की अगतिन गति सो प्रसिद्ध पहिचानियै।
मानि प्रिय बात गहगह्यौ सुख लह्यौ सब कह्यौ कैसे जात यह मन, मन आनियै।।३६५।।

शब्दार्थ—गहगह्यो = आनन्दमग्न हुए।

भावार्थ—श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी का जब प्रिया-प्रियतम के प्रति अत्यन्त अनुराग उमड़ा तो आप गृह त्यागकर श्रीवृन्दावन के लिये चल दिये। मार्ग में चटथावल नामक ग्राम में श्रीआत्मदेवजी नाम के एक बड़भागी ब्राह्मण रहते थे, इस बात को आप सब निश्चय समझिये कि उन्हें श्रीराधाबल्लभलालजी ने आज्ञा दी कि "तुम्हारी जो दोनों पुत्रियाँ हैं उनका श्रीहितहरिवंशजी के साथ विवाह कर दो। और यदि वे विवाह के लिये तैयार न हों तो मेरा नाम लेकर कहना कि श्रीठाकुरजी ने आज्ञा दी है तब वे प्रस्तुत हो जायेंगे। तुम्हारी इन पुत्रियों से जो वंश चलेगा वह संसार में प्रसिद्ध ह्वोगा, मेरी इस बात पर विश्वास

करो, उनके तथा उनकी वंशावली द्वारा मेरी सेवा-पूजा का विस्तार होगा तथा उन्हीं के द्वारा अपने भक्तों को भक्ति रसामृत का आस्वादन कराऊँगा और अगतिक जीवों को सद्गति प्रदान कराऊँगा। मेरा यह विरद प्रसिद्ध है ऐसा जानो। अपने परमप्रिय प्रभु की यह बात सुनकर तथा स्वयं को भी अति प्रिय मानकर श्रीआत्मदेवजी ने अत्यन्त ही आनन्दित हुए, तथा जब उन्होंने प्रभु की आज्ञा सभी के समक्ष प्रकाशित की तो सभी लोग अत्यन्त प्रसन्न हुये। श्रीप्रभु की कृपा एवं श्रीआत्मदेवजी के सुख-सौभाग्य का वर्णन कैसे किया जा सकता है? इसे तो आप लोग मन ही मन में अनुभव कीजिये एवं श्रीप्रभुजी की उस अनिर्वचनीय कृपा एवं उस महत् कृपा से प्राप्त उस सुख की यदि अभिलाषा हो तो यह मत अर्थात् श्रीहितहरिवंशजी की उपासना-पद्धति को अपने मन में उतारिये।।३६५।।

राधिकावल्लभ लाल आज्ञा सो रसाल दई सेवा मो प्रकास औ विलास कुँज धाम कौ।
सोई विसतार सुखसार दृग रूप पियौ दियौ रसिकनि जिन लियौ पच्छ बाम कौ।।
निसिदिन गान रसमाधुरी कौ पान उर अन्तर सिहान एक काम स्यामा-स्याम कौ।
गुन सो अनूप कहि कैसे कै सरूप कहै लहै मनमोद जैसे और नहीं नाम कौ।।३६६।।

शब्दार्थ—बाम कौ =श्रीराधाजी का। सिहान = ललचान। नाम कौ = नाममात्र की।

भावार्थ—रसघनमूर्ति श्रीराधाबल्लभलालजी ने श्रीहितहरिवंश गोस्वामीजी को यह रसमयी आज्ञा दी कि मेरी सेवा तथा निकुंजधाम के केलि-विलासों का जगत् में प्रकाश करो अर्थात् प्रचार-प्रसार करो। श्रीहितहरिवंशजी ने श्रीठाकुरजी की आज्ञा शिरोधार्य कर उसी का क्रिया एवं काव्य दोनों के द्वारा विस्तार किया तथा सदा-सर्वदा नेत्रपुटों से श्रीयुगल की सुखसारस्वरूपा रूपमाधुरी का पान किया एवं जिन रसिक महानुभावों ने श्रीराधिकाजी का पक्ष ले रखा था अर्थात् उपासना में श्रीहितजी की भाँति ही श्रीराधिकाजी के श्रीचरणों को ही प्रधान मानते थे, उन्हें भी आपने यह परमानन्द प्रदान किया। यद्यपि आप निरन्तर श्रीश्यामाश्याम की कलकेलि का गान करते रहते थे और प्रेमरसमाधुरी का पान करते रहते थे, तो भी आप हृदय से और अत्यधिक गुणगान एवं प्रेम के पान के लिये लालायित रहते थे। एकमात्र श्रीश्यामा-श्याम से ही आपका प्रयोजन था। आपके गुण बड़े ही अनुपम हैं। भला कोई आपके स्वरूप का किस प्रकार से वर्णन कर सकता है। आपके गुण, रूप का स्मरण करके मन इस प्रकार से अत्यन्त आनन्द को प्राप्त करता है जैसे कि उसके सामने संसार का सुख नाममात्र भी सुखरूप प्रतिभासित नहीं होता है।।३६६।।

विशेष—श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी भगवान श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार हैं। यथा- "त्वमसि हि हरिवंश श्यामचन्द्रस्यवंशः परमरसदनादैर्मोहिताशेष विश्वः।।" (श्रीहितहरिवंशचन्द्राष्टकम्) आपके पूर्वज उत्तर प्रदेश में सहारनपुर जिले में "देवबन्द" में विराजते थे। आपके पिताजी का शुभनाम श्रीव्यासमिश्रजी एवं माताजी का नाम श्रीताररानी था। आप यजुर्वेदीय गौड़ ब्राह्मण थे। पिता श्रीव्यासमिश्रजी ने सर्वशास्त्रों के साथ ज्योतिष में भी अद्भुत नैपुण्यता प्राप्त की थी, फलस्वरूप आपने संसार में प्रभूत धन एवं सम्मान प्राप्त किया। इनकी ख्याति की प्रशंसा सुनकर पृथ्वीपति ने आपको सादर आमंत्रित किया, श्रीव्यासमिश्रजी बादशाह के दरबार में नारियल के चार फल लेकर उपस्थित हुये, बादशाह ने आपका अत्यन्त ही भव्य स्वागत-सत्कार किया, तदुपरान्त उसने जिज्ञासा की कि आशीर्वाद में एक नारियल के स्थान पर आप चार नारियल क्यों लेकर आये? आपने ब्राह्मणत्व के आवेश में कहा कि-"राजन्! सद्विप्र धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों फलों को देने में समर्थ होते हैं, अतः मैंने आशीर्वाद में तुम्हें चार नारियल प्रदान किये।" आपके गुणों पर अत्यन्त ही प्रसन्न होकर बादशाह ने आपको "चारहजारी मनसबदार की निधि" प्रदान कर परम सम्मान किया एवं सदैव अपने ही साथ में रखने लगा। श्रीव्यासमिश्रजी की प्रतिष्ठा में चार चांद लग गये। आप लौकिक लाभ से सभी प्रकार से परिपूर्ण होने पर भी पुत्र का अभाव मिश्र-दम्पत्ति को सदा सालता रहता था। एक दिन आपने अपनी अन्तर्व्यथा अपने अग्रज श्रीनृसिंहाश्रमजी को सुनायी, जिन्होंने संन्यास ले लिया था और श्रीनृसिंहाश्रम के नाम से प्रसिद्ध थे। श्रीनृसिंहाश्रमजी ने अनुज के इस प्रसंग को सहज भाव से भाग्य पर छोड़ दिया। तब श्रीताररानी ने कहा कि "यदि भाग्य का ही भरोसा करना है तो इसमें आपकी कृपा का क्या महत्व रहा?" यह शब्द सुनकर श्रीनृसिंहाश्रमजी गम्भीर हो गये और कुछ सोच विचार कर निर्जन वन में जाकर भगवान से प्रार्थना करने लगे, प्रार्थना करते-करते आपकी भाव-समाधि लग गयी, उसी अवस्था में भगवान ने आदेश दिया कि "मैं तुम्हारे सत्य-संकल्प की पूर्ति के लिए स्वयं ही अपनी वंशी सहित श्रीव्यासमिश्रजी के गृह में प्रकट होऊँगा। श्रीनृसिंहाश्रमजी ने श्रीप्रभु का यह शुभ-आदेश श्रीव्यासमिश्रजी को सुनाया, मिश्र-दम्पत्ति के आनन्द का पारावार नहीं रहा। श्रीताररानीजी के गर्भ से श्रीव्रजेन्द्रनन्दन-श्यामसुन्दर-मदनमोहन की वंशी का अवतार सन्निकट जानकर श्रीव्यासमिश्रजी के भावुक हृदय ने श्रीव्रजयात्रा करने का निश्चय किया, फिर क्या था, पूरे समारोहपूर्वक श्रीब्रजयात्रा करने चल पड़े। उसी यात्राकाल में जब

आप मथुरा से पांच मील दूरस्थ "बाद" नामक ग्राम में पहुँचे तो वहीं वैसाख शुक्ल एकादशी सोमवार वि०सं० १५३० को अरुणोदयकाल में श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी का प्रादुर्भाव हुआ। महापुरुषों के प्राकट्यकाल में संसार में जिस सहज मांगलिकता का प्रसरण होता वह सब श्रीहितहरिवंशजी के जन्मकाल में दृष्टिगोचर हुआ। कुछ काल तक श्रीब्रज में बाद ग्राम में निवास करने के पश्चात् आप पुनः "देवबन्द" में आ गये।

श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी में अलौकिकता का आभास बाल्यकाल से ही होने लगा था "श्रीराधा-नाम" से आपको सहज अनुराग था। किसी के भी मुख से श्रीराधा नाम सुनकर किलकारी मारने लगते थे। एक दिन आपके पिता श्रीव्यासमिश्रजी अपने सेव्य श्रीप्रिया-प्रियतम का श्रृंगार कर रहे थे, परन्तु आश्चर्य कि श्रृंगारोपरान्त जब देखे तो श्रीठाकुरजी तो श्रीश्रीजी के रूप में दिखायी पड़े एवं श्रीश्रीजी श्रीठाकुरजी के रूप में। मन में सोचे कि कदाचित् हमसे ही श्रृंगार धारण कराने में भूल हो गयी हो, अतः पुनः श्रृंगार धारण कराया, परन्तु फिर भी वही बात। तब तो वे बड़े अचम्भे में पड़े कि आखिर रहस्य क्या है? इतने में बाहर से "जैकार" का शब्द सुनायी पड़ा। द्वार से बाहर जाकर देखा तो बगीचा में श्रीहित महाप्रभुजी अपनी अवस्था के गौर-श्याम दो बालकों को श्रीप्रिया-प्रियतम के रूप में फूलों से सुसज्जित कर परिचर्या में तत्पर हैं। प्रेमावेश में विशेषता यह हुई कि आपने गौरवर्ण के बालक को श्रीकृष्ण के रूप में एवं श्यामवर्ण के बालक को श्रीराधिका के रूप में सजाया था, ठीक वही परिवर्तन मन्दिर में भी श्रीविग्रह में प्रत्यक्ष देखने को मिला, तब श्रीव्यासमिश्रजी को इस लीला का रहस्य समझ में आया और यह भी समझ गये कि सचमुच यह कोई अलौकिक बालक हैं।

ऐसे ही एक बार ये बगीचा के श्याम-गौर दो वृक्षों को श्रीप्रिया-प्रियतम के रूप में सजाकर बाग के विविध फलों का भोग लगाया, उधर श्रीव्यासमिश्रजी ने मन्दिर में श्रीयुगल सरकार को मोदक का भोग लगाया था, परन्तु जब आप आचमन कराने गये तो देखते हैं कि मन्दिर में विविध दोने-दोनियों में फल रखे हुए हैं तथा श्रीठाकुरजी ने फूल की कलियों का आभूषण धारण किये है, आपको अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ कि मैंने न तो यह श्रृंगार ही किया है और न तो यह सब भोग ही लगाया है। बात क्या है? जब बाहर निकलकर देखे तो यह सब श्रीहितजी का ही विनोद था। एक दिन श्रीतारारानी श्रीहितजी को गोद में लेकर मन्दिर में ठाकुरजी का दर्शन करने गयीं। श्रीव्यासमिश्रजी ने श्रीहितजी को भगवान् का चरणामृत-प्रसाद दिया। दूसरे दिन ब्राह्ममुहूर्त में ही उठकर श्रीहितजी

चरणामृत-प्रसाद के लिए मचलने लगे, माता-पिता ने बहुत समझाया-बुझाया कि अभी श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा नहीं हुई है, परन्तु यह एक नहीं सुनते एवं अपनी हठ की रट लगाये रहे, तब इनको बहलाने के लिए कल्पित श्रीचरणामृत-प्रसाद दिया, इन्होंने अपने मुख में डालकर तत्काल ही उसको मुख से बाहर कर दिया और बोले-यह तो कल जैसा नहीं है, यह श्रीचरणामृत-प्रसाद नहीं है, फिर ये उसी समय माता-पिता की अँगुली पकड़कर मन्दिर की ओर चले। वहाँ पहुँचते ही मन्दिर का द्वार अपने आप खुल गया। श्रीव्यासमिश्रीजी ने देखा कि-श्रीयुगल सरकार सम्पूर्ण श्रृंगार किये हुए सिंहासन पर विराजमान हैं एवं पास में ही चरणामृत-प्रसाद रखा हुआ है, पिता श्रीव्यासमिश्रजी के हर्ष का पारावार नहीं रहा, फिर तत्काल ही श्रीहितजी को चरणामृत-प्रसाद दिया गया।

एक बार शरद् पूर्णिमा के दिन श्रीव्यासमिश्रजी ने श्रीप्रिया-प्रियतम का श्रृंगार कर आरती की तत्पश्चात् इन्हें चरणामृत-प्रसाद देकर इनको श्रीठाकुरजी के समीप ही बैठाकर स्वयं श्रीठाकुरजी के किसी अन्य कैंकर्य में बाहर चले गये, श्रीयुगल की रूपमाधुरी का पान कर ये उन्मत्त हो गये और प्रेमावेश में नृत्य करने लगे, इनके भाव पर रीझकर श्रीप्रियाजी ने अपनी ओढ़नी इन्हें ओढ़ा दी और श्रीराधावल्लभलालजी ने अपनी मुक्तामाला आपके कण्ठ में पहना दी, इतने में श्रीव्यासजी आ गये। आपने देखा कि ये श्रीप्रियाजी की ओढ़नी को ओढ़े हुये है एवं श्रीठाकुरजी की मुक्तामाला को पहनकर बेसुध होकर नृत्य कर रहे हैं। वे कुछ समझ नहीं पा रहे थे कि यह सब इनका शिशु चापल्य है अथवा श्रीश्रीजी की इन पर अहैतुकी कृपा है? इतने में श्रीतारारानी भी आ गईं और उन्होंने ललक कर श्रीहितजी को गोद में उठा लिया श्रीहितजी बेसुध अवस्था में हो गये, एक घड़ी बाद होश आया तो पूछने पर श्रीप्रिया-प्रियतम की कृपा का उल्लेख किया। सुनकर सब लोग परमानन्द में मग्न हो गए।

एक बार झूला के समय श्रीव्यासमिश्रजी ने श्रीयुगलजी का श्रृंगार करके उन्हें झुले में पधराकर श्रीहितजी को धीरे-धीरे गति से झुलाने के लिये कहकर स्वयं किसी कार्यवश घर गये। इधर श्रीठाकुरजी को जोर से झुलने की उमंग हुई, अतः स्वयं उठकर पैंग बढ़ाने लगे, झूला तीव्र गति से आगे बढ़ा और श्रीहितजी के हाथ से झूला की डोरी छूट गई। युगल के झूलन-झाँकी के साक्षात् दर्शन करके इनके मन में बड़ा मोद हुआ, जब श्रीठाकुरजी का पीताम्बर खिसकने लगा तो उन्होंने पीताम्बर को श्रीहितजी को

दे दिया, ऐसे ही धीरे-धीरे मुरली वनमाल, मोरचन्द्रिका आदि एक-एक करके सभी श्रीहितजी को दे दिये। ठीक इसी प्रकार से ही श्रीश्रीजी ने भी अपने अनेक वस्त्राभूषण श्रीहितजी को दे दिये, तब तक श्रीव्यासमिश्रजी आ गये, झूले की गति मन्द हो गयी एवं श्रीप्रिया-प्रियतम पूर्ववत् झूला पर विराजमान हो गये और हितजी धीमे-धीमे झुलाने लगे। इनके हाथों में श्रीयुगल के वस्त्राभूषणों को देखकर श्रीव्यासमिश्रजी ने पूछा तो आपने इसका सब रहस्य बताया। श्रीव्यासजी ने श्रीप्रिया-प्रियतम की ओर देखा तो उनके श्रीमुख पर अब भी पसीने की बूँदे झलक रही थीं।

एक दिन श्रीप्रियाजी ने रात्रि में स्वप्न में श्रीहितजी को आदेश दिया कि आपके घर के निकट वाले बाग के पुराने सूखे कुएँ में श्रीरँगीलालजी का श्रीविग्रह है, उन्हें प्रकट करके सेवा का विस्तार करो। प्रातःकाल आप समवयस्क बालकों को अपने संग लिये बगीचा में खेलते-खेलते उस सूखे कुएँ में कूद पड़े। सर्वत्र हा-हाकार मच गया, माता-पिता की विकलता की कोई सीमा न रही, श्रीव्यासजी तो अति अधीर हो कुएँ में कूदने ही वाले थे, कि एकाएक कुएँ में अपार परम प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ। थोड़ी ही देर बाद सबने देखा कि श्रीहितहरिवंशजी श्रीरँगीलालजी को गोद में लिये श्रीविग्रह सहित स्वतः ही ऊपर की ओर आ रहे हैं। आपके ऊपर आते ही वह जलहीन कुआँ भी दिव्य जल से परिपूर्ण हो गया, सर्वत्र आनन्द हो गया। श्रीठाकुरजी की बड़े ही समारोह एवं वेदमन्त्रों द्वारा प्रतिष्ठा की गयी एवं उनका शुभ-नाम ठाकुर श्रीनवरँगीलालजी रखा गया। ठाकुर श्रीनवरँगीलालजी आज भी देवबन्द में विराजमान हैं। आपकी दीक्षा के सम्बन्ध में श्रीजतनलाल गोस्वामीजी का यह छप्पय अत्यन्त ही प्रसिद्ध है-''करत भजन इक दिवस लाडिली छबि मन अटक्यो। रूपसिन्धु के माहिं परौ कहुँ जात न भटक्यो।। विवश होइ तन गये भये तनमय प्यारी के। झुके अवनि पै शिथिल होइ सुख में भारी के।। कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होय दरसन दियो। अपने हित कौं जानिकै हित सों मन्त्र सुनाय दियो।।''

श्रीहितजी का आठ वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। अलौकिक प्रतिभावान होने के कारण अल्पकाल में ही समस्त शास्त्रों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिये। आपकी सोलह वर्ष की आयु में श्रीरुक्मिणीदेवी के साथ विवाह हुआ। आपके श्रीवनचन्द्रजी, श्रीकृष्णचन्द्रजी, श्रीगोपीनाथजी ये तीन पुत्र एवं साहिबदे नाम की एक पुत्री हुई। आपकी बत्तीस वर्ष की अवस्था व्यतीत होने के पश्चात् श्रीराधाजी ने आपको श्रीवृन्दावन वास एवं निज-सिद्धान्त प्रचार का आदेश दिया। मनभावता

आदेश प्राप्त कर आप बड़े ही आनन्दित हुये, तत्काल ही श्रीवृन्दावन प्रस्थान के लिए उद्यत हो गये। धर्मपत्नी श्रीरुक्मिणीदेवी को भी साथ में चलने के लिये कहने पर उन्होंने बच्चों की देखभाल के लिए अपनी आवश्यकता कहकर साथ चलने में असमर्थता प्रकट की, फिर तो ये अकेले ही श्रीवृन्दावन के लिये चल पड़े। मार्ग में चटथावल ग्राम के निकट पहुँचने पर श्रीराधाजी ने रात्रि के समय स्वप्न में आपको आदेश दिया कि-''इस ग्राम में श्रीआत्मदेव नामक एक ब्राह्मण तुम्हें अपनी दो कन्यायें देंगे, तुम उनका विधिवत् ''पाणिग्रहण-संस्कार'' करना एवं उन ब्राह्मण के द्वारा पारितोषिक (दान-दहेज) में एक श्रीविग्रह की तुम्हें प्राप्ति होगी, उसे श्रीवृन्दावन ले जाकर उनकी विधिवत् प्रेमपूर्वक सेवा-पूजा करना।'' ठीक इसी प्रकार का ही स्वप्नादेश उसी रात्रि को उस ब्राह्मण को भी हुआ था। उनसे भी श्रीठाकुरजी ने यही बात कही थी कि तुम अपनी दोनों सुपुत्रियों का ''विवाह'' श्रीहितहरिवंशजी के साथ करके मुझे दहेज रुप में दे देना। (विशेष देखिये क०-३६५), ब्राह्मणदेव ने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति एवं श्रीविग्रह सहित अपनी दोनों कन्यायें (श्रीकृष्णदासी एवं श्रीमनोहारी) को श्रीहितहरिवंशजी को प्रदान कीं। श्रीहितहरिवंशजी इन दोनों को साथ लेकर एवं समस्त सम्पत्ति को बैलगाड़ी में रखकर एवं श्रीठाकुरजी का श्रीविग्रह पालकी में विराजमान करके पदयात्रा करते हुए दो मास में श्रीवृन्दावन पहुँचे। श्रीयमुनाजी के समीप ''मदनटेर'' नामक स्थल पर आपका पड़ाव पड़ा। सर्व प्रथम आपने आठ श्लोकों द्वारा श्रीयमुनाजी की स्तुति की जिसे ''श्रीयमुनाष्टकम्'' कहते हैं। आपके दर्शनार्थ ब्रजवासीजन आये, आपके श्रीवृन्दावनवास का मनोभाव समझकर (जमींदार) ब्रजवासियों ने श्रीहितजी के हाथ में एक तीर-कमान देकर कहा कि-''आप तीर चलाइये, जहाँ पर यह तीर जाकर गिरेगा, वहाँ तक की भूमि आपकी हो जायेगी।'' ब्रजवासियों के कौतुकमय प्रेमपूर्ण आग्रह पर आपने तीर छोड़ा तो वह चीर घाट पर जाकर गिरा। फलस्वरूप ''मदनटेर से चीरघाट तक की भूमि' ब्रजवासियों ने आपको भेंट में दे दी। श्रीधाम श्रीवृन्दावन में श्रीहितजी ने ''मानसरोवर, सेवाकुंज, रासमण्डल और वंशीवट'' इन चार दिव्य केलि-स्थलों को प्रकट किया।

ठाकुर श्रीराधावल्लभलालजी का ''प्रथम पाटोत्सव'' सेवाकुंज में ही मनाया गया। आप सपरिकर श्रीराधावल्लभलालजी की अत्यन्त ही लाड़-चाव, से सेवा-पूजा करते थे। आपने प्रथम पत्नी श्रीकृष्णदासीजी को पुष्प-सेवा एवं द्वितीय पत्नी श्रीमनोहरीजी को संत-सेवा सौंपी और स्वयं श्रीश्रीजी की सेवा तथा लीला-चिन्तन में मग्न रहते थे। आपके

द्वारा शृंगार-रसोपासना का बड़ा व्यापक प्रचार हुआ। आपके अनेक शिष्य-प्रशिष्य जिन्होंने प्रत्यक्ष श्रीश्यामा-श्याम का साक्षात्कार किया। आपके दर्शन एवं सत्संग रसिकजनों को परम आनन्द प्राप्त होता था। सब लोग अपनी जिज्ञासाओं का समु समाधान प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करते थे। आपके समीप रसिकजनों की भी लगी रहती थी। आपके उपदेश अत्यन्त ही सारगर्भित होते थे। उनके उपदेशों में-"अ अमित अति आखर थोरे।" की अनुपम योजना देखते ही बनती है। यथा-"सबसौं हि निष्काम मति वृन्दावन विश्राम। श्रीराधावल्लभलाल को हृदय ध्यान मुख नाम।। तन राखि सत्संग में मनहिं प्रेमरस भेव। सुख चाहत हरिवंश हित कृष्ण कल्पतरु सेव।। निक कुँज ठाढ़े भये भुजा परस्पर अंश। श्रीराधावल्लभ मुख कमल निरखि नैंन हरिवंश।। रस कटौ जु अनरटौ निरखि अनफुटौ नैंन। श्रवण फुटौ जो अनसुनौ श्रीराधा यश बैन।।" इ प्रकार से सम्पूर्ण जीवन प्रेमोपासना एवं प्रेमोपदेश में समर्पित कर श्रीहितहरिवंश महाप्रभु ने वि०सं० १६०९, आश्विन शुक्लपक्ष, पूर्णिमा को नित्य-निकुंज में प्रवेश किया। आपके नित्यलीला प्रवेश से रसिकजनों को अपार मर्मान्तक व्यथा हुई। परम रसिक श्रीहरिरा व्यासजी कहते हैं कि-

हुतो रस रसिकन कौ आधार।
बिनु हरिवंशहिं सरस रीति कौ कापै चलिहैं भार।।
को राधा दुलरावै गावै वचन सुनावै चार।
वृन्दावन की सहज माधुरी कहिहैं कौन उदार।।
पद रचना अब कापै ह्वै हैं निरस भयो संसार।
बड़ो अभाग अनन्य सभा कौ उठिगौ ठाट सिंगार।।
जिन बिनु दिन छिन सतयुग बीतत सहजरूप आगार।
"व्यास" एक कुल कुमुद बन्धु बिन उडुगन जूठो थार।।

(व्यासवाणी)

स्वामी श्रीहरिदासजी

(श्री) आसुधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की।।
जुगल नाम सौं नेम जपत नित कुँजविहारी।

अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी।।
गान कला गन्धर्व स्याम-स्यामा कौं तोषैं।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं।।
नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दरसन आसा जास की।
(श्री) आसुधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की।।९१।।

शब्दार्थ—उद्योत = प्रकाश, चमक। उद्योतकर = प्रकाशक। जुगल = युग, दो, प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्ण। अवलोकत =देखत। गान कला = संगीत, गान विद्या। गन्धर्व =देव विशेष, जो नृत्य, गान में बड़े प्रवीण होते हैं। तोषैं = सन्तुष्ट करें, सेवा से प्रसन्न करें। मरकट = बन्दर। तिमि = मछली जल के जीव।

भावार्थ—स्वामी श्रीहरिदासजी श्रीआशुधीरजी के सुयश को जगत् में प्रकाशित करने वाले हुये। आपकी ''रसिक'' यह छाप थी अर्थात् वैष्णव-समाज में ''श्रीरसिकजी'' के नाम से विख्यात थे। आपका श्रीकुंज विहारिणी विहारी श्रीश्यामा-श्याम प्रिया-प्रियतम युगल के नाम के प्रति विशेष नेम-प्रेम था। आप निरन्तर प्रेमपूर्वक श्रीयुगल-नाम का जप किया करते थे तथा नित्य श्रीप्रिया-प्रियतम की केलि-विलास लीला का दर्शन करते रहते थे। आप सखी सुख के परम अधिकारी थे तथा संगीत विद्या में ऐसे निपुण थे कि आपके समक्ष गन्धर्व भी एक कलामात्र ही प्रतीत होते थे। अपने रसमय संगीत से श्रीश्यामा-श्याम को सदा रिझाते थे। आप अपने परमाराध्य श्रीश्यामा-श्याम को परमोत्तम भोग अर्पित करते थे और संत से अवशिष्ट भोग-प्रसाद द्वारा मयूर, बन्दर एवं मछलियों का पोषण करते थे। बड़े-बड़े राजा-महाराजा आपके दर्शनों की अभिलाषा से कुंजद्वार पर खड़े रहते थे।।९१।।

व्याख्या—आसुधीर—आप स्वामी श्रीहरिदासजी के श्रीसद्गुरुदेवजी थे। (किसी-किसी के मत से पिता एवं गुरु आप दोनों ही थे)। श्रीस्वामी हरिदासजी के यश विस्तार से आपके भी सुयश में वृद्धि हुई। सन्त-समाज में जब कभी स्वामी श्रीहरिदासजी के विषय में वार्ता होती तो यदि कोई कदाचित् अनजान व्यक्ति पूछ लेता कि कौन हरिदास? तो रसिकजन बड़े ही गौरव के साथ कहते ''आशुधीरजी'' के हरिदास। यथा-''आसू के हरिदास रसिक हरिवंश न मोहिं विसारो।'' (व्यासवाणी) अत: ''आसुधीर उद्योतकर'' कहा। ''रसिक छाप''-स्वामी श्रीहरिदासजी को यह ''छाप'' स्वयं कुँजविहारिणी श्रीराधिकाजी ने ही प्रदान की थी। वह प्रसंग इस प्रकार से है-''नित्य दिव्य लीला मण्डल में रास रच्यो रँग भारी। होड़ा-होड़ी नृत्य करें मन मगन पिया अरु प्यारी।। नचै कौन आछो यह कहिये पूछत कुँजविहारी। कही बार द्वै श्रीस्वामी ने आछो नाचैं प्यारी।। तीजे

पूछत ही प्यारे को लियो अँक में लाई। नचन नचावत तुम द्वौ जानत सकै कौन बतलाई।। चौसर नरद प्रथम है काची ता पाछे ते पकई। ऐसे रँग तिहारे रँगिके तीनि बार में छकई।। सुनिके प्यारी मुदित ह्वै गई छाप ''रसिक'' की दीनी। हौ स्वामी ललिता अवतारी बात प्रगट यह कीनी।।'' तब से ही स्वामी श्रीहरिदासजी ''रसिक हरिदासजी'' के नाम से ही प्रचलित एवं प्रसिद्ध हुए। सन्त-समाज में प्रसिद्ध कहावत है कि-''ये हरिदास रसिक हरिदास। और हरिदास मात्र हरिदास।।'' आपकी अनन्य रसिकता पर मुग्ध एवं प्रभावित होकर श्रीहरिराम व्यासजी कहते हैं-''अनन्य नृपति स्वामी श्रीहरिदास। श्रीकुँजविहारी सेये बिन जिन छिन न करी काहू की आस।। सेवा सावधान अति जानि सुघर गावत दिन रसरास। ऐसो रसिक भयो ना ह्वैहैं भुवमण्डल आकास।। देह विदेह भये जीवत ही विसरे विश्व विलास। श्रीवृन्दावन रज तन मन भजि तजि लोक वेद की आस।। प्रीति रीति कीन्हीं सबही सौं किये न खास खवास। अपनो व्रत हठि ओर निवाह्यौ जौलौं कण्ठ उसास।। सुरपति भूपति कंचन कामिनि जिनकैं भायैं घास। अबके साधु व्यास हमहूँ से जगत् करत उपहास।।''

जुगल नाम सौं नेम— इसका भाव यह है कि आप केवल श्रीराधा अथवा श्रीकृष्ण का नाम नहीं जपते थे। बल्कि श्रीप्रिया-प्रियतम दोनों का युगल-नाम एक साथ जपते थे। यह बात आपके पदों से स्पष्ट ध्वनित होती है। यथा-''श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी सम बैस वैसे।'' ''श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी पै रँग रह्यौ रस ही में पागे।'' ''श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी सौं मन रानौं।'' ''श्रीहरिदास के स्वामी श्यामा कुँजविहारी न टरन कौं।'' (केलिमाल-१,२,३,४) अर्थात् आप अपने मुख से सदा-सर्वदा ''श्रीश्यामा-श्याम'' एवं ''श्रीकुँजविहारिणी विहारी'' यह श्रीयुगल-नाम ही निकलता था। ''जपत नित कुँजविहारी'' -कुँजविहारी शब्द से श्रीप्रिया-प्रियतम श्रीयुगल का ही बोध होता है, क्योंकि विहार अकेले अर्थात् बिना युगल के, एक के द्वारा सम्भव नहीं है। अतः ''जपत नित कुँजविहारी।'' आप श्रीबाँकेविहारीजी को ही श्रीकुँजविहारी कहते थे। श्रीभगवतरसिकजी कहते हैं-''कुँजविहारी एक आस और सकल तजि दुरास असन वसन सौं उदास बाँके व्रतधारी। गान दया गुण निधान रसिक मुकुटमनि प्रधान राग भोग बखत जानि पोषत पिय प्यारी।। तिमिर हरन कौं दिनेस ताप हरन कौं निसेस पाप दहन पावकेस गुरुता मुख चारी। निधुवन आसीन नित्त वर विहार सरस वित्त जै जै हरिदास रसिक भगवत बलिहारी।।''

अवलोकत रहैं केलि—यथा-''ऐसे ही देखत रहौं जनम सुफल करि मानौं। प्यारे की भाँवती भाँवती के प्रान प्यारे जुगलकिसोरहिं जानौं।। छिन न टरौं पल होऊँ न इत उत

रहौं एक ही तानौ। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी सौं मन रानौ।।'' पुनः-''हँसत बोलत मिलत देखौं मेरी आँखिन सुख। बीरी परसपर लेत खवावत ज्यौं दामिनि घन चमचमात सोभा बहु भाँतिन सुख।। श्रुति घुरि राग केदारो जम्यौ अधरात निसा रोम रोम सुख। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी कें गावत सुरत देत मोर भयो परम सुख।।'' (केलिमाल)।

पुनः- **रतन सुदेशमयी अवनि निकुँज धाम अति अभिराम पिय प्यारी केलि रास हैं।**
रमत रमन दोऊ सुमति सुरति सेज अमित कटाक्षनि के हाव-भाव हास हैं।।
भावुक प्रवीन सुपुनीत गुन गान रटैं बाटैं लोक लोकन में सुजस सुवास हैं।
सखी रूप दृगनि सरूप सदा पान करैं रसिक सिरोमणि श्रीस्वामी हरिदास हैं।।
जैसे अनखानि, लपटानि बतरानि पुनि अति इतरानि मुस्क्यान रँग बरषैं।
जैसे फिरि जान, अति दीनता निदान पान आपने प्रमान इहि मिसि प्रान करषैं।।
झटक रिसान भुवतान त्यौं-त्यौं प्राननाथ प्रानन सिहान मान मन में ही हरषैं।
ऐसे कुँज केलि रस बेलि सुख झेलि रही विना हरिदासी ताहि कहौ कौन निरषैं।।

सखी सुख के अधिकारी—पूर्व जो कहा गया है कि-''अवलोकत रहैं केलि'' यही सखी सुख है। सखियाँ बड़े ही चाव से श्रीयुगल की केलि विलास का साज-श्रृंगार सजाती हैं और जब श्रीयुगल केलि विलास में रहते हैं तो सखियाँ उस केलि का दर्शन कर अपने जन्म-जीवन को सफल एवं धन्यातिधन्य मानती हैं। यथा-

सखी चहुँ ओर फिरैं चकडोर-सी सेवा कौ भाव बढ्यौ मन माहीं।
सौंज सिंगार नई-नई आनत बानत नेकहुँ हारत नाहीं।।
प्रेम पगी तिहि रंग रँगी निरखैं तिनकौ तनकौ न अघाहीं।
और स्वाद लगै ध्रुव फीको रहैं विवि रूप के छत्र के छाहीं।।

सखी सुख का वर्णन करते हुए श्रीध्रुवदासजी कहते हैं-

प्रीतम की प्रेम गति देखै भूली तन गति बड़े बड़े नैंना दोऊ आये प्रेम जल भरि।
प्रिया लाल लाल कहि लये लाइ उरजन चूमि-चूमि नैंना रही अधर दसन धरि।।
हित ध्रुव सखी सब देखत विबस भई प्रेम पट नाना रंग झलकै सबनि पर।
एक चित्र की सी खरीं एक धरनि खसि परीं एकनिकै नैंननि तैं गिरै नेह नीर ढरि।।
सखीन की गति हेरै ठाढ़े भये जाइ नेरै करुनाकै चितयो दुहूँन तिन ओर री।
अमीकी सी धारा उर सींचि गये सबनिकै प्रेमसिन्धु भौंर ते निकासी बरजोर री।।

चहुँदिसि राजै खरी महारस रंग भरी नैंननि की गति बहै तृषित चकोर री।
सहज तरंग उठैं जल के से छिन-छिन हित ध्रुव यहै खेल तहाँ निसि भोर री।।

श्रीकिशोरदासजी इस अनन्य सुख का वर्णन करते हुए लिखते हैं-''दम्पति के सुख में सुखित अपसुख गन्ध न लेस। किशोरदास या देस के सूक्षम दुर्गम देस।।'' साथ ही आपने यह भी कहा है कि-''सूक्षम दुर्गम देस के श्रीहरिदास नरेस।।'' श्रीनाभाजी कहते हैं कि यह जो सखी सुख है, श्रीस्वामी हरिदासजी इसके अधिकारी हैं अर्थात् स्वयं इस सुख का आस्वादन करने की आपमें परम पात्रता है। अरे भाई! श्रीललिता सखी के अवतार जो ठहरे। पुनः-यह सखी सुख आपके ही अधिकार में है अर्थात् आप स्वयं इसका रसास्वादन करते हुए जिस पर कृपा करें, वह ही इस सखी सुख को प्राप्त कर सकता है। साथ ही आपकी कृपा के बिना यह सुख अन्य के लिए दुर्लभ है। यथा-''श्रीस्वामी हरिदास को यश त्रिलोक विसतार। आप पियो प्यायौ रसिक नवल निकुँज विहार।। कुँजी नित्य विहार की श्रीहरिदासी हाथ। सेवत साधक सिद्धजन जाचत नावत माथ।।''

गान कला गन्धर्व—सामान्यतया शब्द क्रम से तो इस तुक (कड़ी) का यही अर्थ निकलता है कि आप गान कला में गन्धर्व थे। परन्तु इस अर्थ से श्रीस्वामीजी का कोई उत्कर्ष सिद्ध नहीं होता है। कहाँ तो श्रीललितावतार श्रीस्वामीजी और कहाँ देवताओं के दरबार में नृत्य-गान करने वाले गन्धर्व। इन दोनों में महान् अन्तर हैं, अतः इसका अन्वय इस प्रकार से किया गया है कि-गान (में) गन्धर्व (जिनकी) कला (मात्र) है। और विशेष देखिये भावार्थ में। स्वामी श्रीहरिदासजी पूर्ण संगीत-कला-सिन्धु हैं और गन्धर्व संगीत समुद्र की एक तरंग मात्र हैं। सत्य तो यह है कि गन्धर्व श्रीस्वामीजी की एक कला भी नहीं हैं। यह तो शाखा चन्द्र न्याय से एक दिग्दर्शनमात्र है। संगीत सम्राट तानसेन भी श्रीस्वामीजी के शिष्य थे। प्रसंग इस प्रकार से है-

तानसेन प्रथम ओरछा के राजा श्रीराजाराम बुन्देला के दरबार के प्रधान गायक थे। इनको दीपक राग सिद्ध था। दरबार में इनका बहुत बड़ा सम्मान था, इससे अन्य दरबारी गायक इनसे ईर्ष्या करते थे, सबने मिलकर एक षड्यन्त्र की रचना की कि राजा से कहकर तानसेनजी से दीपक राग गवाया जाय, ये दीपक राग गाना तो जानते थे, परन्तु इसकी शान्ति में मेघ मलार राग का सिद्ध होना परमावश्यक था, वह इन्हें ज्ञात नहीं था। दीपक राग गाने के बाद बिना मेघमलार राग गाये गायक के शरीर में जलन होने लगती है, जिससे वह तड़प-तड़प कर शरीर छोड़ देता है। ओरछा नरेश

श्रीराजारामजी इस रहस्य को तो जानते नहीं थे, आपने गायकों का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया एवं एक बहुत बड़े संगीत-सम्मेलन का आयोजन किया और उस सम्मेलन में तानसेन से दीपक राग गाने का अनुरोध किया गया। तानसेन ने बहुत अनुनय-विनय किया कि इस राग के गाने से मेरे प्राण संकट में हो जायेंगे, मेरा शरीर जल जायेगा। परन्तु राजहठ ने एक नहीं सुनी। अन्ततोगत्वा विवश होकर तानसेन को दीपक राग गाना ही पड़ा। असंख्य दीपक घृतवर्तिकायुक्त सजाये गये। जब तानसेनजी ने दीपक राग का आलाप भरा तो सभी को अत्यन्त गर्मी का अनुभव होने लगा, कुछ ही क्षण में सभी लोग (श्रमवारि) पसीना से तर-बतर हो गये। पद गाने के समय तो इतनी भीषण गर्मी का अनुभव हुआ कि सभी लोग पंडाल को छोड़-छोड़कर भाग गये। पद गान पूर्ण होते-होते समस्त दीपक एक साथ जल गये। तानसेन को बहुत बड़ा सुयश प्राप्त हुआ, परन्तु वहीं बात हुई जो कि प्रथम में बतायी गयी थी। तानसेन के शरीर में अपार जलन होने लगी। विविध उपचार कराने पर भी शरीर की जलन शान्त नहीं हुई। तानसेन बावले हो इधर-उधर घूमने लगे, किसी मेघमलार राग गायक की खोज में। तानसेनजी घूमते-घूमते ओरछा के जंगल में चले गये वहाँ दो मातायें कण्डा-उपला बीन रही थीं, इन्हें देखकर एक ने कहा कि -यह तो दीपक राग से जले हुए प्रतीत होते हैं, तानसेनजी ने उनकी बातें सुन लीं और समझ गये कि ये मातायें राग विशेषज्ञा हैं निश्चय ही इनके द्वारा मेरा यथोचित उपचार हो जायेगा। अत: उनके समीप जाकर तानसेन ने मेघमलार राग गाने की विनती की। तब उन दोंनो माताओं ने मेघमलार राग गाया, तत्काल ही आकाश में मेघ घिर आये और बड़े जोर की वर्षा होने लगी, शरीर की जलन शान्त हो गयी, तानसेन ने उन दोंनो बाइयों के चरणों में पड़कर, मेघमलार राग की शिक्षा देने की प्रार्थना की। उन्होंने कहा-इसके लिए तुम्हें श्रीवृन्दावन में विराजमान स्वामी श्रीहरिदासजी की ही शरण ग्रहण करनी होगी, विश्वास करो उनके कृपाकटाक्ष मात्र से तुमको समस्त राग-रागनियाँ सिद्ध हो जायेंगी, तब तानसेन श्रीवृन्दावन आकर स्वामी श्रीहरिदासजी की शरणागत हुए और आपकी कृपा से ही तानसेन ने आगे चलकर ''संगीत सम्राट्'' का पद प्राप्त किया। प्रसिद्ध गायक बैजूबावरा जिसने तानसेन से भी बढ़कर स्वर सिद्धि प्राप्त की थी और सदा कृष्ण प्रेम में मतवाला रहता था, आपका ही शिष्य था।

स्याम-स्यामा कौं तोषैं—श्रीस्वामी हरिदासजी की संगीत-साधना लोकरंजन के लिए न होकर मात्र श्रीप्रिया-प्रियतम को रिझाने के लिए ही थी। वर्णन आया है कि अकबर

के दरबार के प्रमुख गायक तानसेन स्वामी श्रीहरिदासजी के ही कृपापात्र थे। एकबार अकबर को सौभाग्य से स्वामी श्रीहरिदासजी के श्रीमुख से भी पद सुनने को मिला था। (कथा आगे देखिये) अकबर ने तानसेन से पूछा-"जो आनन्द श्रीस्वामीजी के पदों में आया था, वह आनन्द तुम्हारे पद-गायकी में नहीं आता है, इसका क्या कारण है?"तानसेन ने कहा-"हुजूर! मैं एक मुल्क के बादशाह के समक्ष गाता हूँ और वे सारे जहान के मालिक के सामने गाते हैं। मैं अपनी कला का उपयोग एक इंसान की प्रसन्नता के लिए करता हूँ और वे अपनी कला का प्रयोग श्रीश्यामा-श्याम को रिझाने के लिए करते हैं। फिर भला मैं उनकी बराबरी कैसे कर सकता हूँ?" इसका सारांश यह है कि श्रीभगवद्-प्रीत्यर्थ किया हुआ कर्म अनन्त महिमामय हो जाता है।

उत्तम भोग लगाय—स्वामी श्रीहरिदासजी के परमाराध्य श्रीबाँकेबिहारीजी के श्रीचरणों से नित्यप्रति द्वादश मुहरें प्रकट होती थीं, उन्हीं से प्रतिदिन उत्तमोत्तम भोग सामग्री मथुरा से मँगवायी जाती थी एवं उससे विविध व्यंजन बनाकर श्रीबाँकेबिहारीजी को भोग लगाया जाता था। उस भोग-प्रसाद द्वारा प्रथम तो सन्तों को संतुष्ट किया जाता तदुपरान्त जो शेष भोग-प्रसाद बचता उसके तीन भाग करते। प्रथम भाग बन्दरों के लिये, द्वितीय भाग पक्षियों के लिये एवं तृतीय भाग मछलियों के लिए होता था, आप स्वयं चना पा कर ही रह जाते थे। यथा-"व्यंजन बनत विसाल सुसारा। ताको या विधि करत विचारा।। ताके तीन विभाग बनावैं। एक ढेर मरकट सब खावैं।। एक ढेर पक्षी चुग जावैं। एक मीन कच्छप डरवावैं।। श्रीस्वामी नित चना मँगावैं। टका तीन दिन भर उठ पावैं।।" (निजमत सिद्धान्त) कहते हैं कि एक दिन श्रीविहारीजी ने आपसे अनुरोध किया कि "आप मुझको तो इतना बढ़िया भोग अर्पण करते हैं एवं स्वयं एक मुट्ठी चना-प्रसाद ग्रहण करके ही रह जाते हैं, इससे मुझको संतोष नहीं होता है, अतः आप भी भोग-प्रसाद पाया करिये।" तब आपने विनम्र निवेदन किया कि-"जै जै! उत्तम भोग आरोगना तो आपको ही शोभा देता है, हम विरक्तों के लिए तो मात्र जीवन धारण करने हेतु एक मुट्ठी चना-चबेना ही बहुत है।" आपका अत्यन्त प्रबल वैराग्य देखकर श्रीबिहारीजी के नेत्र सजल हो गये तथा पुनः प्रसाद ग्रहण करने का आग्रह किया। तब श्रीस्वामीजी ने श्रीबाँकेबिहारीजी का मन रखने के लिए चना के स्थान पर अपने लिए अँगाबाटी बनाते और उन्हें श्रीठाकुरजी पर न्योछावर कर थोड़ा-सा पा लिया करते।

नृपति द्वार ठाढ़े रहैं—सामान्य राजाओं की तो बात ही क्या, महान् सम्राट् अकबर भी स्वामी श्रीहरिदासजी के दर्शन की प्रतीक्षा में घण्टों कुँज द्वार पर खड़ा रहता। प्रसंग इस प्रकार से है- एक बार तानसेन के गान पर मुग्ध होकर इनकी प्रशंसा करते हुए

अकबर ने कहा–''तानसेन! तुम दुनिया के सर्वश्रेष्ठ गायक हो।'' बादशाह के वाक्य पूरे भी नहीं हुये थे कि तानसेन ने अपने कान बन्द कर लिए और बीच में ही बात काटकर बोले–''हुजूर! हमारे श्रीगुरुदेव स्वामी श्रीहरिदासजी के समक्ष मुझ तुच्छ की क्या गिनती है? अरे, मैं तो अपने श्रीगुरुदेवजी के संगीत-सिन्धु का एक बिन्दु भी नहीं हूँ, उन संगीत-सूर्य की एक रश्मि भी नहीं हूँ।'' यह सुनकर गुणग्राही बादशाह अकबर बहुत ही चकित हुआ तथा तानसेन के श्रीगुरुदेवजी के दर्शनों की तीव्र इच्छा जागृत हुई। उसने अपना मनोभाव तानसेन के समक्ष प्रकट किया तो तानसेन ने प्रथम तो कुछ असमंजसता दिखायी, परन्तु बादशाह के विशेष आग्रह करने पर दो टूक बात कही कि–''बादशाहत की हैसियत अर्थात् रौब से चलने पर तो उनका दर्शन दुर्लभ है। मैंने तो उनका शरणागत होकर ही कृपा-प्रसाद पाया है। यदि आपको उनके दर्शन की लालसा है तो मेरे सेवक के रूप में, मेरे साथ चलने पर भले ही दर्शन हो जायँ, अन्यथा असम्भव है।'' अकबर ने निःसंकोच तानसेन की बात मान ली और दोंनो श्रीवृन्दावन के लिए चल पड़े। अकबर ने श्रीधाम श्रीवृन्दावन के समीप आकर अपना शाही ठाट-बाट त्यागकर खवास का भेष धारण किया और तानसेन का तानपूरा अपने कन्धे पर रखकर पीछे-पीछे चलने लगा, स्वामी श्रीहरिदासजी के निवास स्थान निधिवन में पहुँचने पर तानसेन ने अकबर के हाथ से तानपूरा लेकर कुँज में प्रवेश कर गये जहाँ श्रीस्वामीजी विराजमान थे, तानसेन साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम कर जमीन पर ही बैठ गये एवं बादशाह अकबर कुँज द्वार पर ही खड़े रहे। श्रीस्वामीजी ने तानसेन से मेघमलार राग में एक पद गाने को कहा, तानसेन ने आज्ञा शिरोधार्य कर पद गाया तो अवश्य लेकिन स्वयं भी श्रीस्वामीजी के श्रीमुख से सुनने की अभिलाषा तथा बादशाह को भी सुनाने के अभिप्राय से जान-बूझकर ही ताल में थोड़ी भूल कर दी, तब श्रीस्वामीजी ने इनका अभिप्राय समझकर स्वयं हाथों में तमूरा लिया और जैसे ही आपने आलापचारी की तत्काल ही ग्रीष्म ऋतु में पावस ऋतु हो गयी, मेघमलार राग गाते ही एक क्षण में ही आकाश में बादल छा गये और वर्षा की झड़ी लग गयी। यह सब देख-सुनकर बरबस अकबर के मुख से ''वाह'' शब्द निकल पड़ा, यह शब्द श्रीस्वामीजी ने सुन लिया, लेकिन जानकर भी अनजान की भाँति तानसेन से पूछे कि–''बाहर कौन है?'' तब तानसेन ने अत्यन्त भयभीत होकर समस्त वृत्तान्त श्रीस्वामीजी के श्रीचरणों में निवेदन किया। अकबर की गुणग्राहकता पर प्रसन्न होकर श्रीस्वामीजी ने उसे भी भीतर बुला लिया।

श्रीस्वामीजी का दर्शन पाकर बादशाह कृतकृत्य हो गया और उसने स्वामी श्रीहरिदासजी के श्रीचरणों में साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम किया। श्रीस्वामीजी के अचिन्त्य प्रभाव से प्रभावित

होकर अकबर ने कुछ सेवा के लिये आग्रह किया तो आपने प्रथम में तो कुछ भी नहीं कहा, परन्तु जब वह बार-बार हठ करने लगा तो आपने आज्ञा दी कि श्रीयमुनाजी के धीरसमीर घाट का एक कोना टूट गया है, तुम उसी की मरम्मत करवा दो। यह सुनकर बादशाह का मन उदास हो गया कि मेरे इतना आग्रह करने पर भी सेवा बतायी तो एक टूटी सीढ़ी की मरम्मत मात्र। बादशाह को अपने ऐश्वर्य का अभिमान था, श्रीस्वामीजी को यह बात समझते देर नहीं लगी। तत्काल ही एक सेवक को घाट की सीढ़ी दिखलाने के लिये अकबर बादशाह के साथ भेज दिया। सेवक श्रीस्वामीजी की महिमा से परिचित था, साथ ही सेवक यह भी समझ गया कि अकबर के ऊपर श्रीस्वामीजी की कृपा हो गयी है, तभी तो इसे दिव्य-श्रीवृन्दावन की दिव्य-सीढ़ियों का दर्शन कराना चाहते हैं। श्रीस्वामीजी की कृपा से दिव्यदृष्टि प्राप्त अकबर ने जब दिव्य-मणिमय सीढ़ियों का दर्शन किया तो उसके होश उड़ गये। वह तत्काल ही वापस लौट आया और श्रीस्वामीजी के श्रीचरणों में गिरकर अपनी इस धृष्टता के लिये क्षमा-प्रार्थना करता हुआ बोला-''महाराज! हमारी जैसी करोड़ बादशाहतों का वैभव भी इस टूटी हुई सीढ़ी का कोना बनवाने में असमर्थ है, फिर मुझ नाचीज की तो बात ही क्या है। आप तो मेरे योग्य कोई सेवा बताइये?'' अकबर बादशाह को लज्जित देखकर श्रीस्वामीजी ने उसके सन्तोष के लिये मोर-बन्दरों को चना देने का आदेश दिया, साथ ही शासन की ओर से यह कानून लागू करने को भी कहा कि श्रीधाम श्रीवृन्दावन में कोई पशु-पक्षियों का आखेट न करे तथा यहाँ की लता-पताओं को भी कोई न काटे। बादशाह श्रीस्वामीजी की आज्ञा शिरोधार्य कर तथा चरण-रज मस्तक पर लगाकर दिल्ली लौट गया। अकबर के शासनकाल में श्रीवृन्दावन के लिये सौ मन चना प्रतिवर्ष मोर-बन्दरों को दिया जाता था।

ओरछा नरेश श्रीराजाराम बुन्देला तथा महाराज श्रीमधुकरशाहजी तो सदा ही आपके दर्शनों के लिये आया करते थे। कहते हैं कि एक बार श्रीराजारामजी, श्रीस्वामीजी का दर्शन करने गये, उस दिन अन्नकूट का उत्सव था, श्रीस्वामीजी ने श्रीबाँकेबिहारीजी को अनेकानेक प्रकार के व्यंजनों का भोग लगाया था। आपने कृपापूर्वक राजाराम को अन्नकूट भोग का दर्शन कराया, श्रीराजारामजी भोग का दर्शन करके तो परम प्रसन्न हुये, परन्तु अन्नकूट के समस्त भोग-व्यंजन मृत्तिकापात्र (मिट्टी के बर्तनों) में रखे हुये देखे तो उन्हें यह बात खटकी। उन्होंने श्रीस्वामीजी से हाथ जोड़कर विनती करके कहा कि-''यदि आप आज्ञा दें तो श्रीठाकुरजी की सेवा के लिये मैं स्वर्णपात्रों की व्यवस्था कर दूँ।'' श्रीस्वामीजी ने

मुस्कुराकर कहा-"भैया! ब्रज रज से बने पात्र स्वर्णपात्र से कम महत्व के नहीं हैं, तुमने उन्हें ठीक से नहीं देखा है, अच्छा तो एक बार और तुम जाओ, अन्नकूट के दर्शन करके आओ, अबकी बार स्वामीजी ने कृपा करके श्रीराजारामजी को दिव्यदृष्टि दे दी। जिससे श्रीराजारामजी ने पुनः जब अन्नकूट-भोग का दर्शन किया तो इन्हें समस्त व्यंजन-भोग परमदिव्य-सुवर्णमय पात्रों में रखे हुए दिखायी दिये। वे आकर, श्रीस्वामीजी के श्रीचरणों में पड़ गये और बोले-"धन्य है, इस ब्रजरज की महामहिमा तो मैंने आज जानी।

ऐसे ही श्रीमधुकरशाहजी के ऊपर आपने परम अनुग्रह किया था। वर्णन आया है कि जिस समय श्रीमधुकरशाहजी ने अपने श्रीसद्‌गुरुदेव श्रीहरिरामव्यासजी को लिवाने के लिये श्रीवृन्दावन आये थे तो श्रीव्यासजी ने उनको स्वामी श्रीहरिदासजी का दर्शन कराया। श्रीस्वामीजी ने श्रीमधुकरशाहजी को परम अधिकारी समझकर उन्हें दिव्य-मणि, रत्न खचित नित्य श्रीवृन्दावन का दर्शन कराया। श्रीमधुकरशाहजी ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब मैं श्रीवृन्दावन छोड़कर घर जाऊँगा ही नहीं। तब श्रीस्वामीजी ने उनका हार्दिक अभिप्राय समझकर आज्ञा दी कि तुम निःसंकोच अपनी राजधानी को जाओ, तुम्हारे द्वारा वहाँ भक्ति का प्रचुर-प्रचार होगा, बहुत से विमुख जीव तुम्हारे द्वारा श्रीभगवद्-सम्मुख होंगे और तुम्हें जो धाम के प्रति भाव जाग्रत हुआ है, तो मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें वहाँ भी श्रीवृन्दावन का दर्शन होगा। तब श्रीमधुकरशाहजी पुनः अपनी राजधानी ओरछा को आये। कहते हैं कि उन्हें विन्ध्याचल तक उसी दिव्य-श्रीवृन्दावन का दर्शन होता रहा। तब उनकी समझ में आया कि भगवान् के ही तरह श्रीभगवद्धाम भी सर्वव्यापक हैं। उस समय उन्होंने यह पद गाया था-"हमारे वृन्दावन सों गाउँ।" अतः कहते हैं-"नृपति द्वार ठाढ़े रहैं।"

दरसन—श्रीभगवतरसिकजी ने स्वामी श्रीहरिदासजी का ध्यान इस प्रकार से वर्णन किया है।

कंबु कण्ठ मंजु दाम गौर अंग छबि सुधाम, कुन्दन ते सरस मृदुल मोहन मन भायौ।
नाल सहित कंज पानि देत सदा अभयदान, तजिकै अभिमान शाह अकबर सिर नायौ।।
चरण-कमल कामधेनु सकल कामना सुदेन, दरसै दृग होत चैन आपदा भगायौ।
करुवा अरु गुदरि पास श्रीवृन्दावन करैं बास, जै जै हरिदास रसिक भगवत मन भायौ।।

स्वामी हरिदास रसरासि को बखान सकै रसिकता छाप जोई जाप मधि पाइयै।
ल्यायौ कोऊ चोवा वाकौ अति मन भोवा वामैं डार्‌यो लै पुलिन यह खोवा हिये आइयै।।
जानिकै सुजान कही लै दिखावौ लाल प्यारे नैकुसु उघारे पट सुगंध बुड़ाइयै।
पारस पाषान करि जल डरवाय दियौ कियौ तब शिष्य ऐसे नाना विधि गाइयै।।३६७।।

शब्दार्थ—भोवा=भीगा, द्रवित, प्रेमार्द्र। खोवा = नष्ट हुआ। नैकुसु=थोड़ा-सा, अल्पमात्र। जाप = नाम स्मरणपूर्वक लीला चिन्तन।

भावार्थ-अनन्य नृपति स्वामी श्रीहरिदासजी मधुरोज्ज्वल श्रृंगाररस की राशि थे। आपकी रसभावना का कौन वर्णन कर सकता है? आपने श्रीयुगल-नाम स्मरणपूर्वक श्रीप्रिया-प्रियतम की केलि विलास लीला की भावना करते समय श्रीप्रियाजी के द्वारा "रसिकता की छाप पायी थी। "एक बार आपको एक भक्त ने इत्र भेंट किया, उस भक्त को वह इत्र बहुत ही पसन्द था, उसमें उसका मन अत्यन्त अनुरक्त था। श्रीस्वामीजी ने उस इत्र को लेकर तत्काल ही श्रीयमुनापुलिन में ढ़रका दिया, सर्वान्तर्यामी स्वामी श्रीहरिदासजी ने उसके हृदय का भाव जानकर अपने एक सेवक से कहा कि इन्हें साथ ले जाकर, प्राण-प्यारे ठाकुर बाँकेबिहारीजी महाराज का दिव्य-दर्शन कराओ, सेवक ने श्रीनिधिवन में ले जाकर ज्यों ही तनिक सा श्रीबिहारीजी का परदा खोला तो उसको श्रीबिहारीजी उसी इत्र में सराबोर दिखायी पड़े एवं सम्पूर्ण कुंज-मन्दिर उसी इत्र की सुगन्ध से सुगन्धमय हो रहा था।" एक महानुभाव ने दीक्षार्थ आपसे निवेदन किया, उनके पास एक पारसमणि थी, प्रथम तो आपने उस मणि को श्रीयमुना-जल में फेंकवा दिया, तब उसको अपना शिष्य बनाया। इसी प्रकार से आपके अनेकों त्याग-वैराग्य, अनुरागमय चरित्र, सन्त-सभा में गाये जाते हैं।

रसरासि को बखान सकै—यथा-"जा पथ को पथ लेत महामुनि मूँदत नैंन गहैं नित ताको। जा पथ को पछितात हैं वेद लहैं नहिं भेद रहैं जकि जाको।। सो पथ श्रीहरिदास लह्यौ रसरीति की प्रीति चलाय निशा को। निशान बजावत गावत गोविन्द रसिक अनन्यनि को पथ बाँको।। अत: "को बखान सकै" कहा गया। "रसिकता छाप०"-देखिये छप्पय में "रसिक छाप हरिदास की" व्याख्या में। श्रीप्रियाजी ने स्वामी श्रीहरिदासजी को "रसिकता" की छाप दी। यही कारण है कि आगे चलकर श्रीस्वामीजी की परम्परा के सब सन्त भी रसिक कहे जाने लगे। यथा-"आचारज ललिता सखी रसिक हमारी छाप। नित्य किशोर उपासना युगल मन्त्र को जाप।। युगल मन्त्र को जाप वेद रसिकन की बानी। श्रीवृन्दावन धाम इष्ट श्यामा

महरानी।। प्रेम देवता मिले बिना सिधि होय न कारज। भगवत सब सुखदानि प्रगट भये रसिकाचारज।।''

ल्यायो कोऊ चोवा....सुगंध बुड़ाइयै—वह प्रसंग इस प्रकार से है कि एक लाहौर निवासी विज्ञानी नामक भक्त के यहाँ एक बार श्रीहृषीकेश नामक एक ब्रजवासी सन्त पहुँचे। श्रीवृन्दावन की चर्चा चलने पर सन्तजी ने स्वामी श्रीहरिदासजी एवं इनके सेव्य ठाकुर श्रीबाँकेबिहारीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। विज्ञानीजी का मन श्रीस्वामीजी के दर्शन के लिए लालायित हो उठा। उन्होंने सन्तजी से पूछा कि-''श्रीस्वामीजी क्या भेंट अंगीकार करते हैं?'' सन्तजी ने कहा-''कै सुगन्ध कै रागवर पुनि अनुराग समेत। श्रीहरिदास विलासमय भेंट कृपा करि लेत।।'' विज्ञानीजी ने स्वामी श्रीहरिदासजी को सुगन्धवर भेंट करने का निश्चय किया। उन्होंने उस जमाने के एक लाख रुपये की कीमत का बढ़िया इत्र तैयार करवाया और अन्य भेंट की बहुत-सी सामग्री तथा इत्र लेकर श्रीधाम श्रीवृन्दावन को आये। जब श्रीस्वामीजी के दर्शनार्थ श्रीनिधिवन में आये तो पता चला कि आप तो श्रीयमुनापुलिन में भजन-ध्यान एवं श्रीयुगल की लीला भावना में निमग्न हैं। विज्ञानीजी समस्त सामग्री लिए श्रीयमुनापुलिन पहुँचे और श्रीस्वामीजी को साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम कर बड़े ही भाव पूर्वक वह इत्र भेंट किये। संयोग की बात, श्रीस्वामीजी उस समय श्रीप्रिया-प्रियतम की होली लीला की भावना में लीन थे, श्रीयुगल में परस्पर होली की धूम मची हुई थी। श्रीठाकुरजी रँग की पिचकारी भरकर श्रीश्रीजी के ऊपर डालने ही वाले थे, इधर श्रीश्रीजी अभी पिचकारी भर ही रही थीं, रँग भी यथेष्ट नहीं था। श्रीश्रीजी को लगा कि अब मेरी हार हो जायेगी, ठीक इसी समय ही विज्ञानीजी ने श्रीस्वामीजी को इत्र भेंट किया, तो श्रीस्वामीजी ने बड़े हर्ष पूर्वक उस इत्र को लिया और तत्काल ही श्रीश्रीजी का पक्ष लेकर सम्पूर्ण इत्र एकाएक श्रीबाँकेबिहारीजी महाराज के ऊपर उड़ेल दिया, क्योंकि आप भी तो श्रीललिता सखी के अवतार जो थे, अत: श्रीश्रीजी का पक्ष लेना स्वाभाविक हैं, विजय श्रीश्रीजी की हो गयी। विज्ञानीजी को इस रहस्य का तो ज्ञान था नहीं, उन्हें श्रीस्वामीजी द्वारा इत्र हर्षपूर्वक स्वीकार करने पर जितनी प्रसन्नता हुई थी, इत्र को श्रीयमुनापुलिन में गिरा देने पर उससे भी अधिक क्षोभ हुआ। विज्ञानीजी का अन्तर्भाव श्रीस्वामीजी से छिपा न रहा, अत: उनके खेद को दूर करने के लिए श्रीस्वामीजी ने पूछा कि-''क्या आपने श्रीबिहारीजी का दर्शन किया?'' उन्होंने कहा कि-''अभी नहीं किये हैं।'' श्रीस्वामीजी ने तत्काल एक सेवक को दर्शन कराने की आज्ञा दी, श्रीबाँकेबिहारीजी

के दर्शन करने पर विज्ञानीजी का भ्रम एवं क्षोभ दूर हो गया। श्रीस्वामीजी ने केलिमाल में श्रीयमुनापुलिन की इस एकान्तिक होली लीला का वर्णन किया है। यथा–''चल री भीर ते न्यारेइ खेलैं। कुंज निकुंज मंजु में झेलैं।। जहँ पंछिन सहित सखी न संग कोउ तिहि वन चल मिलि केलैं। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजबिहारी चोवा बूका मेलैं।।''

पारस पाषान करि—पंजाब प्रान्त के जसरोटो नामक स्थान के एक श्रीदयारामजी नाम के सारस्वत ब्राह्मण ने धन के अभाव में पत्नी के आग्रह पर जम्बू पर्वत पर जाकर धन की अभिलाषा से अत्यन्त ही कठोर तप किया। उनके तप पर सन्तुष्ट होकर श्रीऋक्षराज जाम्बवान् ने उन्हें एक पारसमणि देकर कहा कि इस मणि द्वारा तुम बारह वर्ष तक यथेष्ट धन प्राप्त कर लेना, इसके बाद यह मणि तुम्हारे पास नहीं रह पायेगी, अतः द्वादश वर्षोपरान्त तुम इस मणि को किसी सत्पात्र को भेंट कर देना। श्रीदयारामजी खुशी-खुशी मणि लेकर अपने घर आये। पारसमणि प्राप्त हो जाने से अब धन का किसी प्रकार अभाव नहीं रह गया। श्रीदयारामजी ने दस वर्ष तक खूब दान-पुण्य किया। तत्पश्चात् ब्राह्मण-दम्पत्ति ने आपस में विचार किया कि यह मणि अन्ततोगत्वा बारह वर्ष पूर्ण होने पर हमारे यहाँ से स्वतः ही चली जायेगी, इसलिए इससे पूर्व ही किसी सत्पात्र को इसे दान क्यों न कर दिया जाय। इसी संकल्प से ब्राह्मण-दम्पत्ति उचित पात्र के अन्वेषण (खोज) के लिए तीर्थयात्रा करने चले। ब्राह्मणी का मार्ग में ही श्रीगंगा तट पर देहावसान हो गया। ब्राह्मण देवता तीर्थभ्रमण करते हुए श्रीबैजनाथ धाम पहुँचे और भगवान् शिव से उचित पात्र का पता पूछा। भगवान् श्रीशिवजी ने कहा कि–''तुम इस पारसमणि को किसी ऐसे महात्यागी पुरुष को देना जो कि देने पर भी नहीं लेता हो।'' ब्राह्मण पारसमणि लेकर बड़े-बड़े डम्बूधारी सन्तों-महन्तों के निकट जाते और कहते कि ''महाराज! मुझे आपसे दीक्षा लेनी है, मेरे पास एक पारसमणि है, गुरु-दक्षिणा में उसी को भेंट करूँगा।'' पारसमणि का नाम सुनते ही सबका मन ललचा जाता एवं तत्काल ही शिष्य बनाने के लिए तैयार हो जाते। ब्राह्मणदेवता उनकी पारसमणि में स्पृहा देखकर श्रीशिवजी का वचन स्मरण कर वहाँ से नौ दो ग्यारह हो जाते। घूमते-फिरते श्रीधाम श्रीवृन्दावन में स्वामी श्रीहरिदासजी के पास आये और वही अपनी पुरानी बात यहाँ भी दुहराने लगे।

स्वामी श्रीहरिदासजी ने कहा–''भैया! यदि तुम शिष्य बनना चाहते हो तो मैं सहर्ष तुमको शिष्य बनाने के लिए तैयार हूँ, परन्तु शर्त यह है कि तुम इस पारसमणि

को पहले श्रीयमुनाजी में डाल आवो।'' भला दम्पति श्रीश्यामा-श्याम जिनकी सम्पत्ति हैं वे तुच्छ पारसमणि को क्या समझें। इस पर दृष्टान्त-''श्रीसनातनजी का''-(देखिये श्रीसनातन गोस्वामीजी का चरित्र)। स्वामी श्रीहरिदासजी ने कहा कि-''भैया! जिसको तुम पारसमणि समझे हुए हो, वह तो यथार्थ में पत्थर ही है, वास्तविक मणि तो श्रीश्यामा-श्याम का नाम-गुण-गान एवं रसिकों का सत्संग है श्रीदयारामजी ने समझ लिया कि जिसकी मुझे खोज थी तथा जिस महापुरुष के लिये भगवान् शिव ने संकेत किया था वह महापुरुष यही हैं। अतः बिना कुछ ननु न च किये उन्होंने वह पारसमणि श्रीयमुनाजी में फेंक दी एवं स्नान करके स्वामीजी के श्रीचरणों में उपस्थित हुए। श्रीस्वामीजी ने कृपापूर्वक मन्त्रोपदेश दिया एवं उनका नाम रखा दयालदास। कहते हैं कि यद्यपि श्रीदयालदासजी ने पारसमणि को फेंक तो दिया परन्तु पारसमणि के प्रति उनकी महत्वबुद्धि बनी ही रही। कभी-कभी वह यह सोचा करते कि यदि पारसमणि होती तो उससे मनमाना द्रव्य प्राप्त कर खूब परमार्थ किया जाता। श्रीस्वामीजी ने व्यर्थ में ही उसे श्रीयमुनाजी में फेंकवा दिया। सर्वज्ञ श्रीस्वामीजी ने दयालदासजी का भ्रम दूर करने के लिए एक दिन स्नान को जाते समय आज्ञा दिया कि स्नान करके एक अँजुलि श्रीयमुनाजी की रज तो लेते आना। दयालदास ने स्नान करके जब अँजुलि में रज उठायी तो देखा कि उनकी अँजुलि पारसमणि से भरी हुई है। श्रीस्वामीजी का यह महाप्रभाव देखकर दयालदासजी की आँखें खुल गयीं। वे समझ गये कि मैंने झूठे पारस का मोह किया था। सच्चे पारस तो श्रीस्वामीजी ही हैं। श्रीभगवतरसिकजी इस प्रसंग का स्मरण करते हुए लिखते हैं कि-''पारस सो धन परिहर्‍यौ सेवक अकबर शाहि। श्रीस्वामी हरिदास सम और बतावौं काहि।। और बतावौं काहि अवधि वैराग्य ज्ञान की। भक्ति सुमूरतिमन्त प्रेमनिधि दशा ध्यान की।। नित्य विहार आधार प्रगट सेवा नहिं आरस। भगवतरसिक अनन्य मिले गुरु पूरे पारस।।''

विशेष—अनन्य नृपति श्रीस्वामी हरिदासजी श्रीराधाजी की प्रधान सखी श्रीललिताजी के अवतार हैं। श्रृंगाररस की परमाचार्या श्रीललिताजी श्रीप्रिया-प्रियतम श्रीश्यामा-श्याम की परमान्तरंगा सखी हैं। भगवदादेश से प्रेमीजनों को श्रीयुगल की निकुँज लीलाओं का आस्वादन कराने के लिए ही आपने श्रीस्वामी के रूप में अवतार लिया था। श्रीस्वामी हरिदासजी बाल्यावस्था से ही एकान्त में बैठकर श्रीप्रिया-प्रियतम का ध्यान किया करते थे। एक बार शरद् पूर्णिमा की रात्रि में घर छोड़कर आप श्रीवृन्दावनस्थ

मानसरोवर पर जाकर एक कुंज में बैठकर ध्यान करने लगे। श्रीप्रिया-प्रियतम ने अनुग्रह कर इन्हें अपने नित्य रास-विलास का दर्शन कराया। इतने में ही इनके पिताजी भी अपने इष्ट-मित्रों को साथ लिये इन्हें खोजते-खोजते वहीं जा पहुँचे, जहाँ ये नित्यविहार दर्शन में निमग्न थे। श्रीस्वामी आशुधीरदेवजी के द्वारा पहले ही उन लोगों को मालूम हो चुका था कि ये श्रीललितावतार हैं, अतः परम एकान्त पाकर उन्होंने इनसे निजस्वरूप दर्शन कराने की प्रार्थना की। प्रथम तो आपने अनसुनी कर दी, परन्तु पिता के परमाग्रह ने उन्हें अपना स्वरूप प्रकट करने के लिए विवश कर दिया। श्रीस्वामी ने कृपा करके उन लोगों को स्वरुप का दर्शन कराकर श्रीयुगल की उपासना का उपदेश दिया। पच्चीस वर्ष की अवस्था में आपने श्रीस्वामी आशुधीरदेवजी से विधिपूर्वक विरक्त वेष लिया और श्रीनिधुवन को अपना निवास स्थान बनाया। निरन्तर श्रीयुगल-नाम का जप एवं श्रीयुगल की केलि विलास लीला का अवलोकन ही आपकी दिनचर्या थी।

श्रीस्वामी हरिदासजी नित्यप्रति श्रीनिधुवन में एक निश्चित स्थल पर बैठकर आत्म-विभोर होकर एक परम सुरम्य लताकुँज की ओर टकटकी लगाकर देखते रहते थे, कभी हँसते, कभी मुस्कुराते तथा कभी-कभी उन्मत्त हो जाया करते थे, आप नित्यप्रति उस लताकुँज भवन को साष्टांग प्रणाम करते थे। सेवा में रहने वाले शिष्यगण देख-देखकर परम विस्मित होते थे। एक दिन शिष्यों ने साहस करके अत्यन्त विनम्रता पूर्वक श्रीस्वामीजी से इसका रहस्य पूछा तो आपने कृपा करके प्रथम उन्हें दिव्यदृष्टि प्रदान की, फिर उस कुँज भवन की ओर देखने को कहा। शिष्यों ने देखा कि उस कुँज की जगह अनन्त ज्योतिर्मय श्रीप्रिया-प्रियतम का रँगमहल है, और उसमें एक प्राण द्वै देही श्रीश्यामा-श्याम कलकेलि विलास कर रहे हैं। यह दिव्य-दर्शन पाकर सभी आनन्दमग्न हो गये। उस समय श्रीस्वामीजी ने यह पद गाया था-"माई री सहज जोरी प्रगट भई जो रँग की गौर स्याम घन दामिनि जैसे। प्रथमहूँ हुती अबहूँ आगेहूँ रहिहैं न टरिहैं तैसे।। अँग अँग की उजराई सुघराई चतुराई सुन्दरता ऐसे। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी सम बैस वैसे।।" (केलिमाल), फिर स्वामी जी ने अपने पट्टशिष्य श्रीविट्ठलविपुलदेवजी को आज्ञा दी कि महल से झारी ले आओ, श्रीविट्ठलविपुलदेवजी श्रीरँगमहल में प्रविष्ट होकर स्वर्ण की झारी उठा लाये। श्रीस्वामीजी ने यह लीला इसलिये की कि बाद में शिष्यगण यह न समझें कि वह सब एक आभास मात्र था, बल्कि वह परम सत्य, प्रत्यक्ष विहार समझें। श्रीविट्ठलविपुलदेवजी ने जब पुनः उधर देखा तो न उन्हें श्रीरँगमहल दिखायी पड़ा, न केलि करते हुए श्रीयुगल ही, बल्कि श्रीप्रियाजी की कमनीय कान्ति को धारणकर मन्द-मन्द

मुस्कुराते हुए श्रीबाँकेबिहारीजी का दर्शन हुआ। त्रिभुवनमोहन, मदनमोहन, स्वमनमोहन श्रीबाँकेबिहारीजी की बाँकी झाँकी का दर्शन कर श्रीविट्ठलविपुलदेवजी अत्यन्त मुग्ध हो गये और श्रीस्वामीजी से प्रार्थना किये कि आप ऐसी कृपा करें कि नित्य इस झाँकी का दर्शन होता रहे। तब श्रीस्वामीजी ने श्रीबिहारीजी से प्रार्थना की। भगवान् ने भक्त की भावना का आदर किया। श्रीस्वामीजी का संकेत पाकर श्रीविट्ठलविपुलदेवजी, गोद में उठाकर श्रीबिहारीजी को बाहर लाये। उस समय श्रीस्वामी हरिदासजी ने यह पद गाया था-''ऐसे ही देखत रहौं जनम सुफल करि मानौं।'' (सम्पूर्ण पद प्रथम में आ चुका है। देखिये अवलोकत रहैं केलि की व्याख्या)। अगहन शुक्लपञ्चमी श्रीबिहारीजी की प्राकट्य तिथि है।

श्रीबाँकेबिहारीजी के प्राकट्य से श्रीस्वामी हरिदासजी का यश:सौरभ अत्यन्त अल्पकाल में ही दिग्-दिगन्त में परिव्याप्त हो गया। यत्र-तत्र-सर्वत्र से भक्तों की भीड़ आपके एवं आपके संसेव्य श्रीठाकुरजी के दर्शनार्थ आने लगी। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, आपकी श्रीचरणधूलि को शिरोधार्य कर अपने को कृतार्थ करने लगे तथा बड़े-बड़े योगी, यती, तपी, संन्यासी, वैष्णव आपका दर्शन एवं सत्संग प्राप्तकर धन्य हो गये।''

एक बार पर्वतपुरी नाम के एक संन्यासी ने उत्तराखण्ड में रहकर कठिन तपस्या करके अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। वह सिद्धियों के गर्व से उन्मत्त होकर वे यह जानने की इच्छा से कि इस संसार में मेरे समान कोई सिद्ध है अथवा नहीं, सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण करते हुए श्रीवृन्दावन आये। यहाँ उनको स्वामी श्रीहरिदासजी का सुयश सुनने में आया, अत: वह शक्ति परीक्षणार्थ सिद्धिबल से श्रीस्वामीजी को भयभीत करने के लिये विभिन्न प्रकार के रूप परिवर्तन करने लगा, कभी सिंह, कभी सर्प, कभी व्याघ्र, कभी अजगर बनकर श्रीनिधिवन में आकर श्रीस्वामीजी के पास फिरते, फुफकारते, दहाड़ते। उन्हें देखकर श्रीस्वामीजी के नेत्रों में आँसू भर आते। एक शिष्य के पूछने पर श्रीस्वामी जी ने इस रहस्य का उद्घाटन किया कि-''देखो यह श्रीपर्वतपुरी नाम के संन्यासी हैं, भगवान् ने इन्हें कृपा करके मनुष्य शरीर दिया, फिर उस मनुष्य शरीर द्वारा अनेकों वर्षों तक साधन-तपस्या करके इन्होंने बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ अर्जित की हैं। यह इच्छानुकूल रूप धारण करने में समर्थ हैं। परन्तु हमें खेद इस बात का हो रहा है कि इतना सब करके भी ये तामसी हिंस्र सिंह, व्याघ्र आदि, सर्प, अजगरादि का शरीर धारण कर श्रीवृन्दावन में घूम रहे हैं, और अपने इस महापतन को ही अपना बहुत बड़ा गौरव समझ रहे हैं, अरे! इन्हें अपना रूप ही बदलना था, तो देवता का शरीर धारण करके आते। मैं इनका आदर करता। परन्तु इनकी तो एकदम मति

ही नष्ट हो गयी है। छार पड़े ऐसी सिद्धियों पर। एक दिन श्रीस्वामीजी मोर, बन्दरों को चना डाल रहे थे, उसी समय संन्यासी पर्वतपुरीजी भी मोर बनकर चना चुगने आ गये, श्रीस्वामीजी ने कृपापूर्वक व्यंग्य करते हुए कहा-''यह देखो, नया मोर आ गया।'' कृपा की किरण पड़ते ही पर्वतपुरीजी की आँखें खुल गयीं। वे समझ गये कि श्रीस्वामीजी से मेरी पोल छिपी नहीं है। अतः तुरन्त स्वरुप में प्रकट होकर श्रीस्वामीजी के चरणों में पड़ गये और प्रार्थना पूर्वक बोले-''जैसे अपने आपने श्रीमुख से ''मोर'' कहा है उसी प्रकार से अब मुझे अपनाकर सचमुच अपना बना लीजिये। श्रीस्वामीजी ने अधिकारी जानकर श्रीयुगलमंत्र का उपदेश किया और नाम रक्खा-''प्रकाशदास''।

श्रीस्वामीआशुधीरदेवजी के एक शिष्य थे श्रीदेवदत्तजी। ये सपत्नीक शरणागत हुये थे, घूमते-फिरते ये गणमुक्तेश्वर में श्रीगंगातट पर पहुँचे, इनके सदुपदेश से वहाँ के लोग बहुत प्रभावित हुये। यह देखकर कुछ कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को इनसे ईर्ष्या होने लगी। वे दल बाँधकर इनसे शास्त्रार्थ करने आये। श्रीदेवदत्तजी भक्ति की महिमा का प्रतिपादन करने में संतों की वाणियों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते थे। कर्मकाण्डी ब्राह्मण इन महावाणियों को महत्व नहीं दे रहे थे। वह पुनः-पुनः वेदमंत्रों का प्रमाण माँगते थे। तब श्रीदेवदत्तजी की पत्नी ने एक गो-माता की पीठ पर अपना हाथ रखा तो गाय ही वेदमंत्र बोलने लगी, यह चमत्कार देखकर ब्राह्मण विस्मित तो अवश्य ही हुये, परन्तु अभी अपने हठ पर डटे ही थे। तब श्रीदेवदत्तजी ने मन ही मन श्रीगुरुदेव श्रीआशुधीरदेवजी का स्मरण किया, श्रीआशुधीरजी तत्काल वहाँ प्रकट हो गये। श्रीदेवदत्तजी ने कहा-''तुम लोगों को जो कुछ पूछना हो वह इनसे पूछो। ये हमारे श्रीगुरुदेवजी हैं।'' परिस्थिति का अध्ययन कर श्रीआशुधीरजी ने विचारा कि इन ब्राह्मणों से शास्त्रार्थ में उलझने की अपेक्षा इन्हें युक्ति से समझाना अधिक अच्छा होगा। अतः आपने कहा कि दोनों पक्ष श्रीगंगाजी का पूजन करें, श्रीगंगाजी जिसके हाथ की पूजा प्रत्यक्ष प्रकट होकर ग्रहण करेगी उसका मत सर्वश्रेष्ठ समझा जायेगा। प्रथम श्रीदेवदत्तजी ने पूजा किया तो श्रीगंगाजी ने प्रकट होकर पूजा स्वीकार की तत्पश्चात् ब्राह्मण वेदमंत्रों से पूजा प्रारम्भ किया परन्तु श्रीगंगाजी प्रकट नहीं हुईं, अन्त में विजयश्री श्रीदेवदत्तजी की हुयी, इससे भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ, तब उन ब्राह्मणों में से आठ ब्राह्मणों ने श्रीआशुधीरजी की शरण ग्रहण की। श्रीआशुधीरजी ने इनसे कहा कि-''श्रीधाम श्रीवृन्दावन में श्रीहरिदासजी निधिवन में रहते हैं, उन्हीं के शिष्य बनो, तब कल्याण होगा। तब वे सब आकर श्रीस्वामी हरिदासजी के शिष्य हुये।

छ० ९२)

श्रीस्वामीजी के उपदेश—हरि भज हरि भज हरि भज छाँड़ि मान नर तन को। अन माँगो आगे आवेगो ज्यौं पल लागे पल को।। मति बंछै मति बंछै रे तिल तिल धन को। कहैं हरिदास मीच ज्यौं आवै त्यौं धन है आपन को।।१।। काहू को वश नाहिं तुम्हारी कृपा सौं सब होय विहारी विहारिनि। और तो मिथ्या प्रपंच काहे को भाखिये सो तो है हारिनि।। जाहि तुम सौं हित तासौं तुम हित करौं सब सुख कारिनि। श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा कुँजविहारी प्रानन के आधारिनि।।२।। तिनका बयारि के बस। ज्यौं चाहै त्यौं उड़ाय लै जाय अपने रस।। ब्रह्मलोक शिवलोक और लोक अस। कहैं श्रीहरिदास विचारि देखौ बिना विहारी नाहिं जस।।३।। हरि के नाम कौ आलस कत करत है रे काल फिरत सर साँधे। बेर कुबेर कछू नहि जानत चढ्यो फिरत नित काँधे।। हीरा बहुत जवाहर सँचे कहा भयो हस्ती दर बाँधे। कहैं श्रीहरिदास महल में बनिता बनि ठाड़ी भई एकौ न चलत जब आवत अन्त की आँधे।।४।। आपकी महिमा के सम्बन्ध में श्रीभगवतरसिकजी कहते हैं–''पावन पाणि धर्यो जब सीस किये जन के अघ ओघ नसावन। सावन ह्वै बरसैं करुना सरसैं हिय नैंन भयो मन भावन।। भावन सो वर वेगि मिल्यो भ्रम दूरि कर्यो त्रय ताप सिरावन। राव न रंक रह्यौ जब जाय धर्यौ सिर श्रीहरिदास के पावन।।''

श्रीहरिराम व्यासजी

उतकर्ष तिलक अरु दाम कौ भक्त इष्ट अति व्यास के।।
काहू के आराध्य मच्छ, कच्छ नरहरि सूकर।
वामन, फरसा धरन, सेतुबन्धन जु सैलकर।।
एकन कें यह रीति नेम नवधा सौं लाये।
सुकुल सुमोखन सुवन अच्युत गोत्री जु लड़ाये।।
नौगुण तोरि नुपूर गुह्यौ महत् सभा मधि रास के।
उतकर्ष तिलक अरु दाम कौ भक्त इष्ट अति व्यास के।।६२।।

शब्दार्थ—मच्छ=मत्स्य भगवान्। सूकर =वाराह भगवान्। फरसा धरन=परशुरामजी। सेतुबन्धन=समुद्र पर पुल बाँधने वाले श्रीराम। सैलकर=गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण। अच्युत गोत्री=वैष्णव, वैष्णवी दीक्षा प्राप्त। लड़ाये =दुलराये, प्रेम किये। नौगुण=यज्ञोपवीत।

भावार्थ—श्रीहरिरामव्यासजी भक्तों को ही अपना परमइष्ट मानते थे। इन्होंने उर्ध्वपुण्ड्र तिलक तथा तुलसी कण्ठी-माला की बड़ी महिमा गायी है। कोई-कोई

तो श्रीमत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वाराह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि अवतारों की आराधना करते हैं। एक समुदाय ऐसा है जो कि नवधा-भक्ति में ही निष्ठा रखता है, परन्तु श्रीसुमोखनशुक्लजी के सुपुत्र श्रीहरिरामजी व्यास ने तो वैष्णवों को ही प्रेमपूर्वक दुलराया आपने रासलीला के समय महत्पुरुषों की सभा में अपना यज्ञोपवीत तोड़कर उसमें श्रीप्रियाजी के पाँव का नुपूर गूँथा था।।९२।।

व्याख्या—उत्कर्ष तिलक अरु दाम कौ—देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-८७, "ये कण्ठलग्न तुलसी"।" तथा उत्तरार्द्ध प्रथमखण्ड, पृष्ठ-७०। तिलक दाम के सम्बन्ध में श्रीव्यासजी कहते हैं-"जो तू माला तिलक धरै। तौ या तन मन व्रत की लज्जा ओ निबाह करैं। करि बहु भाँति भरोसो हरिकौ भवसागर उतरै। मनसा वाचा और कर्मणा तृन करि गनत धरै। सती न फिरै घाट ऊपर ते सिर सिन्दूर परै। व्यासदास की कुँजविहारी प्रीति न कहुँ बिसरै।।" "भक्त इष्ट अति"-इसका भाव यह है कि आपके इष्ट थे ठाकुर श्रीयुगलकिशोरजी एवं भक्त परम इष्ट थे। अर्थात् भक्तों को भगवान् से भी बड़कर मानते थे, ठीक भी है-"राम ते अधिक राम कर दासा।।" (रामा०), श्रीव्यासजी की वाणी से इस तथ्य का उद्घाटन होता है। यथा- "मेरे भक्त हैं देई देऊ। भक्तनि जानौं भक्तनि मानौं निज जन मोहि बतेऊ।। माता पिता भ्रातमम भक्तै भक्त दमाद सजन बहनेऊ। सुख सम्पति परमेश्वर मेरे हरिजन जाति जनेऊ।। भवसागर को बेरो भक्तै केवट बड़ हरिखेऊ। बूड़त बहुत उबारे भक्तन लिये उबारि जरेऊ।। जिनकी महिमा कृष्ण कपिल कहि हारे सबही बेऊ। व्यासदास के प्राण जीवन धन हरिजन बाल बड़ेऊ।।" "अच्युत गोत्री जु लड़ाये"-श्रीव्यासजी भक्तों में ही भगवान् के सभी अवतारों का दर्शन करते थे। मत्स्य भगवान् ने राजा सत्यव्रत की प्रलय से रक्षा की। उसी प्रकार भक्तरूपी मत्स्य भगवान् जीवरूपी सत्यव्रत की अविद्यारूपी प्रलय से रक्षा करते हैं। मत्स्य भगवान् अनन्त जल में रहते हैं, भक्त प्रेमसिन्धु में हैं। श्रीकच्छप भगवान् समुद्र-मंथन के समय जब मन्दिराचल के आधाररूप हुये थे तभी अमृत निकाला जा सका। ठीक उसी प्रकार से वेद ही क्षीरसागर हैं। सुविचार ही मंदराचल है। सुविचार को स्थिर रखने के लिये संत ही कच्छप भगवान् हैं। भगवान् के नाम, रूप, गुण, लीलादि ही सुधा हैं। अतः भक्तों में कच्छप भगवान की भावना करते थे। नृसिंह भगवान् ने हिरण्यकशिपु को मारकर भक्त प्रहलाद की रक्षा की थी, अतः भक्तरूपी नृसिंह, अविवेकरूपी हिरण्यकशिपु को मारकर, जीवरूपी प्रहलाद की रक्षा करते हैं। भगवान् ने वाराह रूप धारण कर हिरण्याक्ष को मारकर पृथ्वी का उद्धार किया, उसी प्रकार से संतरूपी वाराह भगवान्, मोहरूपी हिरण्याक्ष को मारकर बुद्धिरूपी पृथ्वी का उद्धार करते हैं। भगवान् ने स्वयं

वामन बनकर बलि के बड़े हुये अभिमान को दूर किया। उसी प्रकार संत स्वयं नम्र होकर दूसरों के अभिमान को नष्ट करते हैं। पुनः श्रीवामन भगवान् राजा बलि की भक्ति पर रीझकर उनके वश हो गये। उसी प्रकार से संतजन भी जीवों के भक्तिभाव पर प्रसन्न होकर उनके अधीन हो जाते हैं। श्रीपरशुरामजी ने दुष्ट क्षत्रियों का संहार किया था, उसी प्रकार से भक्तरूपी परशुराम दुर्गुणों का नाश करते हैं। श्रीरामजी ने जैसे समुद्र पर सेतु बाँधा था, उसी प्रकार से भक्तजन भवसागर पर भक्तिरूपी सेतु बाँधते हैं। भगवान् श्रीकृष्णजी ने जैसे गोवर्धन पर्वत को धारणकर इन्द्र के कोप से ब्रजवासियों की रक्षा की, उसी प्रकार से संतरूपी श्रीकृष्ण प्रेमरूपी गोवर्धन (गो=इन्द्रिय, वर=श्रेष्ठ, धन=सम्पत्ति अर्थात् इन्द्रियों की श्रेष्ठ सम्पत्ति प्रेम) को धारणकर शुष्क ज्ञान रूपी इन्द्र के कोप से रसिक समुदायरूपी ब्रज की रक्षा करते हैं। श्रीहरिराम व्यासजी इसी प्रकार से ही अन्य अवतारों की भी भावना करते थे। अतः ''भक्त इष्ट अति व्यास के'' कहा। ''नौगुण तोरि नुपूर गुह्यौ''–इस कथा प्रसंग का स्पष्टीकरण आगे टीका कवित्त ३७१ में किया गया है।

नौगुण का एक अर्थ तो यज्ञोपवीत होता है, द्वितीय अर्थ नौगुण=ब्राह्मण के नव गुण। यथा–''नव गुन परम पुनीत तुम्हारे।।'' (श्रीरामजी का वचन श्रीपरशुरामजी के प्रति)। श्रीगीताजी में ब्राह्मणों के नव गुण-कर्म ये कहे गये हैं–''शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।'' (१८-४२) अर्थ–अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर-भीतर की शुद्धि, धर्म के लिए कष्ट सहन करना, क्षमाभाव, मन इन्द्रियों और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र विषयक ज्ञान और परमात्मतत्व का अनुभव, ये नव ब्राह्मण के स्वाभाविक गुण, कर्म हैं। श्रीव्यासजी ने परमधर्म प्रेम के ऊपर इन समस्त गुण-कर्मों को न्यौछावर कर दिया, यह है ''नौगुण तोरि'' का आध्यात्मिक भाव। ''महत सभा मधि''–इसका कहने का भाव यह है कि यदि नौ प्रकार के गुणों को तोड़ना अनुचित होगा, उपासना धर्म के विरुद्ध होगा तो ये विराजमान महत्पुरुष हमें रोकेंगे, परन्तु किसी ने कुछ भी नहीं कहा, इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेमधर्म ही सर्वोपरि है। श्रीस्वभूरामदेवाचार्यजी कहते हैं–''सोभू सोभा जब रहै साधू सम्मुख होइ। जनेऊ पहिरे हरि मिलैं हमहूँ पहिरैं दोइ।।''

**आये गृह त्यागि वृन्दावन अनुराग करि गयौ हियौ पागि होय न्यारो तासौं खीजियै।
राजा लैन आयो ऐपै जायबौ न भायौ श्रीकिशोर उरझायौ मन सेवा मति भीजियै।।
चीरा जरकसी सीस चीकनौ खिसिल जाय, लेहु जू बँधाय, नहीं आप बाँध लीजियै।
गये उठि कुंज, सुधि आई सुखपुंज, आये देख्यौ बँध्यौ मंजु, कही कैसें मोपै रीझियै।।३६८।।**

शब्दार्थ—चीरा=लहरियादार रंगीन लम्बा वस्त्र, पगड़ी। जरकसी =सोने के तारों से जड़ा हुआ।

भावार्थ—श्रीहरिराम व्यासजी के मन में श्रीधाम श्रीवृन्दावन के प्रति अनुराग उमड़ा तो घर छोड़कर वृन्दावन चले आये और यहाँ आने पर आपका हृदय श्रीधाम श्रीवृन्दावन के प्रति ऐसा अनुरक्त हुआ कि जो लोग श्रीवृन्दावन से बाहर जाते आप उन पर बहुत नाराज होते। ओरछा नरेश महाराज मधुकरशाह आपको लिवाने आये, परन्तु ठाकुर श्रीयुगलकिशोरजी ने आपके मन को ऐसा फंसा लिया था कि आपको यहाँ से जाना बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। आपकी बुद्धि सन्त-भगवन्त की सेवा में ही सराबोर रहती थी। एकबार आप श्रीठाकुरजी का श्रंगार कर रहे थे। श्रीठाकुरजी के सिर पर पाग बाँध रहे थे, परन्तु वह अत्यन्त चिकनी होने के कारण सिर से बार-बार खिसल जाती थी, जब कई बार बाँधने पर भी ठीक से नहीं बँधी तो आपने झुँझलाकर कहा-" अजी देखो, या तो आप मुझसे अच्छी तरह से पाग बँधा लीजिये, यदि मेरा बाँधना आपको पसन्द नहीं हो तो स्वयं ही बढ़िया से बढ़िया बाँध लीजिये। यह कहकर आप शृंगार छोड़कर कुँज में जाकर भजन-कीर्तन करने लगे। तब श्रीठाकुरजी ने ही पाग बाँध ली। किसी ने आपसे आकर कहा कि आज तो आपने श्रीठाकुरजी को बढ़िया पाग बाँधी है। यह सुनकर सुखसमूह श्रीठाकुरजी की याद आयी तो तुरन्त ही आकर देखा तो सचमुच बहुत बढ़िया पाग बँधी थी। तब मुस्कराकर बोले-"अहो! जब आप स्वयं ही इतनी बढ़िया पाग बाँधना जानते हैं, तो मुझ पर कैसे प्रसन्न हो सकते हैं अर्थात् मेरे द्वारा बाँधी पाग आपको कैसे पसन्द आ सकती है।।३६८।।

व्याख्या—आये गृह त्यागि—श्रीहरिराम व्यासजी का प्रादुर्भाव बुन्देलखण्ड की राजधानी ओरछा में वि० सं० १५६७, मार्गशीर्ष, कृष्णपक्ष, पंचमी तिथि को हुआ था। आपके पिताजी का शुभ नाम श्रीसुमोखनजी शुक्ल एवं माताजी का नाम श्रीपद्मावती देवीजी (किसी-किसी के मत से देविका देवी था। देखिये "भक्त कवि व्यास" श्रीवासुदेव गोस्वामीजी द्वारा रचित) था। रींवा नरेश महाराज श्रीरघुराज सिंहजी लिखित श्रीरामरसिकावली भक्तमाल के अनुसार श्रीव्यासजी तत्कालीन बावन राजाओं के गुरु थे। वेद, शास्त्र, पुराणादि के पारंगत विद्वान् थे, आपको श्रीसरस्वतीजी की सिद्धि थी। दिग्विजय करते हुए काशी पहुँचे। वहाँ के पण्डितों से इनका विराट् शास्त्रार्थ हुआ। इनकी अलौकिक प्रतिभा के समक्ष काशी के विद्वानों को मुँह की खानी पड़ी। श्रीव्यासजी ने बड़े समारोह के साथ भगवान् श्रीविश्वनाथजी का पूजन किया और बहुत-बहुत दान-दक्षिणा दिया। उधर काशी के सभी विद्वान् मिलकर भगवान्

श्रीविश्वनाथजी की शरण गये और प्रार्थना किये कि हमें अपने हारने की चिन्ता नहीं है, चिन्ता है काशीपुरी की पराजय की। सदा से आप काशी की मर्यादा रखते आये हैं और आज भी रखिये। ब्राह्मणों की प्रार्थना स्वीकार कर, भगवान् श्रीशिवाजी ने एक साधु का वेष धारण कर सांयकाल के समय श्रीव्यासजी के पास आये और बोले-"मैंने सुना है कि आप बहुत बड़े विद्वान् हैं, तो मेरी एक जिज्ञासा है, आप कृपा करके उसका समाधान कर दें तो बहुत अच्छा होगा।" अनुमति मिलने पर श्रीशिवजी ने पूछा-"विद्या का फल क्या है?" श्रीव्यासजी ने उत्तर दिया-"विवेक की प्राप्ति। शिव-विवेक किसको कहते हैं? व्यास-सत् असत्, परिज्ञान पूर्वक असत् का त्याग एवं सत् की स्वीकृति को ही विवेक कहते हैं।" शिव-सत् क्या है और असत् क्या है?" व्यास-ईश्वर सत्य है और जगत असत्य है। "यथा-"सत हरि भजन जगत् सब सपना।।" (रामा०) "श्रीशिवजी ने कहा-मैं आपसे एक बात और पूछता हूँ-क्या आपने विद्या पढ़कर विवेक प्राप्त कर लिया है? क्या आपको सदसत् का ज्ञान हो चुका है? क्या आपने असत् का त्यागकर सत् को स्वीकार किया है? यदि नहीं, तो आपका प्रकाण्ड पाण्डित्य व्यर्थ है, भारमात्र है। अरे, क्या विद्या का फल शास्त्रार्थ करके साधु-ब्राह्मणों को हराना, उन्हें अपमानित करना, उन्हें मृत्युतुल्य कष्ट पहुँचाना ही है? भला तुम इतने बड़े विद्वान् होकर भी अपने लक्ष्य को भूलकर महामूढ़ों का सा कार्य करते फिर रहे हो। अब से भी चेत जाओ॥ तुम तो श्रीकृष्ण की प्रिय सखी श्रीविशाखाजी के अवतार हो, अतः वाद-विवाद को छोड़कर शेष जीवन श्रीभगवद् भजन में लगाकर अपने जन्म को सफल कर लो।" इस प्रकार से श्रीशिवजी ने चेतावनी दी तो श्रीव्यासजी की आँखें खुल गईं। तत्काल दिग्विजय का विचार त्यागकर अपने घर को चले आये और विचार करने लगे कि मैं किससे वैष्णवी दीक्षा लूँ। वह भक्ति का युग था, उस समय बड़ी-बड़ी श्रीभगवद् विभूतियाँ धराधाम पर अवतीर्ण थीं, श्रीव्यासजी निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि मैं किस को गुरु बनाऊँ। इसी बीच श्रीवृन्दावन से श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी के कृपापात्र श्रीनवलदासजी भ्रमण करते हुए ओरछा आये और श्रीहरिराम व्यासजी के अतिथि हुए। प्रातःकाल ब्रह्मबेला में श्रीनवलदासजी ने यह पद गाया-

आजु अति राजत दम्पति भोर।
सुरत रंग के रस में भीने नागरि नवलकिशोर।।
अंशनि पर भुज दिये विलोकत इन्दु वदन बिबि ओर।
करत पान रसमत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर।।

छूटी लटनि लाल मन करष्यौ ये याके चितचोर।
परिरम्भन चुम्बन मिलि गावत सुर मंदर कल घोर।।
पग डगमगत चलत बन विहरत रुचिर कुँज घन खोर।
(जै श्री)हित हरिवंश लाल ललना मिलि हियो सिरावत मोर।।

यह पद सुनकर श्रीव्यासजी बड़े प्रभावित हुए और मन-ही-मन यह संकल्प किये कि अब श्रीवृन्दावन चलकर श्रीहितहरिवंशजी को गुरु बनाऊँगा। निश्चय ही उनकी कृपा से श्रीकिशोर किशोरी जू मेरे भी हृदय की जलन को शान्त करेंगे। श्रीव्यासजी का संकल्प पूर्ण हुआ। सांसारिक मोह-ममता को तृणवत् त्यागकर आप श्रीवृन्दावन चले आये और सर्वप्रथम श्रीनवलदासजी से मिले फिर उनको संग लेकर श्रीहितहरिवंशजी का दर्शन करने गये। उस समय श्रीहितजी श्रीठाकुरजी के लिए रसोई बना रहे थे। श्रीव्यासजी ने दर्शन और प्रणाम कर प्रार्थना की कि मैं आपसे कुछ शास्त्र चर्चा करूँगा। यह सुनकर पहले तो उन्होंने मना कर दिया, पुनः आग्रह करने पर श्रीहितहरिवंशजी ने बटलोई चूल्हे से नीचे उतार दी और अग्नि बुझा दी। श्रीव्यासजी कीसमझ में यह नहीं आया कि आखिर इन्होंने ऐसा क्यों किया। अरे, रसोई भी बनाते रहते और हमसे वार्ता भी करते रहते। आखिरकार इन्होंने कह ही दिया कि आपने रसोई का कार्य क्यों स्थगित कर दिया? रसोई बनाना हाथों का कार्य है और कहना-सुनना मुख एवं श्रवणेन्द्रिय का कार्य है। दोनों कार्य करने वाली इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं, अतः दोनों कार्य एक साथ भी हो सकते थे। तब श्रीहित हरिवंशजी ने कहा-

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायौ।
जहँ तहँ विदित जार जुवतीलौं प्रगट पिंगला गायौ।।
द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायौ।
कहि धौं कौन अँक पर राखै जो गनिका सुत जायौ।।
(जै श्री) हित हरिवंश प्रपंच बंच सब कालव्यालको खायौ।
यह जिय जानि स्याम स्यामा पद कमल संगि सिर नायौ।।

श्रीव्यासजी के शंका का समाधान हो गया और तुरन्त साष्टांग प्रणिपातपूर्वक श्रीहित हरिवंशजी से दीक्षा के लिए प्रार्थना किये। श्रीहित हरिवंश महाप्रभुजी ने आपको श्रीनिकुँज-उपासना की दीक्षा दी। ('भक्तकवि व्यास' नामक ग्रन्थ में श्रीवासुदेव गोस्वामीजी ने विविध ऊहापोह के बाद अपना यह निर्णय दिया है कि व्यासजी ने अपने पिता श्रीसुमोखन शुक्लजी से ही दीक्षा प्राप्त की थी)।

वृन्दावन अनुराग करि—श्रीव्यासजी की श्रीवृन्दावन के प्रति अति उत्कट उत्कण्ठा इस पद से प्रकट होती है-"हम कब होहिंगे व्रजवासी। ठाकुर नन्दकिशोर हमारे ठकुराइन राधा सी।। कब मिलि हैं वे सखी सहेली हरिवंशी हरिदासी। वंशीवट की सीतल छैयाँ सुभग नदी जमुना सी।। जाको वैभव करत लालसा करमीड़त कमला सी। इतनी आस व्यास की पुजवहुँ वृन्दाविपिन विलासी।।" "गयौ हियौ पागि"-श्रीवृन्दावन में श्रीव्यासजी का मन ऐसा लगा कि एक बार आकर पुनः लाख प्रयत्न करने पर भी श्रीवृन्दावन छोड़कर बाहर नहीं गये। देखिये आगे "राजा लैन आयो" की व्याख्या। "होय न्यारो तासौं खीजियै"-श्रीवृन्दावन से से बाहर जाने वालों पर श्रीव्यासजी बहुत नाराज होते थे। यथा—श्रीवृन्दावन के रूख हमारे मातु पिता सुत बन्धु। गुरु गोविन्द साधु गति मति सुख फल फूलन कौ गन्ध।। इनहिं पीठि दै अनत दीठि करै सो अंधनि में अन्ध। व्यास इन्हें छोड़ै रू छुड़ावै ताको परै निकन्ध।। एक अन्य पद में आप कहते हैं—सुधार्‍यो हरि मेरो परलोक। श्रीवृन्दावन में कीन्हौं दीन्हौं हरि अपनो निज ओक।। माता को सो हेत कियो हरि जानि आपनौ तोक। चरन धूरि मेरे सिर मेली और सबन दै रोक।। ते नर राकस कूकर गदहा ऊँट वृषभ गज बोक। व्यास जे वृन्दावन तजि भटकत ता सिर पनहीं ठोक।।"

राजा लैन आयो—प्रथम तो इनके कुल-कुटुम्ब के लोग ही इनको लिवाने के लिए आये। बहुत समझाने-बुझाने पर भी जब कुटुम्ब वाले नहीं माने तो ये स्नान का मिस बनाकर श्रीयमुना तट पर चले आये। परन्तु वे लोग भी सहज पीछा छोड़ने वाले नहीं थे। वे भी पीछे-पीछे यमुना तट पर चले गये। वहाँ भी पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ। श्रीव्यासजी अपने निश्चय पर अडिग बने रहे। राजभोग का समय जानकर श्रीव्यासजी पुनः स्थान पर लौटे तो पता चला कि साधुओं की पंक्ति हो चुकी है। इनको बहुत ही पश्चाताप हुआ कि इन संसारियों के पीछे आज प्रसाद से भी वंचित रहा। तब तक इनकी दृष्टि द्वार पर बैठी भंगिन पर पड़ी। वह अपनी टोकरी में सन्तोंकी सीथ-प्रसादी लिए बैठी थी। प्रसाद की महिमा को याथार्थ्येन जानने वाले श्रीव्यासजी तुरन्त भंगिन के पास जाकर बोले-"माताजी! आज मैं सन्तों की सीथ-प्रसादी नहीं पा सका यदि तुम कहो तो मैं तुम्हारी टोकरी से किनका प्रसाद ले लूँ।" भंगिन ने प्रथम तो अपनी हीनता विचारकर बहुत हा हा खाई कि "महाराज! आप इतने बड़े महापुरुष होकर भला यह कैसी बात कर रहे हैं?" परन्तु जब इन्होंने विशेष आग्रह किया तो उसने कह दिया कि यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो ले लीजिये। फिर तो इन्होंने समस्त कुटुम्बियों के देखते-देखते उस टोकरी में से एक पकौड़ी निकाली और श्रीभगवत्प्रसाद पुनः सन्त-सीथ का माहात्म्य स्मरण करते हुए उसे पा गये। यह देखकर कुटुम्ब के लोग नाक भौंह सिकोड़ने लगे कि इन्होंने भंगी का छुआ खा

लिया अतः अब तो यह हम लोगों की पंक्ति में बैठने लायक नहीं रह गये। बस सबके सब तुरन्त वहाँ से उल्टे पाँव चल दिए। प्रभु कृपा से एक पकौड़ी से ही श्रीव्यासजी का संसार छूट गया। इस पर-

दृष्टान्त—दो सन्तों का—संसार की चकाचौंध से एकदम मुँह मोड़कर दो सन्त श्रीगीताजी के ''विविक्त देशसेवित्वमरतिर्जन संसदि'' का स्मरणकर एकान्त वन में रहकर भजन करते थे। थोड़े ही दिनों में इनकी अत्यन्त प्रसिद्धि हो गयी। इनके तप, त्याग, वैराग्य, अनुराग से आकृष्ट होकर तत्कालीन राजा इनके दर्शनार्थ आये। राजा के पहुँचने से पहले ही किसी ने सन्तों को जना दिया कि राजासाहब आपके दर्शनों के लिए आ रहे हैं। सन्तों ने विचार किया कि अब तक तो साधारण लोगों के आवागमन से ही पर्याप्त प्रसिद्धि हो गई है। यदि कहीं राजा के आगमन की बात चारों ओर फैलेगी तो लोग और भी अधिक आने-जाने लगेंगे। भजन में बाधा होगी। अतः दोनों सन्त आपस में सलाहकर लोक मान्यता से बचने के लिए जब राजा कुटी से कुछ ही दूर रह गया था, तो उसे देखकर एवं उसे दिखाते हुये आपस में झगड़ने लगे। झगड़ा किसी और बात का नहीं, रोटियों का था। आधी रोटी को लेकर दोनों लड़ रहे थे, कि इसे मैं लूँगा, इसे मैं लूँगा। राजा दूर से ही खड़े होकर इनका तमाशा देखने लगे। फिर राजा ने सोचा कि जब ये आधी रोटी के लिए इतना कलह कर रहे हैं तो भला ये काहे के सिद्ध, काहे के प्रसिद्ध। अरे लोगों ने झूठी प्रशंसा फैला रखी है। ये तो कोई भुक्खड़ मालूम पड़ते हैं। बस, दूर से ही राजा इन लोगों को देखकर लौट गया। राजा को लौटता देखकर सन्तों ने झगड़ा बन्द कर दिया और बोले—''देखो, केवल आधी रोटी से ही राजा को भगा दिया।'' ऐसे ही श्रीव्यासजी ने एक पकौड़ी से संसार को भगा दिया। फिर तो श्रीव्यासजी पाँव में नूपुर बाँधकर श्रीराधावल्लभलालजी के सामने नृत्य किया और यह दोहा गाया—''श्रीराधावल्ल्भ कारने, सह्यो जगत उपहास। वृन्दावन के श्वपच की, जूठन खाई व्यास।।''

राजा लैन आयौ—जब कुल कुटुम्ब के लोग श्रीव्यासजी को लौटा ले जाने में विफल हो गये, तब स्वयं ओरछा नरेश महाराजा श्रीमधुकरशाहजी इन्हें लिवाने आये। राजा ने पता लगाया कि श्रीव्यासजी सर्वाधिक श्रीहितहरिवंशजी से प्रभावित हैं। अतः वे सीधे श्रीहितहरिवंशजी के पास गये और अत्यन्त विनम्रतापूर्वक बोले-''महाराज! मेरी एक जिज्ञासा है, आप कृपा करके उसका समाधान कर दीजिए। मैं यह जानना चाहता हूँ कि केवल आत्म-कल्याण मात्र करना श्रेष्ठ है या कि अपने साथ-साथ लोककल्याण करना श्रेष्ठ है।'' श्रीहितहरिवंशजी ने सहज भाव से उत्तर दिया—''प्रथमपक्ष की अपेक्षा द्वितीय

छ० १२, क० ३६८)

पक्ष श्रेष्ठ है।'' तब श्रीमधुकरशाहजी ने कहा-''हमारे श्रीगुरुदेव श्रीव्यासजी यदि यहाँ रहते हैं तो केवल आत्मश्रेय सम्पादन करेंगे और यदि ओरछा में विराजते हैं तो इनके साथ-साथ सम्पूर्ण देशवासियों का कल्याण होगा। इनके द्वारा हमारे यहाँ भक्ति का प्रचुर प्रचार हुआ है और होगा, अतः आप इन्हें आज्ञा दीजिये कि ये वहीं चलकर स्वयं भक्ति साधन करते हुए अपने सदुपदेशों से लोक का कल्याण करें।'' श्रीहितहरिवंशजी ने हामी भर ली। श्रीव्यासजी उस समय कहीं अन्यत्र थे। एक सन्त श्रीमधुकरशाहजी एवं श्रीहितहरिवंशजी की वार्ता सुन रहे थे। उन्होंने श्रीव्यासजी से जाकर कह दिया कि राजा ने श्रीहितमहाप्रभुजी को राजी कर लिया है, अब वे आपको राजा के साथ ओरछा जाने की आज्ञा देंगे। श्रीव्यासजी विचार में पड़ गये कि यदि श्रीगुरुदेवजी की आज्ञा होगी तो उसे मानना ही पड़ेगा। बस इतने से ही इन्हें श्रीवृन्दावन को वियोग-व्याप गया। ये मुँह में कालिख पोतकर विलाप करते हुए दौड़-दौड़कर वृन्दावन के सभी वृक्षों और लताओं से लिपट जाते और रो-रोकर कहते-''आप ही लोग तो मेरे माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्ब-परिवार हैं। (यथा-श्रीवृन्दावन के रूख हमारे मातु पिता सुत बन्धु।) अब आप लोगों से मेरा साथ छूट रहा है। इस प्रकार से जैसे लोग विदा के समय अपने इष्ट-मित्रों से मिलते हैं वैसे ही ये सभी वृक्ष-लताओं से मिल रहे थे। किसी ने इनकी प्रेम-विह्वलता जाकर श्रीहित हरिवंश गोसाईंजी से कह दी। इनकी इस की प्रबलधाम निष्ठा को देखकर श्रीहितमहाप्रभुजी बड़े प्रसन्न हुए और तुरन्त इन्हें अपने पास बुलवाए तथा मुक्तहृदय से शुभाशीर्वाद दिए कि यदि आपका श्रीधाम के प्रति ऐसा दृढ़ अनुराग है तो मैं आशीर्वाद देता हूँ-''आप अविचल श्रीवृन्दावन वास करें।'

श्रीमधुकरशाहजी इन महापुरुषों की चरणवन्दना कर ओरछा लौट आए। तब श्रीव्यासजी की चिन्ता मिटी। श्रीहित हरिवंशजी ने पूछा-''मुँह में कालिख क्यों पोत लिए?'' इन्होंने कहा-''संसार का परित्याग कर श्रीधाम में आने से मुख उज्ज्वल होता है और श्रीधाम छोड़कर पुनः संसार में जाने से मुख काला ही तो होगा, अतः मैंने पहले से ही कालिख पोत लिया था।'' जब यह निश्चय हो गया कि श्रीव्यासजी अब ओरछा नहीं आयेंगे तो इनकी पत्नी, तीन पुत्र, एक पुत्री यह पूरा परिवार घर की यथासम्भव सब सम्पत्ति लेकर श्रीवृन्दावन चला आया। प्रथम तो श्रीव्यासजी इन्हें अपने पास नहीं रखना चाहते थे, परन्तु जब श्रीहित हरिवंशजी ने समझाया कि आप चिन्ता न करें, इनके द्वारा आपके भजन में कोई विक्षेप नहीं पड़ेगा बल्कि सहायता ही मिलेगी, तब समीप रहने की स्वीकृति दी। सबको यथायोग्य सन्त-भगवन्त की सेवा सौंप दी।

सन्त सुख दैन बैठे संगही प्रसाद लैन परोसति तिया सब भाँतिन प्रवीन है।
दूध बरताई लै मलाई छिटकाई निज खीझि उठे जानि पति पोषति नवीन है।।
सेवा सों छुटाय दई अति अन मनी भई गई भूख बीते दिन तीन तन छीन है।
सब समझावैं तब दण्ड को मनावैं अंग आभरन बेंचि साधु जेंवैं यों अधीन है।।३६१।।

शब्दार्थ—अनमनी=खिन्न, उदास।

भावार्थ—सन्तों को सुख देन वाले श्रीव्यासजी सन्तों के आग्रह पर सन्तों को सुख देने के लिए सन्तों के साथ ही प्रसाद पाने बैठे। सब प्रकार से सेवा में प्रवीण आपकी पत्नी परोस रही थीं। दूध परोसते समय इन्होंने मलाई अपने पति के कटोरे में गिरा दिया। इससे श्रीव्यासजी बड़े ही नाराज हुये। आप समझ गये कि यह मुझमें पतिबुद्धि करके मेरा पोषण कर रही है, मुझे नया छोकरा बनाना चाहती है। यह नई बात इसने की है। फिर तो श्रीव्यासजी ने पत्नी को सेवा से अलग कर दिया। इससे वे बहुत उदास एवं खेद-खिन्न हो गईं। उनकी भूख-प्यास जाती रही। तीन दिन बिना खाये-पीये व्यतीत हो गये। शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया। तब सन्तों ने श्रीव्यासजी को बहुत समझाया। तब आपने पत्नी के लिए यह दण्ड निश्चित किया कि यदि वह अपने समस्त आभूषण बेंचकर सन्तों का भण्डारा कर दें तब तो सेवा में आ सकती हैं, अन्यथा नहीं। पत्नी ने ऐसा ही किया। तब उन्हें पुनः सेवा प्राप्त हो गई।।३६१।।

व्याख्या-सन्त सुख दैन-छप्पय में कहा जा चुका है कि श्रीव्यासजी सन्तों को अपना अतिइष्ट मानते थे। अतः सब प्रकार से सन्तों को सुख देने का प्रयत्न करते थे। सन्तों की सेवा से श्रीव्यासजी को परमसुख प्राप्त होता था। यथा-"जो सुख होत भक्त घर आयैं। सो सुख होत नहीं बहु संपति बाँझहिं बेटा जायैं।। जो सुख भक्तन कौ चरणोदक पीवत गात लगायैं।। सो सुख सपनेहूँ नहिं पैयत कोटिक तीरथ न्हायैं।। जो सुख भक्तन को मुख देखत उपजत दुख बिसरायैं। सो सुख होत न कामिहि कबहूँ कामिनि उर लपटायैं।। जो सुख होत भक्त वचननि सुनि नैंनन नीर बहायैं। सो सुख कबहूँ न पैयत पितु घर पूत को पूत खिलायैं।। जो सुख होत मिलत साधुन कैं छिन छिन रंग बढ़ायैं। सो सुख होत न रंक व्यास को लंक सुमेरहिं पायैं।।" "खीझि उठे"- उस समय श्रीव्यासजी ने यह पद गाया था-"जो तिय होइ न हरिकी दासी। कीजै कहा रूप गुन सुन्दर नाहिन स्याम उपासी।। सो दासी गनिका सम जानौं दुष्ट रांड़ मसवासी। निसिदिन अपनो अंजनमंजन करत विषयकी रासी।। परमारथ सुपनेहुँ नहिं जानत अन्त बँधी जम फांसी। ताके संगरंग पति जैहैं ताते भले उदासी।।

साकत नारि जु घर में राखै निश्चय नर्क निवासी। जिहि घर साधु न आवत कबहूँ गुरु गोविन्द मिलासी।। हरि कौ नाम लेत नहिं कबहूँ याही ते सब नासी। व्यासदास सोई पै कीजै मिटै जगत् की हांसी।।''

अँग आभरन बेंचि साधु जेवैं—श्रीव्यासजी ने आभूषण बेचकर सन्तों का भण्डारा करने को इसलिये कहा था कि इनकी पत्नी का गहनों में बड़ा मोह था तथा राजगुरु की पत्नी होने से गहने भी उनके पास बहुत थे। ये समय-समय पर उन गहनों को धारण भी करती थीं। श्रीव्यासजी को यह बात बहुत खटकती थी, ये तो श्रीव्रजरज से अपना अभिषेक करते थे और पत्नी हीरा-जवाहरात जड़े आभूषण पहनती थी। भला यह इन्हें कैसे अच्छा लगता? इनकी दृष्टि में तो 'आभरण नाम हरि साधु-सेवा कर्णफूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये।' यही आभूषण उपयुक्त हैं। अत: दण्ड विधान में आभूषणों को बेचकर भण्डारा कर देने को कहा। जिससे कि ''न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी'' इस पर-

दृष्टान्त—बाबा श्रीगोपालदासजी का—श्रीगोपालदासजी परम वयोवृद्ध सन्त थे। श्रीलालाबाबूजी के मन्दिर में कथा कहते थे। वृद्ध होने के कारण आँख से सूझता कम था अत: पोथी का पाठ कोई दूसरा करता और अर्थ-भावार्थ स्वयं कहते। आपकी कथा की बड़ी प्रसिद्धि थी। दूर-दूर से रसिक श्रोता कथा सुनने आते थे। उन दिनों श्रीलालाबाबूजी के मंदिर के मैनेजर थे श्रीहंसरायजी। वे लखनऊ के रहने वाले थे तथा उस समय वे सपत्नीक श्रीबाँकेबिहारीजी के मुहल्ले में रहते थे। दिन में आकर मंदिर का कार्य करते थे। एक दिन किसी ने उनकी पत्नी से कथा की बात कही तो वे भी नित्य प्रति कथा में आने लगीं, परन्तु चूँकि वह थीं लखनऊ की रहने वाली, अत: खूब शृङ्गार करके, सज-धज कर कथा में आतीं थीं। लखनऊ शहर अपनी शौकीनी के लिये प्रसिद्ध है। दूसरी बात यह भी थी कि वह प्राय: कथा प्रारम्भ होने पर ही आभूषणों की रुन-झुन करती हुईं आती थीं। इससे श्रोताओं को विघ्न होता था। बाबा श्रीगोपालदासजी का भी ध्यान बँट जाता था। एक दिन बाबा ने पूछा तो लोगों ने उनका परिचय दिया। फिर तो दूसरे दिन जब वह पूर्ववत् आईं तो बाबा ने प्रसङ्ग घुमा-फिराकर कहा—''गहने बेचो साधु जिमावो यह तन दुख को भांड़ो। जनम जनम गदहिया ह्वै हौ राम भजौरी राँडौ।।'' यह सुनकर कोई-कोई तुनकमिजाजनी स्त्रियाँ तो बोल पड़ीं कि बाबा कथा कहने बैठे हो कि गाली देने। परन्तु वह बाईजी तो श्रीबाबाजी के इन वचनों से बड़ी प्रभावित हुईं और उसी समय उन्होंने संकल्प कर लिया कि इन सब संसारी वस्तुओं का परित्याग कर इन बाबा से ही विरक्त दीक्षा लूंगी। अपने निश्चय के अनुसार उन्होंने बाबा से आखिर विरक्त दीक्षा ले ही ली। श्रीबाबाजी ने

उनका नाम रखा श्रीगोपालीबाई और श्रीगोवर्धन में निवास कर भजन करने की आज्ञा दी। पत्नी की प्रेरणा तथा श्रीभगवत्कृपा से श्रीहंसरायजी ने भी बाबा से विरक्त दीक्षा ले लिया। बाबा ने उनकानाम रखा हंसदासजी और बरसाने वास की आज्ञा दी। यह दोनों ही परम सिद्ध सन्त हुये। इसी प्रकार श्रीव्यासजी की प्रेरणा से पत्नी ने अपने समस्त आभूषण बेचकर संतों का बृहद् भण्डारा किया। उस समय उनके गहने बीस हजार में बिके थे। श्रीव्यासजी ने पुनः उन्हें सेवा का अधिकार प्रदान कर दिया और उद्‌बोधनस्वरूप यह पद कहा—

विनती सुनिये वैष्णवदासी।
जा शरीरमें बसत निरन्तर नरक व्याधि पित खाँसी।।
ताहि भुलाय हरिहिं दृढ़ गहियौ हँसत संग सुख रासी।
बढ़ै सुहाग ताहि मन दीने और बराक बिसासी।।
ताहि छाँड़ि हित करौ और सौं गरै परै जम फाँसी।
दीपक हाथ परै कूवांमें करै जगत सब हाँसी।।
सर्बोपरि राधापति सों रति करत अनन्य विलासी।
तिनकी पद रज सरन व्यासको गति वृन्दावन वासी।।

सुता कौ विवाह भयौ बड़ौ उत्साह कियौ नाना पकवान सब नीके बनिआये हैं।
भक्तनि की सुधि करी खरी अरबरी मति भावना करत भोग सुखद लगाये हैं।।
आय गये साधु सो बुलाय कही पावैं जाय पोटनि बंधाय चाय कुंजनि पठाये हैं।
बंसी पहिराई द्विज भक्ति लै दृढ़ाई सन्त संपुट मैं चिरैया दै हित सों बसाये हैं।।३७०।।

शब्दार्थ—सम्पुट=श्रीठाकुरजी को पधारने का डिब्बा।

भावार्थ—जब आपकी पुत्री का विवाह हुआ, उस समय घरवालों (पत्नी, पुत्रों) ने बड़े उत्साह के साथ सब कार्य किया। बारातियों के स्वागतार्थ अनेकानेक प्रकार के पक्वान्न बने थे और सबके सब बहुत बढ़िया बने थे। सुन्दर सामान देखकर श्रीहरिरामव्यासजी ने सन्त-वैष्णवों की याद की अर्थात् यह सामान तो वैष्णवों के पाने योग्य है, यह विचार कर इनकी बुद्धि विकल हो गई कि इसे कैसे वैष्णवों को पवाया जाय। फिर तो इन्होंने भावना में ही उन वस्तुओं का भगवान को अच्छी प्रकार से भोग लगाया और अपने किसी अन्तरंग अनुचर द्वारा संतों को बुलवाया। जब संतजन आ गये तो इन्होंने उन्हें सामानों की पोटली बँधवा दीं और कहा कि अपनी-अपनी कुञ्जों में जाकर पावो। इस प्रकार सन्तों को सामान देकर कुंजों

में भेजा। आपने श्रीठाकुरजी को वंशी धारण करायी, एक ब्राह्मण को भक्ति में दृढ़ किया। एक सन्त के सम्पुट में श्रीठाकुरजी की जगह पर चिड़िया बन्द करके दे दी, फिर आने पर सुखपूर्वक उन्हें श्रीवृन्दावन में बसाया।।३७०।।

व्याख्या-सुता०—उसका नाम रत्नाबाई था। 'आय गये साधु'—बारात के आने पर जब सब लोग अगवानी करने चले गये तो इन्होंने मौका देखकर सन्तों को बुलाकर भण्डार-गृह का ताला खोलकर सब सामान सन्तों को दे दिया। केवल चूर-चार कुछ बच रहा था। जब बारात के स्वागत के लिये भण्डार-गृह खोला गया तो वहाँ सामान नदारत था। पत्नी, पुत्रादिकों को बड़ा दु:ख हुआ। जान तो वे लोग गये कि यह सब इन्हीं की करतूति है परन्तु कुछ कह नहीं सकते थे। मन ही मन झुंझला रहे थे, क्योंकि प्रतिष्ठा का प्रश्न था। श्रीव्यासजी ने कहा-"चिन्ता क्यों करते हो? अरे, मिठाई नहीं है तो दाल-भात, पूरी-साग बारातियों को खिला दो।" तत्पश्चात् परिवार वालों को दु:खी देखकर श्रीव्यासजी ने पुन: कहा कि-"भला जहाँ संतों की सेवा होती है, वहाँ कभी कोई वस्तु रिक्त हो सकती है क्या? तुम लोग पुन: जाकर देखो तो, श्रीश्रीजी की कृपा से भण्डार भरा पूरा मिलेगा। बात सत्य निकली। भण्डार घर में अपार सामग्री भरी थी। खूब डटकर बारातियों का स्वागत-सत्कार किया गया। फिर वैदिक विधि से विवाह कार्य सम्पन्न हुआ। उस समय श्रीव्यासजी ने यह पद गाया था-"मरें वे जिन मेरे घर गनेस पुजायौ। जे पदारथ संतन के काजे ते सारे सकत न ने खायौ।। व्यासदास कन्या पेटहिं क्यों न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायौ।।" कहते हैं कि व्याह के बाद जब कन्या विदा होकर ससुराल जाने लगी तो पिता को प्रणाम करने गई। श्रीव्यासजी उसे श्रीवृन्दावन से बाहर जाती हुई जानकर उपदेश दिये कि-"तुम श्रीधाम क्यों छोड़ रही हो, अरे, इन वस्त्राभूषणों को बेंचकर श्रीवृन्दावन वास करो।" पुत्री को पिता का उपदेश लग गया। उसने व्याह के समस्त वस्त्राभूषण उतार दिये और एक सादी धोती पहनकर प्रतिज्ञा की कि मैं आजीवन श्रीवृन्दावन से बाहर पांव नहीं धरूँगी। फिर उसने जीवन भर इस प्रण को निभाया। एक बार समधीजी आये, उनका बड़ा सत्कार हो रहा था और सन्त-वैष्णवों को अलग एवं दूर बैठाकर उनका सामान्य सत्कार हो रहा था। उस समय आपने यह पद गाया-"हरि भक्तन तें समधी प्यारे। आये सन्त दूर बैठारौ फोरत कान हमारे।। दूर देस तें सारे आये ते घर में बैठारे। उत्तम पलिका सौर सुपैती भोजन बहुत सँवारे।। भक्तन को दै चून चना को इनकौं सिलवट न्यारे। व्यासदास ऐसे विमुखनि जम सदा कढ़ेरत हारे।।"

बंसी पहिराई—एकबार एक सेवक श्रीठाकुरजी के लिए स्वर्ण की वंशी लाया। ये बड़े प्रेम से वंशी धारण करा रहे थे। कठिनाई यह थी कि वंशी कुछ मोटी थी, अँगुलियों में धारण करने की जगह कुछ कम थी। इन्होंने तनिक जोर लगाया तो श्रीठाकुरजी के कर-कमल की कोमल अँगुली छिल गई। रक्त बह आया। यह देखकर श्रीव्यासजी का भावुक हृदय हहर उठा। आपने तत्काल वंशी को अलग रख दिया और गीले कपड़े की पट्टी श्रीठाकुरजी की अँगुली में बाँधी। पूरे दिन अनमने से रहे। पश्चात्ताप इस बात का था कि प्रभु मुरली भी नहीं धारण कर पाये और अँगुली भी छिल गई। सायंकाल को जब श्रीठाकुरजी का दर्शन करने गये तो देखे कि श्रीप्रभु स्वयं मुरली धारण कर रक्खे हैं। आप भाव-विभोर होकर श्रीप्रभु के श्रीचरण-कमलों में पड़ गये और श्रीप्रभु ने इन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया।

द्विज भक्ति लै दृढ़ाई—ओरछा निवासी एक ब्राह्मण सिपाही ने श्रीव्यासजी की कथा सुनी तो उसके मन में इनके दर्शन की इच्छा हुई। वह श्रीवृन्दावन आया। श्रीव्यासजी ने उसे प्रसाद पाने को कहा तो उसने यह विचारकर कि हम कर्मकाण्डी ब्राह्मण हैं और इन्होंने भंगिन की छुई हुई पकौड़ी खाली है अतः जाति से भ्रष्ट हो गये हैं, अतः इनका छुआ हुआ खाना ठीक नहीं है, प्रसाद पाने से इन्कार कर दिया और स्वयं अपने हाथों से भोजन बनाने को कहा। श्रीव्यासजी ने सहर्ष उसे सीधा सामान दे दिया। वह जब भोजन बना चुका तो इन्होंने चमड़े के जूते में घी भरकर भेजवाया। उसने ले जाकर चौके में रख दिया। यह देखकर वह ब्राह्मण अत्यन्त आगबबूला हो गया, तब श्रीव्यासजी ने बड़ी शान्तिपूर्वक उसे समझाया कि तुमने जिससे जल भरकर रसोई बनाई है, वह डोल भी तो चमड़े का ही है। यदि तुम उसे शुद्ध मानते हो तो उसकी अपेक्षा यह पनहियाँ तो लाख गुनी शुद्ध है। क्योंकि यह सदा-सर्वदा श्रीव्रजरज एवं सन्त पद रज से अभिषिक्त रहती है। श्रीव्रजरज और सन्त पदरज की अनन्त महिमा है। यह सुनकर ब्राह्मण की आँखें खुलीं। उसने इनके चरणों में पड़कर अपराध के लिए क्षमा प्रार्थना किया और माँगकर भगवत्प्रसाद पाया। श्रीव्यासजी ने कृपा करके उसे परम भक्त बना दिया।

सन्त सम्पुट में चिरैया—एक सन्त तीर्थयात्रा करते हुए श्रीवृन्दावन आए और श्रीव्यासजी के पास रुके। वे बड़े अनुरागी थे तथा अत्यन्त अनुरागपूर्वक परम सुमधुर स्वर से कीर्तन करते थे। इससे भी व्यासजी को तथा अन्य सन्तों को भी बहुत सुख मिलता था। कुछ दिन रहने के बाद जब वे पुनः तीर्थ पर्यटन के लिए जाने की आज्ञा माँगने लगे तो उन्हें श्रीव्यासजी ने रोक लिया। कल-परसो, अमावस्या,पूनो, दशहरा दीवाली, कहते-कहते वर्षों बीत गया। सन्तजी जब-जब जाने को कहते तब-तब श्रीव्यासजी कोई न कोई बहाना बता देते। अन्त में एक दिन

सन्तजी ने निश्चय कर लिया कि अब तो मैं चला ही जाऊँगा। अत: प्रात:काल उठकर श्रीव्यासजी से अपना श्रीठाकुर बटुआ माँगे। श्रीव्यासजी समझ गये कि सन्त जाने पर ही तुले हैं। अत: प्रथम तो यह कहा कि अच्छा, जाना ही है तो स्नान, ध्यान, पूजा-पाठ कर लीजिये तब जाना। सन्तजी ने कहा-"हम कहीं आगे जाकर सब कर लेंगे। आप तो कृपा करके मेरे श्रीठाकुरजी को दे दीजिये।" तब श्रीव्यासजी ने कुञ्ज में से एक चिरैया पकड़कर सम्पुट में बन्द करके दे दिया। संतजी अपना आसन उठाए, श्रीठाकुर बटुआ गले में लटकाये भतरोंड़ जाकर स्नानादि किये। तत्पश्चात् जब श्रीठाकुरजी की सेवा के लिये सम्पुट खोले तो उसमें की बंद चिरैया फुर्र से उड़ गयी और वह उड़ी भी श्रीवृन्दावन की ही ओर। संत के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे मन में विचार करने लगे कि अहो! जान पड़ता है कि मेरे श्रीठाकुरजी श्रीवृन्दावन छोड़कर जाना नहीं चाहते हैं। तभी तो चिड़िया बनकर उड़ गये। निश्चय ही हमसे बड़ी भारी भूल हुई। प्रभो! यदि आपकी नहीं जाने की इच्छा थी तो आपने पहले ही क्यों नहीं कह दिया? श्रीव्यासजी की बात मान लेता। आपको मेरे कारण इतना कष्ट हुआ। क्षमा करना प्रभो! यह कहते हुए मन ही मन पछताते हुये संतजी लौटकर पुन: श्रीव्यासजी के पास आये और गद्‌गद होकर समस्त वृतान्त कहे। श्रीव्यासजी ने मुस्कुराकर कहा-"संतजी! आपके श्रीठाकुरजी की मेरे ठाकुर श्रीयुगलकिशोरजी से प्रीति हो गई है। नित्य एक स्थान पर रहने से वह प्रेम और भी परिपक्व हो गया है। अब आप हठ करके श्रीठाकुरजी से ठाकुर को अलग करना चाहते हैं, यह अच्छा नहीं है। अच्छा, मैं देखता हूँ, आपके श्रीठाकुरजी यहीं आये हैं कि कहीं और चले गए। फिर व्यासजी हाथ में इनके श्रीशालग्राम भगवान को लेकर आए और दिखाते हुए बोले कि-"देखिये, यही आपके श्रीठाकुरजी हैं न? संतजी ने पहचानकर कहा-हाँ महाराज, यही मेरे श्रीठाकुरजी हैं। श्रीव्यासजी ने कहा- अब इन्हें यहाँ से कहीं नहीं ले जाना और आप भी कहीं अन्यत्र जाने-आने का विचार नहीं करना। संतजी ने श्रीव्यासजी की बात मानकर वहीं रहने लगे। परन्तु उनके मन में यह बात गूंजती रहती कि श्रीठाकुरजी चिड़िया बनकर कैसे उड़ आये? आखिर एक दिन संतजी के विचार में आया कि कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि श्रीव्यासजी ने हमारे श्रीठाकुरजी को रख लिया हो और चिड़िया पकड़कर सम्पुट में बन्द कर दिया हो। सन्देह दृढ़ होने पर संतजी ने श्रीव्यासजी से पूछ ही दिया। तब श्रीव्यासजी ने हँसकर कहा-"महाराज! आपका कीर्तन हमारे श्रीठाकुरजी को, हमको एवं अन्य संतों को भी बहुत अच्छा लगता है। अत: आपको रोकने के लिये मैंने ही यह युक्ति की थी।" संतजी भी हँस गये और व्यासजी का प्रेम देखकर आजीवन श्रीवृन्दावन वास का संकल्प कर लिये।

सरद उज्यारी रास रच्यौ पिया प्यारी तामें रंग बढ़्यौ भारी कैसे कहिकै सुनाइयै।
पिया अति गति लई बीजुरी सी कौंधि गई चकचौंधी भई छबि मण्डल में छाइयै।।
नूपुर सो टूटि छूटि पर्‌यौ अरबर्‌यौ मन तोरिकै जनेऊ कर्‌यौ वाही भांति भाइयै।
सकल समाज में यौं कह्यौ आज काम आयौ ढोयो हौं जनम ताकी बात जिय आइयै।।३७१।।

शब्दार्थ—सरद उज्यारी=शरद् पूर्णिमा, क्वार मास की पूनो। गति=नृत्य की लहर, चाल।।

भावार्थ—एकबार शरद्पूर्णिमा की प्रकाशमयी रात्रि के समय श्रीप्रिया-प्रियतम ने रास रचाया। (लीला स्वरूपों के द्वारा रासलीलानुकरण हो रहा था) उसमें महान आनन्द का प्रवाह उमड़ा, उसे कौन वर्णन कर सकता है? नृत्य के प्रसंग में जब श्रीप्रियाजी ने भावावेश में आकर गति ली, तो रासमण्डल में मानो बिजली सी चमक गई, सबके नेत्रों में चकाचौंधी छा गयी तथा मण्डल में परम शोभा छा गई। तब तक श्रीप्रियाजी के पाँव का नुपूर टूट गया, उसके घुंघुरू बिखर गये। यह देखकर रसिकों का मन बेचैन हो गया, परन्तु उसी क्षण श्रीव्यासजी ने अपना यज्ञोपवीत तोड़कर उसी में नुपूर को पुनः पूर्ववत् पोहकर बड़ी सावधानीपूर्वक श्रीप्रियाजी के श्रीचरणों में बाँध दिया। जिससे कि नृत्य में कोई भी व्यवधान नहीं आने पाया। श्रीव्यासजी का यह कार्य सबके मन को अत्यन्त भाया। फिर उस भरी सभा में श्रीव्यासजी ने इस प्रकार कहा-अहो! इसे मैंने जन्म भर ढोया था, आज यह काम आ गया अर्थात् इसका ढोना सफल हो गया। श्रीव्यासजी की यह बात मेरे हृदय में बैठ गई है।।३७१।।

व्याख्या—छप्पय में वर्णित ''नौगुण तोरि नूपुर गुह्यौ महत सभा मधि रासके'' की टीका करते हुये श्रीप्रियादासजी कहते हैं-''सरद उज्यारी...।'' यह प्रसंग टीकाकार के हृदय को अत्यन्त भाता है और हृदय में बैठ गया। कारण कि इसमें प्रेमा भक्ति को समस्त कर्म-धर्मों से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है। ब्राह्मण के लिये यज्ञोपवीत धारण करना धर्म है और यज्ञोपवीत तोड़कर उसमें नूपुर पोहना प्रेमाभक्ति है, परम धर्म है, धर्म का प्राण है। इसके बिना धर्म निष्प्राण है। यथा-''सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।। जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू।।'' (रामा०) कर्म-धर्मादि साधन हैं और भक्ति फल है। यथा-''जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरिभक्ति भवानी।।'' (रामा०) श्रीव्यासजी के इस तात्पर्य को जानकर रसिकसमाज बहुत प्रसन्न हुआ। ''सकल समाज में यों कह्यो'' -इसलिये कि यदि मेरा यह कार्य अनुचित होगा तो कोई न कोई महानुभाव अवश्यमेव मुझे टोकेंगे, रोकेंगे। परन्तु किसी ने कुछ टोका-रोका नहीं, बल्कि इनकी

सराहना ही की। इससे सिद्ध होता है कि इनका यह कार्य प्रतिकूल न होकर भक्ति के अनकूल ही था। ''आज काम आयौ।'' इस पर-

दृष्टान्त-एक सन्त का—विचरणशील एक संतजी एक जगह एक एकान्त स्थल देखकर तथा जल-स्थल का सुपास देखकर वहीं स्नानकर श्रीठाकुरजी की सेवा-पूजा किए, भजन-ध्यान किए, फिर सन्तजी के मन में विचार आया कि यहीं रसोई भी बना लूँ, श्रीठाकुरजी को राजभोग का भोग लगा लूँ, तब यहाँ से प्रस्थान करूँ। क्योंकि सर्वत्र ऐसा स्थल मिलना दुर्लभ है। फिर तो संतजी ने बड़े प्रेम से रोटी शाक बनाया। भोग का थाल भगवान के सामने रखकर जल लेने गए। कुँआ कुछ दूर था। जब तक वे जल लेकर आवें-आवें, तब तक कहीं से एक कुत्ता आकर सभी रोटियों को मुँह में दबाकर भाग चला। यह देखकर संतजी बड़े ही क्रुद्ध हुये। कुत्ते को मारने के लिये इधर-उधर से कंकड़-पत्थर बहुत ढूँढ़े, परन्तु कुछ नहीं मिला तो अत्यन्त ही खीझकर श्रीशालिग्राम भगवान् को ही उठाकर कुत्ते पर दे मारे। संयोग से श्रीशालिग्रामजी कुत्ते के जबड़े पर जा लगे। कड़ी चोट लगने से रोटियाँ उसके मुँह से गिर पड़ीं, कुत्ता भाग गया। संतजी बड़े प्रसन्न हुये कि आखिर रोटी छिना ही लिया। आज भगवान खूब काम आये। बहुत दिनों से इनकी सेवा कर रहा था परन्तु काम तो कुछ पड़ा नहीं था जिससे मालूम पड़े कि यह समय पर काम दे सकते हैं। आज मैंने प्रत्यक्ष देख लिया कि भगवान ने खूब मेरा मौका सँभाला है। उसी दिन से संतजी और भी अधिक भाव से भगवान की सेवा-पूजा करने लगे।

गायो भक्त इष्ट अति सुनिकै महन्त एक लैन कौं परिच्छा आयो संग सन्त भीर है।
भूख को जतावैं बानी व्यासको सुनावैं सुनि कही भोग आवैं इहां मानै हरि धीर है।।
तब न प्रमान करी सङ्क धरी लै प्रसाद ग्रास दोय चार उठे मानो भई पीर है।
पातर समेटि लई सीत करि मोकों दई पावौ तुम और पांव लिये दृग नीर है।।३७२।।

भावार्थ—श्रीमद्गोस्वामी श्रीनाभाजी ने छप्पय-९२ में जो यह कहा है कि भक्त ही श्रीव्यासजी के परम इष्ट हैं। यह सुनकर एक महन्त श्रीव्यासजी के इस भाव की परीक्षा लेने आये। उनके संग सन्तों की बहुत बड़ी जमात थी। महन्तजी ने आते ही भूख का संकेत किया, वे श्रीव्यासजी को सुना-सुनाकर अपने भूखे होने की बात कहने लगे, उसे सुनकर श्रीव्यासजी ने कहा-''आप लोग तनिक धैर्य धारण करें, श्रीठाकुरजी को भोग जा चुका है, अभी-अभी प्रसाद थाल आता है, फिर आप पूर्ण होकर पाइये।'' यह सुनकर महन्तजी ने सोचा कि मालूम पड़ता है कि हृदय से तो भगवान को ही परम इष्ट मानते हैं, क्योंकि बड़े

विवेकवान हैं। परन्तु ऊपर से कहते हैं कि सन्त ही हमारे परम इष्ट हैं। अतः महन्तजी ने जब भगवान के भोग की बात सुनी तो श्रीनाभाजी के वचन को उन्होंने प्रमाण नहीं माना। उन्होंने मन में श्रीव्यासजी के भाव पर शंका की। इतने में भगवत्प्रसाद आ गया। श्रीव्यासजी ने बड़े ही भावपूर्वक उनको प्रसाद परोसा। परन्तु श्रीमहन्तजी दो-चार ग्रास ही प्रसाद पाकर ऐसे उठ गये मानो उनके पेट में पीड़ा हो गई हो। तब श्रीव्यासजी ने उनकी पत्तल समेट ली और बोले-"अहो! सन्त कितने कृपालु होते हैं आपने कृपा करके मेरे लिए सीथ-प्रसादी छोड़ दी है। अच्छा अब आप और पाइये, हम आपके लिए अभी-अभी अमनिया ही मँगवाते हैं।" यह सुनकर श्रीव्यासजी के भाव को सच्चा जानकर श्रीमहन्तजी आपके चरणों में पड़ गये। उनकी आँखों से आँसुओं का प्रवाह बह चला।।३७२।।

व्याख्या—पातरि समेटि लई—यदि कोई दूसरा व्यक्ति होता तो नाराज होता कि देखो तो, प्रथम तो भूख-भूख चिल्लाए और जब भोजन परोसा गया तो दो-चार ग्रास ही खाकर उठ गये। सब सामान बर्बाद किए। आदि अनेकों बात कहता परन्तु ये तो तनिक भी रंज नहीं हुए। बल्कि प्रसन्न ही हुए और प्रेमपूर्वक पत्तल समेट ली। "सीत करि मोको दई" श्रीव्यासजी की सन्तों की सीथ-प्रसादी में बड़ी निष्ठा थी। एक पद में आप कहते हैं कि-"जूठनि जे न भगत की खात। तिनके बदन सदन नरकनि के जे हरि जनन घिनात।। तिनके मुख सूकर कुकर के भक्षि अभक्ष्यहि पोषत गात। काम विवस कामिनिके पीवत अधरन लार चुचात।। भोजन पर माखीमूतति हैं ताहू रुचि सौं खात। भक्तनको चरनोदक अँचवत अभिमानी जरि जात।। स्वपच भक्त को भोग ग्रहत हरि बांभन ताहि डरात। बाजदारकी पांति व्याह में जेवत विप्र बरात।। भेंटत सुतहिं रेंट मुख लागत सुख पावत जड़ तात। अपरस ह्वै भक्तन छुइ छुतिहा तैल सचैल अन्हात।। हरि भक्तनके पाछे डोलत हरि गंगा अकुलात। साधु चरन रज मांझ व्यास से कोटिक पतित समात।।" अतः सन्तजी की सीथ-प्रसादी पाकर बहुत ही प्रसन्न हुए।। इस पर दृष्टान्त-श्रीरसिकमुरारिजी का। देखिये कवित्त-३८६। "पावौ तुम और" यहाँ और से तात्पर्य अमनियां सामग्री से है अर्थात् हम आपके लिए अमनियां भोग मँगाते हैं आप उसे पाइये। श्रीव्यासजी समझ गये कि हमारी परीक्षा लेने आये हैं, ये इस समय हमारे परम इष्ट बनकर आये हैं। अतः इष्ट को तो अमनियां ही भोग लगाना चाहिये अतः बोले "पावौ तुम और।" प्रश्न होगा कि पहले ही क्यों नहीं अमनियां भोग लगाये? समाधान-बात यह थी कि श्रीव्यासजी तो सन्तों को ही परम इष्ट मानते हैं, परन्तु और सन्त तो भगवान को ही अपना परम इष्ट मानते हैं, अतः कोई भी सन्त भगवान को

बिना अर्पित किये हुए अमनियां नहीं पाना चाहते हैं, अत: श्रीव्यासजी सन्तों के भाव की रक्षा के लिए प्रथम भगवान को भोग अर्पित करके तब भोग-प्रसाद सन्तों को देते। वही आज भी किये, परन्तु जब महन्तजी का हार्दिक भाव मालूम हो गया तो अमनियां सामग्री ही लाने को कहे। तब श्रीव्यासजी के भाव की सच्चाई जानकर महन्तजी नत मस्तक हो गए।

भये सुत तीन बाँट निपट नवीन कियौ एक ओर सेवा एक ओर धन धर्‌यौ है।
तीसरी जु ठौर स्याम बंदनी औ छाप धरी करीऐसी रीति देखि बड़ौ सोच पर्‌यौ है।।
एकने रुपैया लिये एकने किशोर जू कों श्रीकिशोरदास भाल तिलक लै कर्‌यौ है।
छापे दिये स्वामी हरिदास निसि रासकीनौं वही रास ललितादि गायो मनहर्‌यो है।।३७३।।

शब्दार्थ-स्यामबंदनी=श्याम श्री। बंदनी=माला।

भावार्थ-श्रीव्यासजी के तीन पुत्र थे। इन्होंने अपने पुत्रों में अपनी सम्पत्ति का बँटवारा नितान्त ही नवीन ढंग से किया। एक हिस्से में तो श्रीठाकुरजी की सेवा पूजा को रखा, दूसरे हिस्से में धन द्रव्यादि और तीसरे हिस्से में श्याम बंदनी और छाप को रखा। इस रीति से आपने बँटवारा किया और तीनों पुत्रों को छूट दे दी कि वे स्वेच्छानुसार जो चाहें, सो ले लें। बँटवारे की यह अद्‌भुत ढंग देखकर प्रथम तो पुत्रों को बड़ा सोच हुआ कि कौन क्या ले? फिर बाद में ज्येष्ठ पुत्र ने धन लिया, मँझले पुत्र ने श्रीठाकुर युगलकिशोरजी की सेवा ली और तीसरे पुत्र श्रीकिशोरदासजी ने श्यामबंदनी और छाप लिया एवं तुरन्त ही उन्होंने ललाट पर तिलककर लिया तथा गले में माला धारण कर ली। श्रीव्यासजी के अनुरोध पर श्रीस्वामी हरिदासजी ने श्रीकिशोरदासजी को छाप दिया, अपना शिष्य बनाया। एकदिन श्रीस्वामीजी के आदेश से श्रीकिशोरदासजी कुछ रात रहते ही श्रीयमुना जल लेने गये तो वहाँ उन्होंने श्रीयमुनापुलिन पर श्रीप्रिया-प्रियतम का दिव्य रास देखा। भाव की उमंग में श्रीकिशोरदासजी ने उसी समय स्वरचित एक पद गाया। जिसे श्रीललितादि सखियों ने तत्काल सीख लिया और फिर जब भावना में श्रीस्वामीहरिदासजी रास क्रीड़ा का ध्यानकर रहे थे तो रास में वही पद श्रीललितादि सखियों को गाते हुए सुना, जिसे सुनकर श्रीस्वामी हरिदासजी का मन हर गया।।३७३।।

व्याख्या—भये सुत तीन—उनके नाम ये हैं—श्रीरासदासजी, श्रीविलासदासजी एवं श्रीकिशोरदासजी 'एक ने रुपैया लिये'—ज्येष्ठ पुत्र श्रीरासदासजी ने रुपयों को ले लिया। इसलिये कि इन्हें समस्त व्यावहारिक कार्य करने पड़ते थे और व्यवहार में रुपयों की पदे-पदे आवश्यकता है। 'एक ने किशोर जू को'-मँझले पुत्र श्रीविलासदासजी ने ठाकुर श्रीयुगलकिशोरजी की सेवा ली। तीसरे सबसे छोटे पुत्र श्रीकिशोरदासजी ने सहर्ष

श्रीश्यामबंदनी और छाप लिया। लेते समय श्रीकिशोरदासजी ने भाव में भरकर यह भी कहा कि पिताजी! बड़े भाइयों के लेने के बाद यही बच रहा, इसलिये मैंने इन्हें लिया हो सो बात नहीं। मैं तो पहले से ही इन्हें ही चाहता था। परन्तु बड़े भाईयों के संकोच से मैंने इन्हें पहले नहीं उठाया, तो भगवान ने मेरी रुचि रख दी। मेरे लिए ये ही बच रहे। यह सुनकर श्रीव्यासजी बड़े प्रसन्न हुए और श्रीकिशोरदासजी को हृदय से लगाकर बोले—बेटा! पिता की वास्तविक सम्पत्ति को तो तूने ही पाया है। मेरा धन तो यही था। फिर श्रीव्यासजी ने श्रीकिशोरदासजी को श्रीस्वामी हरिदासजी से छाप दिलवायी। श्रीस्वामीजी ने कृपापूर्वक श्रीकिशोरदासजी को उपासना रहस्य समझाने के साथ ही दिव्यदृष्टि भी प्रदान कर दी। फलस्वरूप उन्हें धीर-समीर घाट पर दिव्य रास का दर्शन हुआ। उस समय श्रीकिशोरदासजी ने यह पद गाया—

लाल लटकंता यौवन मन्ता खेलत रास अनन्ता।
जमुनातीर भीर जुवतिनकी मध्य राधिकाकन्ता।।
एकनि के करकंज कपोलनि परिरंभण देत हसंता।
किशोरदासके स्वामी विहारी विहरत केलि करन्ता।।

वही रास ललितादि गायो—इधर श्रीस्वामी हरिदासजी और उधर श्रीहरिराम व्यासजी दोनों ही महानुभावों ने रासबिलास के समय श्रीललिता आदिक सखीयों को यह पद गाते सुना। तो श्रीव्यासजी श्रीस्वामीहरिदासजी के पास आये और अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर पूछे कि यह किशोरदास कौन हैं, जिनका रचना हुआ पद दिव्यरास में श्रीललिता आदिक सहचरियाँ गाती हैं? यह सुनकर श्रीस्वामी हरिदासजी हँस गए और बोले- ''वह कोई और नहीं, वह नूतन कवि आपका ही किशोर है।'' श्रीव्यासजी समझ गये कि किशोरदास के ऊपर श्रीस्वामी हरिदासजी की कृपा हो गई। श्रीव्यासजी के पदों से यह सुस्पष्ट है कि इन्हें श्रीस्वामी हरिदासजी की भी पूर्ण कृपा प्राप्त थी। इनका सम्पूर्ण जीवन परम रसमय रहा। ये सदा सावधान होकर श्रीप्रियाप्रियतमजी की निकुंजमहल की सेवा में तत्पर रहते थे। इन्होंने अपनी इस सेवा का संकेत एक पद में किया है। यथा-''नव कुँवर चक्र चूड़ा नृपति मनि सांवरौ राधिका तरुनि-मनि पट्टरानी। पल न विछुरत दोऊ जात नहिं तहां कोऊ व्यास महलन लिये पीकदानी।।'' वर्णन आया है कि एकबार अकबर बादशाह के दरबार में किसी गायक ने यह पद गाया तो-''व्यास महलन लिये पीकदानी'' यह सुनकर अकबर के मन में श्रीव्यासजी के दर्शन की इच्छा जागृत हुई। फिर तो वह समय निकालकर श्रीवृन्दावन आया और

श्रीव्यासजी का दर्शन करने के अनन्तर इन्हीं के श्रीमुख से पुनः वह पद श्रवण किया और फिर सारी रात श्रीभगवच्चर्चा में ही बिता दी। श्रीव्यासजी भी भाव-विभोर हो समय का भान भूले निकुंजलीला के गान में मग्न रहे। प्रातःकाल होने पर बादशाह ने श्रीव्यासजी से पूछा कि आज तो सारी रात आपने पद गान में ही बीता दी, आज महलों में पीकदानी किसने ली होगी। यह सुनते ही श्रीव्यासजी को सेवा का ध्यान हो आया और तत्काल सेवाकुंज की ओर भागे। पीछे-पीछे बादशाह भी भागा गया। वहाँ जाकर देखा गया कि पीकदानी के अभाव में जहाँ-तहाँ पानों का उगाल पृथ्वी पर पड़ा है। यह देखकर बादशाह बहुत लज्जित हुआ और श्रीव्यासजी के चरणों में पड़कर क्षमा-याचना करते हुए लाखों रुपये भेंट में देने लगा। श्रीव्यासजी ने उस समय यह पद गाया—

मैदा मिश्री मुहरें मेरैं श्रीवृन्दावन की धूरि।
जहां राधारानी मोहन राजा राज रह्यौ भरि पूरि।।
कनक कलश करुवा महमूदी खासा व्रज कमरनि चूरि।
व्यासहिं हित हरिवंश बताई अपनी जीवन मूरि।।

बादशाह ने इनके न चाहने पर भी सेवा विस्तार के लिये बहुत-सी भूमि भेंट कर दी। श्रीव्यासजी बड़े विनोदी संत थे। इनके विनोद का एक प्रसंग तो 'सन्त सम्पुट में चिरैया' इसकी व्याख्या में आ चुका है। दूसरा एक और प्रसंग आता है—एक बार श्रावण के महीने में श्रीगोपालभट्टजी के श्रीठाकुरजी का झूला पड़ा हुआ था। श्रीवृन्दावन के सभी रसिक सन्त वहाँ उपस्थित थे। झूले के पद गाये जा रहे थे। श्रीगोपालभट्टजी ने श्रीव्यासजी से भी कहा कि आप तो सिद्धकवि हैं, कोई पद बनाकर मेरे श्रीठाकुरजी के शृङ्गार का वर्णन कीजिये। तब श्रीव्यासजी ने यह पद का गाया-"झूलैं मेरे गंडकीनन्दन। मानहुं भटा कढ़ी में बोरे अंग लगाये चन्दन।। हाथ न पांव नयन नहिं नासा ध्यान करत कछु होय अनन्दन। जालन्धर अरु वृन्दा वल्लभ गावै व्यास कहा कहि छंदन।।" इनके इस विनोदपूर्ण शृङ्गार वर्णन को सुनकर सब समाज हँस गया। ऐसे आपके अनेकों चमत्कारपूर्ण चरित्र हैं। श्रीव्यासजी अपना परिचय देते हुए कहते हैं—

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा बरसानौ खेरौ ब्रजवासिन सौं पाँति।।
गोत गोपाल जनेऊ माला सिखा सिखँडि हरि मंदिर भाल।
हरि गुन नाम वेद धुनिसुनियत मूँज पखावज कुस करताल।।
साखा जमुना हरि लीला षटकर्म प्रसाद प्रान धनरास।

सेवा बिधि निषेध जड़ संगति वृत्ति सदा वृन्दावन वास।।
सुमृत भागवत कृष्ण नाम संध्या तर्पन गायत्री जाप।
वंशी रिषि जजमान कल्पतरु व्यास न देत असीस सराप।।

पुनः- इतनो है सब कुटुम्ब हमारौ।।
सेन धना नामा अरु पीपा अरु कबीर रैदास चमारौ।
रूप सनातन हरिकौ सेवक गंगल भक्त सुठारौ।
सूरदास परमानन्द मेहा मीरा भक्त बिचारौ।
ब्राह्मण राजपुत्र कुल उत्तम करत जातिको गारौ।
आदि अन्त भक्तनको सरबस राधावल्लभ प्यारौ।।
आसू कौ हरिदास रसिक हरिवंश न मोहिं विसारौ।
इहि पथ चलत स्याम स्यामाके व्यासहिं बोरौ तारौ।।

श्रीव्यासजी की अभिलाषा—"किसोरी तेरे चरननिकी रज पाऊं। बैठि रहौं कुंजनिके कोने स्यामराधिका गाऊं।। या रज शिव सनकादिक लोचन सो रज सीस चढ़ाऊं। व्यास स्वामिनी की छबि निरखत विमल विमल जस गाऊँ।।"

परिवार को उपदेश—"बहिनी बेटा हरि को भजियो। जा संगतितें पति गति नासै ता संगति तें लजियो।। मातु पिता भैया भामिनि कुल सखी सखा सुख तजियो। साधुन ही के पथ पर चलियो ऊबट चलै सो बेगि बरजियो।। गुरुहिं न आवैं गारि बातमें सो सामग्री सजियो। व्यास विमुख बांभन परिहरिकै श्वपच भक्त की ओट उबरियो।।"

श्रीवृन्दावन वास की विधि बताते हुए आप कहते हैं—"ऐसेहि बसिये ब्रज की वीथिनि। साधुन के पनवारे चुनि चुनि उदर पोषयति सीथिनि।। घूरनि मेंके बीनि चिनगिटा रच्छा कीजै सीतिनि। कुँज कुँज प्रति लता लोटि उड़ रज लागै अंगीथिनि।। नित प्रति दरस स्याम स्यामा कौ नित जमुना जल पीतिनि। ऐसेहिं व्यास होत तन पावन इहिं विधि विमल अतीतिनि।।"

श्रीजीवगोस्वामी जी

श्रीरूप सनातन भक्ति जल जीव गुसाईं सर गंभीर।।
बेला भजन सुपक्व कषाय न कबहूं लागी।
वृन्दावन दृढ़ वास जुगल चरननि अनुरागी।।
पोथी लेखन पान अघट अक्षर चित दीनौ।

छ० ९३)

सद्ग्रन्थनि कौ सार सबै हस्तामल कीनौ।।
संदेह ग्रन्थि छेदन समर्थ रस रास उपासक परम धीर।
श्रीरूप सनातन भक्ति जल जीव गुसाईं सर गँभीर।।९३।।

शब्दार्थ—बेला=किनारा, मर्यादा, समय। सुपक्व=अच्छी तरह से पका हुआ, परिपक्व, दृढ़, विकसित। कषाय=कषैलापन, निर्विकल्प समाधिका एक विघ्न, मायामय। पान=पन्ना, पत्र, पृष्ठ। अघट=पूर्ण, पूरे। छेदन=खण्डन।

भावार्थ—श्रीरूपगोस्वामीजी एवं श्रीसनातन गोस्वामीजी के भक्तिरूपी जल को धारण करने के लिये श्रीजीवगोस्वामीजी गम्भीर सरोवर के समान हुये। दृढ़ नियमपूर्वक भजन साधन ही इस सरोवर का सुदृढ़ तट है। इसमें कभी भी मायिक विकार रूप काई नहीं लगी। आपने अखण्ड वृन्दावन वास किया। श्रीप्रिया-प्रियतम युगल के श्रीचरणकमलों में आपका परमानुराग था। ग्रन्थ लिखने में आप प्रत्येक पत्रों पर चित्त देकर अघट अर्थात् न्यूनाधिक्य दोष रहित समान अक्षर लिखते थे। समस्त सद्ग्रन्थों का सार आपको हस्तामलकवत् था अर्थात् सबके सार सिद्धान्त का आपको सम्यक् बोध था। जिज्ञासुजनों की सन्देहरूपी गाँठों को खोलने में अर्थात् सन्देह का सर्वतोभावेन निराकरण करने में आप परम समर्थ थे। रासरस अर्थात् परमोज्ज्वल शृंङ्गार रस के आप उपासक थे तथा परम शान्त, दान्त एवं विवेकवान् थे।।९३।।

व्याख्या—रूपसनातन भक्ति—यथा—"अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।" (श्रीभक्तिरसामृत सिन्धौ) अर्थ—अन्य अभिलाषाओं से रहित, ज्ञान, कर्मादि से अनावृत श्रीकृष्ण प्रीति के अनुकूल आचरण करना उत्तमाभक्ति है। इस सम्बन्ध में विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ६८। 'भक्तिजल'—भक्ति को जल कहने का भाव यह है कि जल से मल धुलता है, प्यास दूर होती है, ताप का निवारण होता है तथा शीतलता प्राप्त होती है। उसी प्रकार भक्ति से मन का मायाजाल धुलता है। यथा—"प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अन्तर मल कबहुँ न जाई।।" (रामा०), पुनश्च-"राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नाश न पावै।।" (वि०), भक्ति से आशारूपी प्यास शान्त होती है। यथा-"आस पियास मनोमल हारी।।" (रामा०), भक्ति से तापत्रय का निवारण होता है। यथा-"देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिविध ताप भवदाप नसावनि।।" (रामा०), भक्ति से शीतलता प्राप्त होती है। यथा-"प्रेमभगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुशीतलताई।।" (रामा०), पुनः-जैसे जल स्वभाव से निम्नगामी है। यथा-"नल बल जल ऊँचै चढ़े अन्त नीच को नीच।।" उसी

प्रकार भक्ति भी विनम्र पुरुषों के हृदय में ही अवस्थान करती है। जल रसरूप है। यथा–"जल बिनु रस कि होइ संसारा।।" (रामा०), उसी प्रकार से भक्ति भी रस रूपा है। यथा–"रामभगति रस कहि न परत सो।।" (रामा०), अतः 'भक्तिजल' कहा।

जीव गुसाईं—ये श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीरूपगोस्वामीजी के छोटे भाई श्रीअनुपम (वल्लभ) जी के सुपुत्र थे। विशेष चरित्र आगे देखिये "सर गँभीर"—कहने का भाव यह है कि जैसे चारों ओर से जल सिमिटकर सरोवर में भरता है। यथा–"सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जनपहिं आवा।।" (रामा०) उसी प्रकार श्रीरूप सनातन प्रभृति गुरुजनों का भक्तिभाव सिमिटकर श्रीजीवगोस्वामीजी के हृदय थल में भर गया था। अतः "जीवगुसाईं सर गँभीर" कहा। गँभीर कहने का भाव यह है कि सरोवर जितना ही अधिक गहरा होगा, उसमें उतना ही अधिक जल अँटेगा और जितना ही अधिक जल रहेगा उतना ही वह जल निर्मल रहेगा। कम जल में ही नाना प्रकार के दोष आते हैं। उसी प्रकार से हृदय जितना ही अधिक भक्तिभाव रहेगा उतना ही अधिक भक्तिभाव का संग्रह हो सकेगा और उतना ही अधिक मायिक दोषों से असंश्लिष्टता रहेगी। हीन साधना में ही माया भय रहता है। पुनः अगाध सरोवर में ही सभी जलचर सुखी रहते हैं। यथा–"सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकौ बाधा।।" (रामा०) उसी प्रकार अगाध भावपूरित हृदय में ही समस्त सद्गुण एवं साधन सुव्यवस्थित रहते हैं।

बेला भजन—पूर्व कहा गया है कि 'जीव गुसाईं सर गँभीर।" तो सरोवर के चारों ओर एक सीमा होती है, जिसके अन्दर जल भरा हुआ रहता है, जिसे तट व किनारा कहते हैं। यहाँ किनारा क्या है? तो इस पर कहते हैं– "बेला भजन।" भाव यह कि हर समय भजन में लगे रहना ही भक्तिजल को बहने से सुरक्षित रखने वाला किनारा है, जैसे किनारा टूटने से जल बह जाता है वैसे ही भजन में प्रमाद होने से भक्ति क्षीण हो जाती है, नष्ट हो जाती है। अतः तट को पक्का होना चाहिये, जिससे जल बहे नहीं। उसी प्रकार से भजन साधन दृढ़ नियमपूर्वक होना चाहिये। यथा–"मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा।।" (रामा०) अतः कहते हैं कि– "बेला भजन सुपक्व" अर्थात् श्रीजीवगोस्वामीपाद अत्यन्त दृढ़ नियमपूर्वक भजनरत रहते थे। अतः हमेशा भक्ति से भरपूर रहते थे।

कषाय न कबहूँ लागी—जल में धूल-मिट्टी, कीचड़ आदि के संयोग से काई लग जाती है, जिससे जल दूषित हो जाता है, अपेय हो जाता है, अग्राह्य हो जाता है। जब किनारे भी काई से आक्रान्त हो जाते हैं तो वहाँ भी फिसलकर गिरने का बड़ा भारी भय होता है।

उसी प्रकार से जब भक्ति में रजोगुण आ जाता है तो हृदय में मान-प्रतिष्ठा आदि की वासना उत्पन्न हो जाती है, फिर उसके लिये अनेकानेक प्रकार के छल, दम्भादि करने पड़ते हैं, यही भक्ति जल में काई का लगना है। ऐसी मान-प्रतिष्ठा, छल-दम्भादि युक्त भक्ति अग्राह्य है। जैसे काई से युक्त दूषित जल पीने से अनेकानेक प्रकार के रोग उत्पन्न होकर शरीर का नाश कर देते हैं। उसी प्रकार से वासना वासित, छल दम्भादि युक्त भक्ति का स्वाँग आत्मा का हनन करने वाला होता है। काई लगे सरोवर में जलपान की इच्छा से जाने वाले को जल की प्राप्ति से पहले ही फिसलकर गिरने का भय रहता है। वैसे ही छल दम्भ युक्त भक्ति साधना करने वाले के द्वारा भक्ति प्राप्ति से पूर्व ही पतन होने का भय होता है। जिस सरोवर के जल तथा उसके किनारों में काई नहीं लगी होती है। उसका जल अत्यन्त निर्मल अतः परम गुणकारी होता है, सर्वत्र उसकी प्रशंसा होती है एवं असंख्य जीव उससे तृप्ति एवं तोष पाते हैं। उसी प्रकार सकल कामनाहीन भक्ति परम कल्याणकारिणी होती है। ऐसे भक्त की सर्वत्र सराहना होती है एवं उसके दर्शन, स्पर्श, समागमादि से अनन्त जीवों का कल्याण होता है। श्रीजीवगोस्वामीपादजी की भक्ति उत्तमा-भक्ति थी। जिसमें कभी भी रज का लेशमात्र भी संश्लिष्ट नहीं हुआ। अतः सम्पूर्ण विश्व सुयश गाता है एवं अगणित जीव, आत्मा का कल्याण सम्पादन करते हैं। अतः कहते हैं- ''कषाय न कबहूं लागी''।

बृन्दावन दृढ़ बास—श्रीवृन्दावन आने के बाद आप कभी भी श्रीधाम श्रीवृन्दावन छोड़कर बाहर नहीं गये। कहते हैं कि एक बार आगरे में अकबर ने विद्वानों के समक्ष यह प्रश्न रखा कि श्रीगंगाजी बड़ी हैं या श्रीयमुनाजी। दोनों के समर्थन में विद्वानों ने पुष्कल प्रमाण प्रस्तुत किये, परन्तु निश्चय निर्णय कुछ भी नहीं हो सका। तब विचार-विमर्श हुआ कि इसका निर्णय किससे कराया जाय? तो यह बात सब लोगों ने स्वीकार की कि श्रीवृन्दावन में श्रीजीवगोसाईंजी महान् पण्डित हैं, वे जो कुछ कहेंगे, वह हम सब लोगों को मान्य होगा। तब अकबर ने श्रीजीवगोसाईंजी को आगरा बुलवाने के लिए अपने खास कर्मचारियों को भेजा। जब श्रीगोस्वामीपाद ने अपनी स्थिति स्पष्ट की तो बादशाह की ओर से इस प्रकार से व्यवस्था की गयी, जिसमें आप दिन-दिन में ही आगरा से श्रीवृन्दावन वापस आ जायँ। तीव्रगामी घोड़ों से जुती बग्घियों की व्यवस्था की गयी। एब बग्घी पर बैठकर चलते, जब उसके घोड़े थक जाते तो उस बग्घी और घोड़ों को छोड़कर दूसरी बग्घी पर बैठ जाते। इस प्रकार पूरे मार्ग भर यथास्थान बग्घियाँ खड़ी थीं। एक को छोड़कर दूसरी पर बैठते हुए अतिशीघ्र आगरा पहुँचे। बादशाह ने आपका बड़ा स्वागत किया, फिर

अपना प्रश्न आपके सामने भी दुहराया। श्रीजीवगोस्वामीपाद ने बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंग से प्रथम तो श्रीगंगाजी की महामहिमा का वर्णन किया, जिसे सुनकर लोगों को यही लगा कि ये श्रीगंगाजी को ही श्रेष्ठता का गौरव प्रदान करेंगे। परन्तु अन्त में आपने कहा कि श्रीगंगाजी भगवान के पद की धोवन हैं परन्तु श्रीयमुनाजी तो उनकी पटरानी हैं। अतः अब आप लोग स्वयं ही निर्णय कर लीजिये कि कौन बड़ा है। आपके इस कौशलपूर्ण निर्णय से पण्डित समाज बहुत ही प्रसन्न हुआ। सबने आपका महान अभिनन्दन किया। फिर आप पूर्ववत् श्रीवृन्दावन आ गये। अतः दृढ़ वृन्दावन वास कहा। श्रीजीवगोस्वामीजी के उक्त निर्णय को एक कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है–

ब्रह्माके कमण्डलते संभु जटा मंडलते, प्रचंड गिरि खंडन ते धारा यों बहत हैं।
तीनो लोक पावनको आपदा नसावन को, जाके गुणगावनको वाणी यों चहत हैं।।
कहैं कविराइ सुर असुरहू पूजैं जाहि, सुरधुनी कहें दुःख पाप न रहत हैं।
जमुना की महिमा कही परै न याते कछु, गंगा पग पानी ताको पटरानी कहत हैं।।

पोथी लेखन पान०–श्रीजीवगोस्वामीजी बड़े ही सिद्धहस्त लेखक थे। अगाध पाण्डित्य एवं अपार भाव पारावार होने के कारण वाणी का प्रवाह कभी अवरुद्ध ही नहीं होता था। फलस्वरूप कागज के एक पृष्ठ पर लिखने के बाद उसे सूख जाने पर ही दूसरे पृष्ठ पर लिखें, इतना विलम्व आपसे सहन नहीं होता था अतः जब एक पृष्ठ पर लिख लेते तो उसे सूखने के लिए रख देते और तीसरे पृष्ठ पर लिखना प्रारम्भ कर देते। फिर जब पहला पृष्ठ सूख जाता तो उसके दूसरे पृष्ठ पर लिखते। विशेषता यह थी कि एक अक्षर भी घट-बढ़ नहीं होता था। यह बहुत बड़े कौशल की बात है। सर्व साधारण के वश की बात नहीं। आपका अनुमान इतना सही होता कि दूसरे पृष्ठ पर इतनी सामग्री लिखनी है, उतना छोड़कर आगे का विषय तीसरे पृष्ठ पर लिखने लगते। फिर तीसरे पृष्ठ को सूखने के लिए रख देते और दूसरे पृष्ठ पर छूटा हुआ अंश लिखते। इस प्रकार प्रतिलिपि करना सहज है, परन्तु आप नवीन स्वरचित ग्रन्थों को भी इसी पद्धति से लिखते थे, यह अभूतपूर्व विशेषता है। अतः कहते हैं–''अघट अक्षर चित दीन्हौं''।

सद्ग्रन्थनि कौ सार–समस्त सद्ग्रन्थों का सार भक्ति है। यथा–''आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।। तव पद पंकज प्रीति निरन्तर। सब साधनकर यह फल सुन्दर।।'' (रामा०), ''सबै हस्तामल कीनौ''–इससे यह जनाया गया कि सभी ग्रन्थों का आपने सम्यक् अध्ययन–अनुशीलन किया था और सबका तात्पर्य आपके लिए करामलकवत् था अर्थात् जैसे आँवला हाथ की हथेली पर रखने से वह पूर्ण रीति से

रेशा-रेशा दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार से समस्त सद्‌ग्रन्थों का सार आपके नेत्र के सम्मुख था। ''सन्देहग्रन्थि छेदनसमर्थ''-यह भी एक कला है। इसे पण्डित कला कहते हैं। श्रीनाभाजी ने श्रीकमलाकरभट्‌टजी के लिए लिखा है-''पण्डित कला प्रवीन अधिक आदर दे आरज।'' (छप्पय-८६), श्रीजीवगोस्वामीजी भी इस कला में परम प्रवीण थे। बड़ी से बड़ी शंकाओं का सहज ही समाधान कर देते। अकबर ने पूछा कि इन्द्र तो विष्णु के बड़े भाई हैं, विष्णु का एक नाम ही उपेन्द्र है, फिर विष्णु के ही अवतार श्रीकृष्ण ने इन्द्र का यज्ञ क्यों बन्द कराया? इन्द्र ने कोप किया तो श्रीगोवर्धन पर्वत को उठाकर व्रज की रक्षा किये और इन्द्र को डाँट लगायी, ऐसा क्यों? तब श्रीजीवगोस्वामीजी ने कहा-''भगवान् समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। जैसे तुम अपने अधीनस्थ देश की समस्त प्रजा को अपने शासन के अधीन रखते हो, वैसे ही भगवान् अभिमानियों का अहंकार चूर्णकर अपने अधीन रखते हैं। इन्द्र को अत्यन्त अभिमान हो गया था। यथा-''मोहिं रहा अति अभिमान। नहिं कोउ मोहिं समान।।''(रामा०), ऐसे ही सबकी शंकाओं का समुचित समाधान करते।

किये नाना ग्रन्थ हृदै ग्रन्थि दृढ़ छेदि डारैं डारैं धन यमुना में आवै चहुँओर तें।
कही दास 'साधु सेवा कीजै' कहैं 'पात्रता न' करौं नीके, करी बोल्यौ कटु कोप जोर तें।।
तब समझायौ सन्त गौरव बढ़ायौ यह सबकों सिखायौ बोलैं मीठो निसि भोर ते।
चरित अपार भाव भक्ति कौ न पारावार कियोऊ बैराग सार कहै कौन छोरते।।३७४।।

शब्दार्थ-पात्रता=योग्यता

भावार्थ-श्रीजीवगोस्वामीजी ने अनेक ग्रन्थ बनाये हैं, जो कि जीव की कठिन हृदय-ग्रन्थियों को दृढ़तापूर्वक छेदन करने में समर्थ हैं। आपकी सेवा में चारों ओर से अपार धन आता, परन्तु आप उस धन को श्रीयमुनाजी में फेंक देते थे। शिष्य-सेवकों ने कई बार अनुरोध किया कि धन को श्रीयमुना में न फेंककर उससे साधु-सेवा की जाय तो उसका अच्छा सदुपयोग होगा। आपने कहा मैं किसी भी शिष्य अथवा सेवक में साधु-सेवा करने की योग्यता नहीं देखता हूँ। एक शिष्य ने कहा मैं अच्छी प्रकार से साधु-सेवा करुँगा। उसने कहने को तो कह दिया परन्तु एक बार एक साधु पर झुंझलाकर एवं क्रोधपूर्वक जोर से कटुवचन बोल दिया। तब श्रीजीवगोस्वामीजी ने उसे समझाया तथा सन्तों की महिमा बखान किया। फिर आपने समस्त शिष्य-सेवकों को शिक्षा दिया कि तुम सब लोग सुबह से लेकर शाम तक मधुर बोला करो। आपके अपार चरित्र हैं। आपकी भक्ति-भावना का पार नहीं है। आपने परम वैराग्य को धारण किया था, उसका ओर-छोर वर्णन कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं कर सकता है।।३७४।।

व्याख्या—किये नाना ग्रन्थ—यथा-''श्रीहरिनामामृत व्याकरण, श्रीकृष्णार्चनदीपिका, षट्सन्दर्भ, (तत्वसन्दर्भ, भगवत् सन्दर्भ, परमात्म सन्दर्भ, कृष्ण सन्दर्भ, भक्ति सन्दर्भ, प्रीति सन्दर्भ), क्रम सन्दर्भ (भागवत टीका), दुर्गमसंगमनी (भक्तिरसामृत सिन्धु की टीका), श्रीब्रह्मसंहिता की टीका, श्रीगोपालचम्पू, श्रीमाधवमहोत्सव, सर्वसंवादिनी, श्रीगोपाल विरुदावली आदि।''

''**हृदयग्रन्थि दृढ़**''—यथा-ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।। सो मायाबश भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाइ ँ।। जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।। तबते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी।। श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।। जीव हृदय तम मोह विसेषी। ग्रन्थि छूट किमि परइ न देखी।।'' (रामा०), श्रीजीव गोस्वामीजी के ग्रन्थों में जीव की इस दृढ़ हृदय ग्रन्थि को सुलझाने का सफल साधन निरूपण किया गया है। ''डारैं धन यमुना में''-शास्त्रों एवं सद्ग्रन्थों में धन के अनेकों दोष वर्णन किये गये हैं। (विशेष देखिये कवित्त-१५२ में ''द्रव्य पकराइ दियो'' तथा कवित्त-२७९ में ''जामें भरे कोटि रोग हैं'' की व्याख्या)। पुनः नीतौ-''श्रुतिवाग्दृष्टिहरणं लक्ष्मीः कुरुते नरस्य को दोषः। गरलसहोदरभ्राता यन्न मारयति तच्चित्रम्।।'' अर्थ-लक्ष्मी मनुष्य के श्रवण, वाणी एवं दृष्टि का अपहरण कर लेती हैं, इसमें मनुष्य का कोई दोष नहीं है। अरे, जिन श्रीलक्ष्मीजी का सगा भाई विष है, वे लक्ष्मीजी अपने भाई के गुण का अनुसरण करते हुए मार नहीं डालती हैं, यही क्या कम आश्चर्य है?

दृष्टान्त—एक ब्राह्मण का—एक गाँव में दो ब्राह्मण भाई थे। वे सर्वदा धनहीन होने के कारण अत्यन्त दुःखी रहा करते थे। जब दारिद्रय दुःख असह्य हो गया तो एक भाई धन कमाने परदेस चला गया। परन्तु दूसरा भाई वहीं आस-पास के गाँवों से भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करता था। एक दिन उस भिक्षुक ब्राह्मण से स्वप्न में श्रीलक्ष्मीजी ने कहा कि आज से तेरहवें दिन मैं तुम्हारे यहाँ आऊँगी और तीन वर्ष तक रहूँगी।'' ब्राह्मण धन के दोष से पूर्ण परिचित था अतः श्रीलक्ष्मीजी का आगमन जानकर उसने अपना सब घर-वार बेंच दिया और कुटुम्ब-परिवार, भाई-बन्धुओं को निमन्त्रित कर भोजन कराया। तदुपरान्त उसने सबके हाथ जोड़कर विनय किया कि ''आज से तेरहवें दिन मैं अन्धा हो जाऊँगा, बहरा हो जाऊँगा और गूंगा हो जाऊँगा और मेरी यह दशा तीन वर्ष पर्यन्त रहेगी। अतः ऐसी स्थिति में यदि मुझसे कुछ जाने-अनजाने अपराध बन जाय तो आप लोग क्षमा करना।'' ब्राह्मण की बात लोगों की समझ में नहीं आयी। सबको कौतूहल-सा लगा। उधर उसका भाई जो परदेश गया था, किसी सूत्र से वह राजदरबार में पहुँच गया।

अपनी सच्चाई की बदौलत वह बादशाह का स्नेहभाजन हो गया। बादशाह ने उनके जिम्मे शासन का कार्य सौंप दिया। तब उसने अपने भाई को उसी परगने का हाकिम बना दिया। एक ही दिन में उसका दिन ऐसा बदला कि वह भिक्षुक से राजा हो गया। सब लोग आश्चर्य करने लगे कि यह तो कहता था कि मैं तेरहवें दिन अन्धा, बहरा, गूंगा हो जाऊँगा, परन्तु यह तो हाकिम हो गया। यह कैसी विचित्र बात है। वह ब्राह्मण अब बड़ी कुशलतापूर्वक परगने का शासन करने लगा। लोगों को इस बात से सन्तोष था कि यह पहले हम लोगों के द्वार पर भीख माँगने आया करता था, अब यह हाकिम हो गया है तो हम लोगों का कार्य जल्दी कर दिया करेगा। परन्तु हुआ सब उल्टा। जब ये लोग किसी काम को लेकर उसके पास जाते तो पहले तो उससे भेंट ही नहीं होती। यदि हुई भी तो वह इन लोगों की ओर देखता ही नहीं, इनसे बोलता ही नहीं। लोग उदास होकर घर लौट आते। मन ही मन उसे गालियाँ देते। ऐसे ही तीन साल बीते। लक्ष्मीजी अपना वचन पूर्णकर उस ब्राह्मण को छोड़कर चली गईं। दुर्भाग्यवश उस ब्राह्मण से काम-काज में कुछ भूल हुई। अतः बादशाह ने उसे पदच्युत कर दिया और उसकी सब सम्पत्ति जब्त कर ली। अब वह पुनः पहले जैसा भिखारी हो गया। झोली लेकर गाँव में भीख माँगने चला तो कोई भी उसे अपने द्वार पर खड़ा नहीं होने दे, गालियाँ ऊपर से दे, तिरस्कार करे। उसने कहा-''आप लोग हमारे साथ इतना अभद्र व्यवहार क्यों करते हैं?'' तब सबने कहा-''जब तुम हाकिम थे तो तुमने हम लोगों की कुछ भी सुनवाई नहीं की, उसका यह परिणाम है।'' तब उनसे कहा-''भाइयो! मैंने तो यह बात पहले ही कह दी थी कि तीन साल के लिये मैं अन्धा, बहरा गूंगा हो जाऊँगा, अतः आप लोग मेरी भूल-चूक क्षमा करना। परन्तु आप लोग मेरी बात ठीक से नहीं समझे, इसलिये मेरा तिरस्कार कर रहे हैं, अरे भैया! यह सब लक्ष्मीजी की करतूति है। वह जहाँ जाती हैं उसे ऐसा ही बना देती हैं। सब लोगों की समझ में आयी। अतः श्रीजीवगुसाईंजी लक्ष्मी के विलास भूत धन को अपने पास रखते ही नहीं थे। श्रीयमुनाजी में फेंक देते थे। ऐसे ही श्रीरैदासजी को श्रीठाकुर के श्रीचरणप्रान्त से पाँच मोहरें मिलतीं तो वे उन्हें चिमटा से उठाकर गंगा में फेंक देते। (विशेष देखिये कवित्त-२६३)

कही पात्रता न—इसका भाव यह है कि भगवान की सेवा कर लेना तो सहज है, परन्तु सन्त-सेवा करना अति ही कठिन है। कारण कि सेवा में सेव्य की रुचि का ध्यान रखना परम अनिवार्य है। यथा-''रुचि लै सुचि सेवा करै सेवक कहिये सोइ।।'' (भगवत रसिक) और सन्तों की रुचि, भाव, स्वभाव को जानना टेढ़ी खीर है। तभी तो श्रीनाभाजी कहते हैं- ''गाऊँ राम कृष्ण

पै न पाऊँ भक्तदाव को।'' श्रीकबीरदासजी कहते हैं-''कोई जटधारी कोई मठधारी कोई लठधारी कोई ठटधारी। कहैं कबीर सुनो भई साधो खोपड़ी खोपड़ी गति न्यारी।'' अत: साधुओं को सम्हालना निश्चय ही बहुत कठिन है। इसलिये आपने कहा-पात्रता न। ''बोल्यौ कटु कोप जोर ते''-एक दिन रात्रि के समय साधुओं की जमात आई। सन्तों ने कहा-''कुछ खाने-पीने का प्रबन्ध करो।'' इनके शिष्य ने कहा-''अब रात्रि में कोई व्यवस्था नहीं हो सकती है।'' साधुओं ने कहा कि-''हम लोग बहुत भूखे हैं, अत: अवश्य ही कुछ उपाय तो करिये ही।'' तब उस शिष्य ने झुझलाकर क्रोध में भरकर जोर से कहा-''बहुत भूखे हो तो हमको ही खा जाओ न।'' श्रीजीवगोस्वामीजी ने शिष्य का यह वचन सुन लिया। ''तब समझायौ''-समझाया यह कि तुमको अब तक बोलने भी नहीं आया। मधुर बोलना चाहिये। परन्तु तुमने कटु भाषण किया, प्रेमपूर्वक बोलना चाहिये, परन्तु तुमने क्रोधपूर्वक भाषण किया। मधुर स्वर से बोलना चाहिये, परन्तु तुमने जोर से भाषण किया। अरे, सब कुछ सीखकर भी यदि बोलना नहीं सीखा तो मनुष्य का सब कुछ सीखा सिखाया व्यर्थ है। यथा-

सीखे व्याकरण कोश काव्य औ पुराण सीखे सीखे वेद पढ़िबो जो धर्मनको मूरि है।
न्याय औ वेदान्त आदि सीखे षट् शास्त्र वर पण्डिताई चतुराई जानै भरपूरि है।।
सीखे घट पट साँप जेवरी बखानिबेको माया भ्रमजाल हूं किये जे अति दूरि है।
भक्तनकी सभा बीच प्रेमरस सींचि सींचि बोलिबो न सीखे सब सीखिबे में धूरि है।।

शास्त्र का आदेश है-"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।" अर्थ- "सत्य बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य भी मत बोलो।" "बोलौ मीठौ निसि भोरते।"-श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-"तुलसी मीठे बचनते सुख उपजत चहुँ ओर। वशीकरन इक मन्त्र है तजि दे बचन कठोर।।" किसी कवि ने कहा है-"ऐसी वानी बोलिये मन का आपा खोय। औरन कूं सीतल करै आपहु सीतल होय।। कोयल काको देत है कागा काकों लेत। मीठी वानी बोलिकै, सबको मन हर लेत।।"

दृष्टान्त—अकबर बीरबल का—एकबार अकबर ने बीरबल से पूछा-''सबसे बड़ा सम्मान क्या है?'' बीरबल ने कहा मीठा बोलना। अकबर ने कहा-''हम कैसे मानें?'' बीरबल ने कहा-''समय आने पर आप खुद मान जाइयेगा।'' तदुपरान्त कुछ काल बीतने के बाद बीरबल ने लाखों रुपये लगाकर एक बहुत बड़ा महल बनवाया। उसमें अनेक प्रकार की रचनायें करवायीं। इत्रादि सुगन्धित द्रव्यों का छिड़काव करवाया। बाग-वाटिका, फूल-फुलवारी लगवाया। रंग-बिरंग के फौवारे, विचित्र चित्र रचना आदि से वह महल बहुत ही शोभायमान हो रहा था। सब प्रकार की सजावट पूर्ण होने पर बीरबल ने अकबर से कहकर उनकी बहन का न्यौता किया। अनेक प्रकार

की भोजन सामग्री बनवायी। फिर बादशाह की बहन को बड़े ही आदरपूर्वक महल में लिवा लाये। मार्ग में पांवड़े बिछवाये, मुहरें लुटायीं, मुहरों का चबूतरा बनवाकर उस पर मखमल का गद्दा बिछवाकर उस पर बैठाया। फिर बड़े ही आदरपूर्वक उसको भोजन कराने लगे, बीरबल ही परस रहे थे। बादशाह की बहन नहीं, नहीं करती जाती थी और बीरबल परसते जा रहे थे। उसने प्रसन्न होकर बीरबल के आदर-सत्कार की बहुत सराहना की और सन्तुष्टि व्यक्त करते हुए कहा कि- "अब मैं खा चुकी, अब मुझे कुछ नहीं चाहिये।" इस पर बीरबल ने कहा-"कुछ और ले लो, कुछ और खा लो। खाना बन्द क्यों करती हो। इसमें तुम्हारे खसम का क्या खर्च हो रहा है।" बस, इतना सुनना था कि बादशाह की बहन ने भोजन की थाली में पांव से ठोकर मारा। थाली झनझना कर दूर जा पड़ी और वह आग बबूला हुई बादशाह से आकर बोली कि- "इस काफर को जान से मरवा डालो।" बादशाह ने बीरबल को बुलवाया और पूछा- "तुमने कैसा न्यौता किया जो हमारी बहन अत्यन्त क्रोधित होकर वहाँ से आयी है और तुम्हें मरवा डालने को कहती है।" बीरवल ने कहा कि-"इनके न्यौता में तो मैंने लाखों रुपया खर्च किया था और बड़ा भव्य स्वागत-सत्कार किया था। आप उन्हीं से पूछ लीजिये कि मैं कितना सत्य कह रहा हूँ।" तब अकबर ने अपनी बहन को बुलाकर वहाँ का समस्त वृतान्त पूछा। सब कुछ बताकर उसने बीरबल के व्यंग्य वचन को कहा, जिससे उसे इतना क्रोध हुआ था। अकबर ने बीरबल से कहा-"तुमको ऐसे बचन नहीं कहने चाहिये थे।" बीरबल ने हाथ जोड़कर कहा-"हुजूर! यह आपके प्रश्न का उत्तर था। आपने पूछा था- "सबसे बड़ा सम्मान क्या है? मैंने कहा था-"मीठा बोलना। आपने देखा, सब कुछ करके भी तनिक-सा कटु बोलने से सब सम्मान मिट्टी में मिल गया।" इसी से श्रीजीवगोस्वामीजी ने मधुर भाषण पर बल दिया।

विशेष-श्रीजीवगोस्वामीजी के पिता परम भागवत श्रीअनुपमजी अनन्य श्रीरामभक्त थे। एकबार उनकी भक्ति की परीक्षा के लिये श्रीरूप-सनातनजी ने उनसे कहा-"देखो अनुपम! जब हम दोनों तुम्हारे बड़े भाई श्रीकृष्णचरणाश्रित हैं तो तुम भी श्रीकृष्ण की उपासना क्यों नहीं करते? यदि तुम भी श्रीकृष्ण भक्त हो जाओ तो हम तीनों मिलकर संग-संग भजन करेंगे।" अपने बड़े भाइयों के बड़प्पन का ध्यान रखते हुये श्रीअनुपमजी ने अत्यन्त संकोचपूर्वक कहा- "मैं कल इसका उत्तर दूँगा।" फिर सारी रात अनुपम रोते रहे। रोते-रोते आँखें सूज गईं। जब प्रात:काल हुआ तो अनुपम ने श्रीरूप-सनातन को प्रणाम कर कहा-"दादा! मैंने तो अपना सर्वस्व मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीरामजी के श्रीचरणकमलों में समर्पित कर दिया है। अब वहाँ से मन हटाकर और कहीं लगाना मेरे लिये सम्भव नहीं है। अत: अब तो आप यही आज्ञा एवं आशीर्वाद दीजिए कि मैं

श्रीरघुनाथजी के श्रीचरणकमलों में ही अपना मन लगाता हुआ यह शेष जीवन पूर्ण करूँ तथा जन्म-जन्म में मुझे श्रीरामजी की ही भक्ति मिले।'' श्रीरूप-सनातनपादजी उनकी इस अनन्यनिष्ठा पर बहुत ही प्रसन्न हुये और श्रीरामजी के श्रीचरण-कमलों में दृढ़ भक्ति का वरदान दिये। ऐसे श्रीरामचरणानुरागी बड़भागी श्रीअनुपमजी के पुत्र हुये श्रीजीवगोस्वामीजी। आपका श्रीकृष्ण-बलराम के प्रति अनुराग जन्मजात था। बाल्यावस्था से ही खेलकूद छोड़कर ये सदा पुष्प-चन्दन आदि द्वारा बड़े ही भावपूर्वक श्रीकृष्ण-बलराम की सेवा किया करते थे। जिस समय श्रीगौरांग महाप्रभुजी श्रीरूप-सनातनजी के ऊपर कृपा करने के लिये रामकेलि ग्राम में पधारे उस समय इन्होंने भी छिपकर श्रीमहाप्रभुजी के श्रीचरणों का दर्शन किया था।

एक बार रात्रि में कीर्तनावेश में किंचित् निद्रित होने पर स्वप्न में श्रीमहाप्रभुजी का लाखों नर-नारियों के मध्य प्रेमोन्मत्त होकर कीर्तन करते हुये आपको दर्शन हुआ। स्वप्न दर्शन का तिरोधान होते ही श्रीजीवगोस्वामीजी व्याकुल हो गये। प्रभु का दर्शन पाकर बेसुध होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। उस बेसुधी में इन्हें श्रीकृष्ण-बलराम श्रीगौरांग नित्यानंद के रूप में दृष्टिगोचर होने लगे। ये युगल के श्रीचरणों में लोट-पोट हो गये। श्रीगौरांगसुन्दर ने इन्हें उठाकर हृदय से लगा लिया और पुनः इन्हें श्रीनित्यानन्दजी के चरणों में डाल दिया। इतने में ये पुनः चैतन्य हो गये। स्वप्न दर्शन की स्मृति कर प्रत्यक्ष दर्शन के लिये विकल हो उठे। यही इनके गृह-त्याग की भूमिका है। अलौकिक प्रतिभा होने के कारण आपने अत्यन्त अल्पकाल में ही समस्त व्याकरण, साहित्य, काव्य-कोश, शास्त्र-पुराणादि का सम्यक् अध्ययन कर लिया। श्रीमद्भागवत में आपका परमानुराग था। विशेष अध्ययन का बहाना बनाकर आप श्रीनवद्वीप चले गये। वहाँ पर श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुजी का दर्शन एवं कृपा-प्रसाद प्राप्त हुआ। श्रीनित्यानन्द महाप्रभुजी इन्हें श्रीब्रजवास का आदेश दिया। आज्ञा शिरोधार्य कर आप समस्त वैष्णवों से भी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर श्रीवृन्दावन के लिये चल पड़े। आते समय मार्ग में कुछ दिन तक काशी में निवासकर श्रीजगन्नाथपुरी के सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्यजी के कृपापात्र श्रीमधुसूदन वाचस्पतिजी की सन्निधि में रहकर न्याय, वेदान्त आदि विविध शास्त्रों के साथ-साथ उन वेदान्त-सिद्धान्तों का भी श्रवण किया, जिन्हें श्रीवासुदेव भट्टाचार्यजी ने श्रीगौरांग महाप्रभु के श्रीमुख से श्रवण कर पुनः अपने शिष्य श्रीमधुसूदन वाचस्पति को सुनाया था। तत्पश्चात् आप श्रीवृन्दावन आ गये और यहाँ श्रीरूप-सनातनजी के समाश्रय में रहने लगे। आपने श्रीरूपगोस्वामीजी के द्वारा मन्त्र-दीक्षा ली थी। श्रीरूप-सनातनजी की सन्निधि में रहकर आपने श्रीमद्भागवतादि भक्ति शास्त्रों का अध्ययन किया था। आपके अपार शास्त्र ज्ञान को देखकर लोग आपको दूसरे वेदव्यास ही कहते थे।

एकबार एक दिग्विजयी पण्डित सर्वत्र दिग्विजय करते हुए श्रीवृन्दावन आये। उन्होंने श्रीरूपगोस्वामीपादजी को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। परम भागवत श्रीरूपजी ने श्रीनारद भक्ति सूत्र के ''वादो नावलम्बय:'' अर्थात् भक्ति परायण पुरुष को वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिये। इस सूत्र का स्मरण कर शास्त्रार्थ किए बिना ही पण्डित के लिये विजयपत्र लिख दिया। दिग्विजयी पण्डितजी ने सर्वत्र यह घोषणा करा दी कि श्रीरूपगोस्वामीजी की हार और मेरी जीत हो गई। जब यह बात श्रीजीवगोस्वामीजी ने सुनी तो उन्हें यह श्रीगुरुदेव का अपमान असह्य हो गया। इन्होंने दिग्विजयी को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा और क्षणमात्र में उसे हरा दिया। जब यह प्रसंग श्रीरूपजी ने सुना तो वे बहुत ही रुष्ट हुये और श्रीजीवगोस्वामी को बुलाकर फटकार लगाते हुये बोले-''तुमसे एक ब्राह्मण की इतनी बात भी नहीं सही गयी। तुमने ब्राह्मण को तो जीत लिया परन्तु मन के आवेग को नहीं जीता। जाओ, आज से मैं तुम्हारा परित्याग करता हूँ। मैं तुम्हारा मुख नहीं देखूँगा।'' श्रीजीवगोस्वामीजी श्रीगुरु के वचनों का प्रत्याख्यान नहीं कर सके। ये श्रीचरणों में प्रणामकर उसी क्षण वहाँ से चल दिये और बहुत दूर श्रीयमुनाजी के तीर नन्दघाट पर जाकर कगार में ही एक छोटी सी गुफा बनाकर रहने लगे। श्रीहरिइच्छा से स्वत: जो कुछ मिल जाता उसी से जीवन निर्वाह करते हुये निरन्तर भजन तथा ग्रन्थ रचना में लगे रहते थे। 'षट् सन्दर्भ' एवं ''सम्वादिनी'' ये दोनों रचनायें उसी समय की हैं। कई-कई बार तो आप केवल आटा घोलकर पीकर रह जाते थे। भोजन की इस अव्यवस्था के कारण आपको जलोदर रोग हो गया।

श्रीहरिइच्छा से एकदिन श्रीसनातनजी घूमते हुये उसी गाँव में जा पहुँचे और एक व्रजवासी के द्वार पर खड़े होकर मधुकरी के लिये 'राधे-राधे' की आवाज लगायी। उस समय गृह-स्वामिनी व्रजवासिनी आँगन लीप रही थी। उसने सोचा कि आँगन लीप लूँ तो बाबा को भिक्षा दूँ। इतने में थोड़ी ही देर बाद उन्होंने फिर आवाज लगाई। अब तो वह व्रजवासिनी झुँझलाकर बोली-''यह बाबा न जाने कहाँ से घोड़े पर चढ़ा चला आया है? इसे नेक भी सब्र नहीं है। इससे तो हमारा बाबा ही अच्छा है, जो केवल आटा घोलकर ही पी लेता है।'' यह सुनकर श्रीसनातनजी के मन में वृद्धा के बाबा के दर्शनों की प्रबल इच्छा हुई। परन्तु श्रीसनातनजी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब उन्होंने देखा कि वृद्ध के बाबा तो अपने ही 'जीव' हैं। श्रीजीव गोस्वामीजी ने श्रीसनातनजी के श्रीचरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीजीवगोस्वामीजी के शरीर की दुरवस्था देखकर श्रीसनातनजी अधीर हो उठे। समस्त वृतान्त विदित होने पर श्रीजीवगोस्वामीजी को अपने साथ लेकर श्रीरूपजी के पास आये और बोले-''रूप! श्रीगौरांगमहाप्रभुजी के उपदेश तुम्हें याद हैं।''

श्रीरूप ने कहा-"हाँ, याद हैं।" 'जीवे दया, नामे रुचि, वैष्णव सेवा।।" यही श्रीमहाप्रभुजी ने सर्वप्रथम उपदेश दिया था। श्रीसनातनजी ने कहा-"जब समस्त जीवों पर दया करने का उपदेश प्राप्त है तो अपने इस जीव पर इतना रोष क्यों? यह कहते हुये श्रीसनातनजी ने श्रीजीवगोस्वामीजी को श्रीरूपजी के चरणों में डाल दिया। श्रीरूपजी ने उठाकर हृदय से लगा लिया। फिर यथोचित उपचार कराया गया, जिससे इनका जलोदर रोग ठीक हो गया।

एकबार एक सज्जन ने श्रीजीव गोस्वामीजी से पूछा-"जगत् सत्य है अथवा असत्य।" उस समय आप भगवान की सेवा में थे। आपने सहज भाव से कहा-"श्रीकृष्णचरणाम्भोजं सत्यमेव विजानताम्। जगत्सत्यमसत्यं वा नेतरेति मतिर्मम।।" अर्थात् मैं तो श्रीकृष्ण के श्रीचरणाविन्दों को ही परम सत्य मानता हूँ। संसार सत्य है अथवा असत्य है, इन बाह्य विषयों में मेरी बुद्धि जाती ही नहीं। यह अति संक्षिप्त परन्तु परम भावपूर्ण उत्तर सुनकर उक्त सज्जन बड़े ही प्रभावित हुये। तभी तो श्रीनाभाजी ने कहा है-"सन्देहग्रन्थि छेदनसमर्थ।" श्रीरूप-सनातनजी के तिरोधान के बाद आप ही श्रीमन्माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदायाचार्य पद पर विराजमान हुये। आपके सदुपदेशों एवं सद्ग्रन्थों के द्वारा असंख्यों जीवों का परम कल्याण हुआ। आपने कितने वैष्णवों को आचार्यत्व प्रदान कर देश-देशान्तरों में वैष्णवता का प्रचार करने के लिये भेजा। आपके अनन्त चरित्र हैं।

नित्यलीला में आप विलास-मंजरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। स्वर्णकेतकी के समान आपके शरीर की आभा है, शोण पुष्प के समान रक्त वस्त्र धारण करती हैं। श्रीप्रिया-प्रियतम के शरीर में विविध अंगराग एवं आँखों में अंजन लगाने की आपकी विशेष सेवा है। योगपीठ में सिंहासन के नैऋत्यकोण में आपकी स्थिति है।

श्रीगोपाल भट्ट आदि

[श्री] वृन्दावन की माधुरी इन मिलि आस्वादन कियौ।
सर्वसु राधा रमन भट्ट गोपाल उजागर।
हृषीकेश, भगवान, विपुल बीठल रससागर।।
थानेश्वरी जगन्नाथ, लोकनाथ, महामुनि मधु, श्रीरंग।
कृष्णदास पण्डित उभै अधिकारी हरि अंग।।
घमंडी, युगलकिशोर, भृत्य भूगर्भ जीव दृढ़ व्रत लियौ।
[श्री] वृन्दावन की माधुरी इन मिलि आस्वादन कियौ।।९४।।

शब्दार्थ—माधुरी = माधुर्य, मिठास। मिलि = मिलकर, सत्संग करके। हरि अंग = श्रीभगवत्प्रिय। आस्वादन = अनुभव।

भावार्थ—श्रीधाम श्रीवृन्दावन की माधुरी का इन परम महाभागवतों ने मिलकर अर्थात् परस्पर सत्संग द्वारा खूब आस्वादन किया। इनके नाम ये हैं-"परमविख्यात श्रीगोपालभट्टजी, जिनके सर्वस्व ठाकुर श्रीराधारमणजी थे। श्रीहृषीकेशजी, श्रीअलिभगवानजी, माधुर्यरस-सागर श्रीविट्ठलविपुलजी, श्रीजगन्नाथजी थानेश्वरी, श्रीलोकनाथगोस्वामीजी, महामुनि श्रीमधुगोस्वामीजी, श्रीरंगजी, ब्रह्मचारी श्रीकृष्णदासजी और पण्डित श्रीकृष्णदासजी ये दोनों श्रीहरिरस के अधिकारी एवं भगवान के परमप्रिय थे। श्रीयुगलकिशोरजी के सेवक श्रीउद्धव-घमण्डदेवाचार्यजी, श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी, श्रीजीव गोस्वामीजी आदि। इन परम महानुभावों ने श्रीधामवास का दृढ़ व्रत ले रखा था।।९४।।

श्रीवृन्दावन की माधुरी—भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम चारों ही मधुर हैं। यथा—"नाम मधुर" आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन विलोचन जन जिय जोऊ।।" (रामा०) "रूप मधुर" मूरति मधुर मनोहर देखी। भयऊ बिदेह बिदेह बिसेखी।।" (रामा०), "लीलामधुर" गोपी मधुरा, लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरम्। दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।" (मधुराष्टक) धाममधुर-"वृन्दावन की माधुरी...।" (प्रस्तुत छप्पय), भगवान के श्रीनाम, रूप, लीला की तरह ही भगवद्धाम में भी अद्भुत माधुर्य है। यथा-"जो कोउ वृन्दावन रस चाखै। खारी लगत खांड़ अरु खारक आन देस की दाखैं।। प्रानसमान तजत नहिं सीमा लोभ दिखावत लाखैं। भूखे रहिकैं पावैं भाजी निरखि रहैं तरु शाखैं।। परे रहैं कुंजनि के कोने स्याम राधिका भाखैं। जन गोविन्द बलबीर कृपातें पटरानी जू राखैं।।"''इन मिलि आस्वादन कियौ"-यदि यहाँ कोई शंका करे कि-"एक एक ने आस्वादन किया।" यह न कहकर "इन मिलि आस्वादन कियो" ऐसा क्यों कहा गया ? तो इसका समाधान यह है कि जैसे अमली (नशेबाज) लोग मिलकर अमल (नशा) करते हैं तो उन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता है, अमल भी विशेष चढ़ता है, अमल का विशेष स्वाद अनुभव में आता है, उसी प्रकार सत्संग के माध्यम से नाम, रूप, लीला, धाम का विशेष आस्वादन होता है। अब यहाँ कोई पुनः शङ्का करे कि भगवान श्रीदत्तात्रेयजी ने तो कुमारी कन्या की चूड़ी से अकेले रहने की शिक्षा ली थी। संक्षेप में वह प्रसंग इस प्रकार है-

एकबार किसी कुमारी कन्या के घर उसे वरण करने के लिये कुछ लोग आये हुए थे। उसी दिन उसके घर के लोग कहीं बाहर गए हुए थे। अतः उसने स्वयं ही उनका स्वागत किया। उनको भोजन कराने के लिए वह घर के भीतर एकान्त में धान कूटने लगी। उस समय

उसकी कलाई में पड़ी शंख की चूड़ियाँ जोर-जोर से बज रही थीं। उसे यह अच्छा नहीं लगा। अत: उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं और दोनों हाथों में केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं। अब वह फिर धान कूटने लगी। परन्तु वे दो-दो चूड़ियाँ भी बजने लगीं। तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाइयों में केवल एक-एक चूड़ी रह गई, तब किसी प्रकार की आवाज नहीं हुई। इस प्रसंग से श्रीदत्तात्रेयजी ने यह शिक्षा ली कि जब बहुत लोग साथ रहते हैं तब कलह होता है और दो आदमी साथ रहते हैं, तब भी बातचीत तो होती ही है। अत: कुमारी कन्या की चूड़ी की तरह अकेले ही विचरना चाहिए। यथा-''वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि। एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कंकण:।।'' (भा० ११-९-१०) तब फिर यहाँ ''इनमिलि आस्वादन कियौ'' यह क्यों कहा? समाधान—संग का सर्वथा निषेध योग-ज्ञान मार्ग में है। भक्तिमार्ग में सत्संग का निषेध नहीं है। यह तो नवधा भक्ति में प्रथम भक्ति है। यथा-''प्रथम भक्ति संतनकर संगा।।'' (रामा०), व्यवहार जगत् में जैसे विधवा के लिये चूड़ी का निषेध है, सौभाग्यवती को नहीं। बल्कि सौभाग्यवती को चूड़ी पहने देखकर तथा चूड़ी की रुनुक-झुनुक सुनकर उसके पति को प्रसन्नता होती है। उसी प्रकार जिस साधना में ईश्वर को जीव के स्वामी के रूप में नहीं स्वीकार किया जाता, वह साधना विधवा तुल्य है, उसमें विधवा की तरह एकाकी रहने में साधना का निर्वाह है। परन्तु भक्ति में तो जीव सर्वतोभावेन ईश्वर को स्वामी रूप से स्वीकार करता है। अत: यह उपासना-पद्धति सौभाग्यवती के समान है। इसमें सत्संगरूपी चूड़ी को पहनना अनिवार्य है। जीव को सत्संगपरायण देखकर भगवान प्रसन्न होते हैं और सत्संगचर्चा सुनकर सुख मानते हैं। अत: ''इन मिलि आस्वादन कियो'' यह कहा-श्रीधाममाधुरी का आस्वादन करते हुये श्रीनागरीदासजी कहते हैं-''हम तो भैया वृन्दावन रस अटके। जब लगि या रस अटके नाहीं तब लगि बहु जग भटके।। भये मगन सुख सिन्धु मांझ यहँ सब तजिकै जग खटके। नागरिया अब चरित विलोकत नागरि नागर नटके।।''

श्रीगोपालभट्ट गोसाँईजी

श्रीगोपालभट्टजू के हिये वै रसाल बसे लसे यों प्रगट राधारवन सरूप हैं।
नाना भोग राग करैं अति अनुराग पगे जगे जग माहिं हित कौतुक अनूप हैं।।
वृन्दावन माधुरी अगाधकौ सवाद लियौ जियौ जिन पायौ सीथ भये रस रूप हैं।
गुन ही कौ लेत जीव अवगुनको त्यागि देत करुनानिकेत धर्मसेत भक्तभूप हैं।।३७५।।

शब्दार्थ-रसाल=मधुर, रसस्वरूप। लसे=सुशोभित हुए।

भावार्थ—श्रीगोपालभट्टजी के भक्तिपूरित हृदय में रस स्वरूप श्रीकृष्ण निरन्तर निवास करते थे और वही हृदयस्थ भगवान श्रीकृष्ण कालान्तर में श्रीराधारमणलालजी के रूप में प्रकट होकर परम शोभा को प्राप्त हुये। श्रीगोपालभट्टजी अपने परमाराध्य श्रीराधारमण लालजी के अनन्य अनुराग में पगकर अनेक प्रकार के राग-भोग-सेवा में प्रस्तुत करते थे। भक्ति के प्रभाव से आप जगद्विख्यात हुये। आपके अनेकों अनुपम प्रेममय चरित्र हैं। आपने आजीवन श्रीवृन्दावन की अगाध माधुरी का रसास्वादन किया तथा जिसने आपकी सीथ प्रसादी पायी वह भी दिव्य जीवन पाकर रसस्वरूप हो गया। आप जीवमात्र के गुण को ही ग्रहण करते थे, अवगुणों को ध्यान में नहीं लाते थे। आप बड़े ही करुणाधाम, धर्म के सेतु (पुल) तथा भक्तराज थे।।३७५।।

व्याख्या—हिये वै रसाल बसे—भक्तिपूरित शुद्धान्तःकरण में भगवान स्वतः विराजमान होकर भक्त को परमानन्द प्रदान करते हैं। यथा-''शंकर हृदि पुण्डरीक निवसत हरि चंचरीक निर्व्यलीक मानत गृह सन्तत रहे छाई।।'' (गीतावली), ''मुनि मानस पंकज भृंग भजे।'' (रामा०) ''बीनैं तानो बानो हिये राम मँडरानो.....।'' (श्रीभक्तमाल क०-२७०), ''बस्यो उर स्याम अभिराम कोटि काम हूते.... '' (श्रीभक्तमाल क०-५८४)।

दृष्टान्त—चित्रकार का—एक बादशाह ने लाखों रुपये लगाकर एक नवीन महल बनवाया था। वह उस महल में सुन्दर चित्रकारी करवाना चाहता था। इसके लिये उसने अपने वजीर से कहा कि कहीं से कोई बढ़िया चित्रकार लिवा लाओ। वजीर ने चित्रकार का पता लगाकर उसे बुलाने के लिये चोबदार को भेजा। चोबदार जब चित्रकार के घर गया तो पता चला कि वह घोड़ा फेरने नगर से बाहर के मैदान में गया है। पता लगाते हुये चोबदार वहीं पहुँचा और वजीर का हुक्म सुनाया। चित्रकार ने कहा-जब-खूब अच्छी तरह से घोड़ा फेर लूँगा, घोड़े का तथा मेरा भी खूब मनोरंजन हो जायेगा तब चलूँगा। तब चोबदार ने कहा कि-'' अच्छा, अपनी कला का कोई नमूना दीजिये।'' चित्रकार ने कहा-''यहाँ तो मेरे पास कोई नमूना नहीं है। चोबदार ने आग्रह किया कि परिचय के लिये कुछ तो दीजिये। तब चित्रकार ने सिर से अपनी पाग उतारी और उसका एक छोर चोबदार को तथा दूसरा छोर एक आदमी को पकड़वाया और कहा-''तुम दोनों इसे खींचकर अच्छी तरह फैलाओ जिसमें इसकी सिकुड़न मिट जाय। जब उन दोनों ने तानकर पाग को खींचा तो चित्रकार ने रंग भरने की तूलिका, जो संयोग से उसकी पाग में घुसी थी, जिसमें रंग का अंश भी था, तनिक सा जल में भिगोकर घोड़े पर चढ़े-चढ़े पाग पर इस छोर से उस छोर तक फेर दी और चोबदार से कहा-''इसको ले जाओ, यही हमारी कला का नमूना है। चोबदार ने बादशाह के सम्मुख वह पाग

पेश की। जब कला का परीक्षण करने के लिये उस पाग को ध्यान से देखा गया तो देखने में यह आया कि चित्रकार ने जिस तागे पर तूलिका चलाई थी उसी तागे पर आदि से लेकर अन्त तक तूलिका चली गयी थी। बीच में कहीं दूसरे धागे से स्पर्श भी नहीं हुआ था। कलाकार का यह हस्तकौशल देखकर बादशाह बहुत ही प्रसन्न हुआ, तब तक चित्रकार भी दरबार में आ उपस्थित हुआ और बादशाह को सलाम कर अपना परिचय दिया। बादशाह ने पूछा–''तुम कितना बढ़िया चित्र बना सकते हो ?'' कलाकार ने गर्व में भरकर कहा–''बेअदबी माफ हो, मैं इतना बढ़िया चित्र बनाऊँगा कि एक खुदा को छोड़कर दूसरा कोई उतना बढ़िया चित्र नहीं बना सकता। फिर तो बादशाह ने सेवकों को हुक्म दिया कि ये जो भी सामग्री माँगें इन्हें सब दी जायँ। इतने में ही कहीं से एक दूसरा चित्रकार भी दरबार में आ गया और उसने अर्ज किया–''मैं इनसे भी बढ़िया चित्र बना सकता हूँ। बादशाह ने कहा–''बहुत अच्छा, तुम दोनों ही चित्र बनाओ। तुम्हें भी जो कुछ रंग-रोगन चाहिये वह सब बताओ, मैं अभी मँगवा देता हूँ। इस दूसरे चित्रकार ने कहा–''और सब वस्तु हमारे पास है। आप तो मेरे लिये एक बढ़िया सा सन्दला (चार पाँवों की सीढ़ी) बनवा दीजिये तथा हमारे और इनके बीच में एक पर्दा डाल दिया जाय, जिससे कि ये न तो हमारा चित्र देख सकें और न हम इनका चित्र देख सकें। चित्र तैयार होने पर ही पर्दा हटाया जायेगा, तब आप दोनों चित्रों को एक साथ देखियेगा। इस दूसरे कारीगर के कथनानुसार ही बादशाह ने सब व्यवस्था करवा दीं। दोनों चित्रकार अपने-अपने काम में जुट गये। पहला कारीगर एक तो अत्यन्त कुशल कलाकार था, दूसरे कला की होड़ लग गयी थी, अतः उसने अत्यन्त लग्न से, बड़े ही मनोयोगपूर्वक बहुत ही बढ़िया चित्र बनाया। इधर दूसरे कारीगर ने बीच में पर्दा डालकर सन्दला लगाकर दीवार पर घोंटा फेरकर उसकी सफाई करने लगा। कुछ दिन बाद पहले चित्रकार ने बादशाह से अर्ज किया कि मेरा चित्र तैयार हो गया। तब बादशाह ने दूसरे चित्रकार से पूछा कि तुम्हारे चित्र में क्या देर है? उसने कहा कि हमारा भी चित्र तैयार है, अब पर्दा हटवा दिया जाय। जब पर्दा हटाया गया तो पहले चित्रकार द्वारा निर्मित चित्र का प्रतिबिम्ब हूबहू (जैसा का तैसा) दूसरे चित्रकार द्वारा साफ की गई सामने की दीवार पर दिखाई देने लगा। बादशाह दोनों चित्रों को अत्यन्त अच्छी तरह देखकर प्रसन्न होकर बोला–''चित्र तो दोनों अच्छे हैं, परन्तु दूसरे वाले चित्रकार के चित्र में कलम की बारीकी विशेष है तथा चमक भी चौगुनी है। पहला चित्रकार एवं अन्य दर्शकगण—सभी दूसरे कलाकार की कला को देखकर चकित व मुग्ध हो रहे थे। रहस्य का ज्ञान किसी को नहीं था। जिज्ञासा करने पर दूसरे कलाकार ने अपना कौशल प्रगट किया। यह है दृष्टान्त। दार्ष्टान्त में इसी प्रकार जब हृदय अत्यन्त शुद्ध हो जाता है तो भगवान का दिव्य स्वरूप अपने आप आभासित होने लगता है। श्रीगोपाल भट्टजी ऐसे ही निर्मल हृदय वाले थे, अतः कहते हैं–''हिये वे रसाल बसे''।

प्रगट राधा रवन स्वरूप हैं—श्रीगोपालभट्टजी के सेव्य प्रथम श्रीशालग्रामजी भगवान थे। जिन्हें वे स्वयं श्रीमुक्तिनाथजी की यात्रा के सिलसिले में गण्डकी नदी से लाये थे। आप शास्त्रीय विधि से अनुरागपूर्वक श्रीशालग्राम भगवान की सेवा करते थे। कहते हैं एकदिन एक परम भागवत धनवान सेठ श्रीवृन्दावन आया और उसने श्रीवृन्दावनस्थ सभी ठाकुर-विग्रहों के लिये वस्त्र-आभूषणों की सेवा करने का संकल्प किया। अपने संकल्प के अनुसार उसने सभी मन्दिरों में श्रीठाकुरजी के लिए वस्त्राभूषण भेंट किया। उसी सिलसिले में वह श्रीगोपाल भट्टजी के पास भी आया और इनके श्रीठाकुर के लिये भी वस्त्राभूषण भेंट किया। इन्होंने विवशता प्रकट की कि हमारे संसेव्य ठाकुर तो श्रीशालग्राम भगवान हैं। ये भला कैसे इन वस्त्राभूषणों को धारण कर सकते हैं? आप अन्यत्र कहीं ले जाइये। वह धनी तो श्रीगोपालभट्टजी की भक्ति की प्रशंसा पहले ही सन्तों से सुन चुका था अतः उसकी इनमें तथा इनके भगवान में बड़ी निष्ठा हो गयी थी। श्रीगोपालभट्टजी की अस्वीकृति से उसे बड़ा ही क्षोभ हुआ। वह मन मसोसकर वहाँ से चलने को उद्यत हो रहा था। इधर श्रीगोपालभट्टजी के मन में भी क्षोभ हुआ कि मेरे पास श्रीविग्रह स्वरूप श्रीठाकुरजी नहीं हैं। होते तो मैं भी उनका सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषणों से खूब साज-शृङ्गार करता। देखो, सेवार्थ आया हुआ वस्त्राभूषण लौटा जा रहा है। फिर विचार आया कि भक्त उदास जा रहा है, भावपूर्वक भेंट लाया था। कम से कम इसे तुलसी दल दे दूँ। यह सोचकर आप श्रीशालग्राम भगवान के यहाँ तुलसी लेने गये तो क्या देखते हैं कि भक्तवाञ्छा कल्पतरु भगवान श्रीशालग्रामजी नीलसरोरुह, नीलमणि, नीलनीरधर श्याम त्रिभंग ललित, द्विभुज, मुरलीधर, मधुर मनोहर मूर्ति के रूप में विराजमान होकर मन्द-मन्द मुस्कुरा रहे हैं। इस पर-

दृष्टान्त—तपस्वीजी का—श्रीअयोध्याजी में सुप्रसिद्ध सन्तसेवी स्थान श्रीतपस्वीजी की छावनी के संस्थापक परम तपस्वी श्री १०८ श्रीरामदासजी महाराज के सेव्य श्रीशालग्राम भगवान भी श्रीतपस्वीजी के परम प्रेम पर रीझकर श्रीरामलालजी के रूप में प्रकट होकर अद्यापि अपने दर्शनों से भक्तजनों को कृतार्थ कर रहे हैं। हाँ, तो श्रीगोपालभट्टजी को देखकर भगवान बोले-"भक्तराजजी! देखिये, आपके लिए मैंने श्रीविग्रहरूप धारण कर लिया है। अब आप उस भक्त से वस्त्राभूषणों की भेंट ले लीजिये और प्रेमपूर्वक मुझे धारण कराकर अपने तथा उन भक्त के भी मनोरथ को पूर्ण कीजिये। श्रीमूर्ति का दर्शन कर तथा भगवान के परम मधुर वचनामृत को श्रवणकर श्रीगोपालभट्टजी के आनन्द का पारावार नहीं रहा। आप तुरन्त दौड़ आए और भक्त को सूचित किये कि भैया! तू धन्य है। तेरी भेंट को अंगीकार करने के लिए

श्रीठाकुरजी ने श्रीविग्रहस्वरूप धारण कर लिया है।'' यह सुनकर भक्त भी आनन्द सिन्धु में डूब गया। ''श्रीगोपालभट्टजी ने शीघ्र ही श्रीरूपसनातनजी एवं अन्य अनेक वैष्णवों को बुलाकर श्रीविग्रह का अभिषेक महोत्सव मनाया। श्रीविग्रह का श्रीशुभनाम रखा गया-''श्रीराधा-रमणदेवजी।'' उस समय आपने यह पद गाया था-''श्रीराधारमन हमारे गीत। ललित त्रिभंगी श्याम सलोने कटि पहिरे पट पीत।। मुरलीधर मन हरन छबीले छके प्रिया की प्रीत। गुन मंजरी विदित नागरवर जानत रसकी रीत।।'' उस दिन वैशाख मास की पूर्णिमा तिथि थी। आज भी इस तिथि को ठाकुर श्रीराधारमणलालजी का प्राकट्य महोत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। ''गुनही कौ लेत०''-यह सन्तों का सहज स्वभाव है। यथा-''अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। विप्रधेनु हित संकट सहहीं।।'' (रामा०), श्रीविठ्ठलदासजी (माथुर) के लिये भी आया है। यथा-''तिलक दाम सौं प्रीति गुनहिं गुन अन्तर धार्‌यौ।।'' (छप्पय-८४)।

दृष्टान्त—एक राजा का—वासुदेव नाम के एक राजा सहज स्वभाव सबमें गुण ही गुण देखते थे। उनके इस गुण से देवराज इन्द्र बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने एक दिन देवताओं की सभा में राजा की बड़ी बढ़ाई की कि वह राजा अपने गुणों से मर्त्यलोक की तो बात ही क्या, देवलोक वासियों से भी श्रेष्ठ है। देवेन्द्र की यह बात देवताओं को अच्छी नहीं लगी। वे बोले-''भला मर्त्यलोक का साधारण प्राणी हम देवताओं से श्रेष्ठ कैसे हो सकता है?'' इन्द्र ने कहा न मानो तो परीक्षा करके देख लो। फिर तो एक देवता मृतक श्वान का स्वांग करके दाँत निकालकर मार्ग में जा पड़े। उस मृत श्वान के शरीर से महादुर्गन्ध निकल रही थी, मक्खियाँ भिनक रही थीं। उसी मार्ग से राजा वासुदेव जा रहे थे। उनके संग के सब लोग तो कुत्ते को देखकर नाक-भौंह सिकोड़ने लगे, भला-बुरा कहने लगे। परन्तु राजा ने कहा-''वाह, इस कुत्ते के दाँत कैसे सुन्दर कुन्दकली के समान चमक रहे हैं।'' इतने वीभत्स रूप में भी राजा की गुणदर्शिनी दृष्टि ने गुण खोज ही लिया। यह देखकर वह देवता बड़े प्रसन्न हुए और साक्षात् प्रकट होकर राजा को दर्शन तथा मनोवाञ्छित वरदान दिये। '' साधु पुरुष गुण में तो गुण देखते ही हैं, दोष में भी गुण देखते हैं।'' इसके विपरीत असाधु पुरुष दोष में तो दोष देखता ही हैं, गुणों में भी वह दोष ही खोजता रहता है। यथा-''गुन में अवगुन खोजही प्रकृति के जो नीच। जैसे जूही बाग में सूकर खोजै कीच।।''

विशेष—श्रीगोपालभट्टजी का प्रादुर्भाव, श्रीरङ्गम क्षेत्रस्थ बेलंगुड़ि ग्राम में वि०सं० १५५७, माघ मास, कृष्ण पक्ष, तृतीया तिथि को हुआ था। आपके पिताजी का नाम श्रीवेङ्कटभट्ट एवं माताजी का नाम श्रीसदम्बाजी था। श्रीगौरांगमहाप्रभुजी के प्रिय पार्षद श्रीप्रबोधानन्दजी

आपके चाचा लगते थे। श्रीप्रबोधानन्दजी का घर का नाम प्रबुद्ध था। ये षट् दर्शनों के पारंगत विद्वान थे। श्रीगोपालभट्टजी ने इन्हीं से न्याय, वेदान्त, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, अलंकारादि का अध्ययन किया था। संन्यास ग्रहण करने के अनन्तर श्रीगौरांग महाप्रभुजी ने जब दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा की तो इनके पिता के आग्रह पर श्रीमहाप्रभुजी ने चातुर्मास्य इनके यहाँ ही किया था। उस समय श्रीगोपालभट्टजी एकादश वर्ष के थे। इन्होंने प्रथम दर्शन में ही श्रीमहाप्रभुजी के श्रीचरण कमलों में अपना तन, मन, प्राण सर्वस्व ही समर्पण कर दिया था। इनके परमानुराग को देखकर श्रीमहाप्रभुजी इन्हें गोद में बिठाकर अपने स्नेहाश्रुओं से संसिक्त करते हुए व्रजलीला के निगूढ़तम भावों का उपदेश करते रहे। जब चातुर्मास्य समाप्ति के बाद श्रीमहाप्रभुजी वहाँ से चलने को प्रस्तुत हुये तो श्रीगोपालभट्टजी भी साथ चलने के लिये हठ करने लगे। तब श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें माता-पिता की सेवा के बाद श्रीवृन्दावन जाकर श्रीरूप-सनातनजी की सन्निधि में रहते हुए भक्ति ग्रन्थों का अध्ययन, व्रज के लुप्त तीर्थों का उद्धार, वैष्णवग्रन्थों का प्रणयन एवं भक्ति के प्रचार का आदेश दिया। श्रीगोपालभट्टजी ने श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा का सर्वतोभावेन पालन किया। यथा समय पूज्य माता-पिता के देहावसान के बाद श्रीगोपालभट्टजी सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावन चले आये। यहाँ श्रीरूप-सनातनजी का दर्शन कर अपने को परम भाग्यशाली माने। श्रीरूप-सनातनजी भी अपना एक सुयोग्य सहयोगी पाकर परमानन्दित हुये। उन दिनों श्रीमहाप्रभुजी श्रीनीलाचल में विराज रहे थे। श्रीरूपसनातनजी ने एक वैष्णव के हाथ पत्र भेजकर श्रीगोपालभट्टजी के आगमन की सूचना श्रीमन्महाप्रभुजी को भेजी। यह समाचार श्रवण कर श्रीमहाप्रभुजी भी बड़े प्रसन्न हुये और फिर आपने भी एक वैष्णव के हाथ श्रीजगन्नाथ भगवान की प्रसादी तुलसी माला, अपना वहिर्वास तथा योगपट्ट, जिस पर विराजमान होकर आप श्रीभगवद्स्मरण-चिन्तन किया करते थे, यह तीनों वस्तुयें प्रसाद रूप में श्रीगोपालभट्टजी के लिए भेजीं। श्रीगोपालभट्टजी ने श्रीमहाप्रभुजी की इस असीम अहैतुकी अनुकम्पा को देखकर प्रेमविह्वल हो गये। इसी कृपा के परिणामस्वरूप आगे चलकर इनके सेव्य श्रीशालग्राम भगवान से साक्षात् श्रीकृष्णजी की श्रीमूर्ति श्रीराधारमंणजी का आविर्भाव हुआ, जिनकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं।

ठाकुर श्रीराधारमणजी का श्रीगोपालभट्टजी के प्रति कैसा स्नेह था, यह इस एक कथा से सुस्पष्ट होता है-"एक बार श्रीगोपालभट्टजी ने एक बहुत बड़ा महोत्सव मनाया। जिसमें एक बनियाँ का कुछ कर्ज हो गया। धन के अभाव में ये यथा समय कर्ज नहीं चुका सके। तब बनियाँ ने निश्चय किया कि कल प्रातः इनके घर पर ही चलकर जैसे हो तैसे रुपया

वसूल करके ही छोड़ूँगा। श्रीराधारमणजी ने विचार किया कि प्रातःकाल तो श्रीभट्टजी मेरी सेवा-पूजा, राग-भोगादि के आनन्द में मग्न रहते हैं। यदि यह बनियाँ उस समय आया तो मेरे भक्त के आनन्द में अन्तराय पड़ जायेगा, अतः आप स्वयं ही श्रीगोपालभट्टजी का रूप धारणकर बनियाँ के घर जाकर उसके रुपयों का भुगतान कर आये। संयोग से उसी दिन किसी सेवक ने श्रीगोपालभट्टजी को प्रचुर धनराशि भेंट की। अतः आपने सोचा कि कल बनियाँ का कर्ज चुकता कर दूँगा। दूसरे दिन जब श्रीभट्टजी उस बनियाँ के घर गये और रुपया देने लगे तो उस बनियाँ ने कहा कि-''महाराज! आप क्या कर रहे हैं? आप रुपया तो कल प्रातःकाल ही चुकता कर गये थे। श्रीगोपालभट्टजी समझ गये कि यह सब श्रीठाकुर श्रीराधा-रमणजी की ही लीला है। श्रीप्रभु की कृपा विचार कर आपके नेत्र सजल हो गये।

यथासमय श्रीसनातन गोस्वामीपादजी ने इन्हें श्रीमन्महाप्रभुजी के आदेश की याद दिलाई और उन्हें अपने द्वारा संकलित वैष्णव दर्शन-स्मृति तथा वैष्णव शास्त्रों के संकलन-सम्पादन की ओर प्रवृत्त किया। इन्होंने अनेकों ग्रन्थों की टीकाएँ एवं अनेकों नवीन ग्रन्थ रचनायें कीं। जिनमें श्रीहरिभक्तिविलास, सत्क्रियासार दीपिका संस्कार दीपिका प्रमुख हैं। इस प्रकार समग्र जीवन श्रीहरिभक्ति प्रचार-प्रसार में अर्पण कर आपने शकाब्द १५०७ आषाढ़ मास, शुक्ल पक्ष, पंचमी को नित्यलीला में प्रवेश किया। व्रज की नित्यलीला में आप गुणमञ्जरी हैं। विद्युत् वर्ण आपकी अंग कान्ति है। जवा कुसुम के समान लाल वस्त्रों को धारण करती हैं। श्रीप्रिया-प्रियतम के चँवर डुलाने की तथा जल पिलाने की आपकी प्रधान सेवा है। योगपीठ में सिंहासन के अति निकट दक्षिण दिशा में विराजती हैं। आपके सम्बन्ध में श्रीहितध्रुवदासजी कहते हैं-
''अतिविरक्त संसारते, बसे विपिन तजि भौन। प्रीति सहित गोपालभट्ट सेये राधा रौन।।''

श्रीअलि भगवानजी

अलि भगवान राम सेवा सावधान मन वृन्दावन आये कछु औरै रीति भई है।
देखे रासमण्डलमें विहरत रसरास बाढ़ी छबि प्यास दृग सुधि बुधि गई है।।
नाम धरि रास औ बिहारी सेवा प्यारी लागी खगी हिय मांझ गुरु सुनी बात नई है।
बिपिन पधारे आप जाय पगधारे सीस 'ईश मेरे तुम' सुख पायौ कहि दई है।।३७८।।

शब्दार्थ—खगी=धँसी, चुभी, पसन्द आयी। विपिन=श्रीवृन्दावन।

भावार्थ—संत श्रीअलि भगवानजी प्रथम श्रीरामजी के भक्त थे। बड़े ही मनोयोगपूर्वक श्रीरामजी की सेवा-पूजा करते थे। परन्तु श्रीवृन्दावन आने पर इनकी कुछ और ही रीति

हो गयी। रासमण्डल में रासेश्वर श्रीकृष्ण को श्रीराधिकाजी एवं असंख्य ब्रजगोपियों के साथ विहार करते हुए देखकर आपकी सुध-बुध खो गई अर्थात् आप एकदम भाव-विभोर हो गये। नेत्रों को श्रीरासविहारी भगवान के दर्शनों की प्यास प्रबल हो उठी। आपने अपने सेव्य ठाकुर श्रीरामजी का नाम भी श्रीरासविहारी रख लिया और इसी रूप की सेवा आपको प्यारी लगने लगी। श्रीरासबिहारी भगवान की छवि आपके हृदय में बस गई। जब इनके श्रीगुरुदेवजी ने यह नई बात सुनी तो वे श्रीवृन्दावन आये। श्रीगुरुदेवजी का आगमन सुनकर आप भी गुरुजी का दर्शन करने आये और श्रीगुरुचरणों में माथा टेककर प्रणाम किये। जब श्रीगुरुजी ने पूछा कि- "तुमने उपासना क्यों बदल दी?" तब इन्होंने कहा कि-"मेरे गुरुदेवजी तो आप ही हैं और इष्ट भी श्रीसीतारामजी ही हैं। श्रीरासविहारी भगवान का दर्शन कर आत्मा को सुख मिला अतः इनकी ही सेवा करने लगा।" इनकी यह निश्छल हृदय की भाव भरी वार्ता सुनकर श्रीगुरुदेवजी बहुत प्रसन्न हुये और बोले कि कोई हर्ज नहीं है। श्रीरामजी और श्रीकृष्ण तो तत्वतः एक ही हैं, अतः इससे उपासना में कोई त्रुटि नहीं आई है। तुम तो खूब प्रेमपूर्वक श्रीरासविहारी भगवान की ही सेवा करो।।३७६।।

व्याख्या—श्रीअलिभगवानजी—आप प्रथम तो भगवान श्रीरामजी के अनन्य भक्त थे। एक बार इन्होंने श्रीरामलीलानुकरण में श्रीरामजी का वन-गमन प्रसंग देखा। (और वनगमन की कथा सुनी) बस, उसी समय से इनको श्रीरामजी का विरह व्याप गया। ये निरन्तर रोते रहते, क्रन्दन करते रहते, हा राम! हा रघुनाथ! कहते रहते थे। शरीर सूखकर एकदम जर्जर हो गया। ये बावले से भए इतस्ततः घूमते रहते। शुभचिन्तकों ने बहुत समझाने-बुझाने का प्रयत्न भी किया, परन्तु सब व्यर्थ गया। एक मर्मी सन्त ने इनकी दशा देखी, हृदय की व्यथा पहचानी। वे समीप आकर इनसे सब वृतान्त पूछे। इन्होंने भी उपयुक्त पात्र पाकर धीरे-धीरे अपनी मनोव्यथा कह सुनायी। संत ने कहा-"क्या आप कभी वृन्दावन गये हैं?" इन्होंने कहा- "नहीं"। तब वे संत इन्हें अपने साथ ही श्रीवृन्दावन लिवा लाये। श्रीवंशीवट पर श्रीरास-लीलानुकरण हो रहा था। वे इनको वहाँ दर्शन कराने हेतु ले गए। अधिकारी जानकर भगवान श्रीकृष्ण ने इन्हें लीलास्वरूप में ही अपनी दिव्य झाँकी का दर्शन कराया। भगवान का साक्षात्कार होते ही इनका विरह दूर हो गया। मन पग गया श्रीरासबिहारी भगवान में। मन में उमंग आई कि अब तो इन्हीं की सेवा करनी चाहिये। परन्तु दूसरे ही क्षण विचार आया कि श्रीगुरुदेवजी ने तो श्रीसीतारामजी की सेवा सौंपी है। अब यदि श्रीसीतारामजी की सेवा छोड़कर श्रीरासबिहारी भगवान की सेवा करता हूँ तो यह श्रीभगवदपराध होता है। बहुत

सोच-विचार के बाद यह निश्चय किये कि श्रीसीतारामजी की ही अब श्रीरासबिहारी-बिहारिणी के रूप में सेवा करूँगा। उसी दिन से ये अब श्रीसीतारामजी को श्रीरासबिहारी के नाम से पुकारने लगे और उनका समस्त साज-शृङ्गार भी अब राजाराम की जगह श्रीरासबिहारी का करने लगे। ऐसे ही श्रीनन्ददासजी (अष्टछाप वाले) भी पहले श्रीराम भक्त थे, श्रीवृन्दावन आकर श्रीविट्ठलनाथजी से प्रभावित होकर ही श्रीकृष्ण भक्त बन गये। श्रीकल्याणजी प्रथम में श्रीजगन्नाथजी के भक्त थे। परन्तु-"प्रान पयानो करत नेह रघुपति सों जोर्‌यौं।" (छ०-१८९), इन चरित्रों में यथावत् अनन्यता सुरक्षित है। "रघुवर यदुवर गाय विमल कीरति संच्यौ धन।।"

गुरु सुनी बात नई है—इनके श्रीगुरुजी के परिचय के एक सन्त श्रीवृन्दावन आये थे। उन्होंने इनकी रीति-प्रीति देखी तो जाकर इनके गुरुजी से शिकायत की कि आपका चेला तो बहक गया है। वह श्रीरामजी को छोड़कर श्रीकृष्णजी का भक्त हो गया है। श्रीवृन्दावन के ठाकुर ने उसे ठग लिया है। बात भी ठीक है। प्रेमिल हृदय देखकर श्रीठाकुरजी का मन ललचा जाता है कि काश, यदि यह मेरा प्रेमी बन जाता तो कितना अच्छा होता। बिल्व-मंगल का चिन्तामणि के प्रति अगाध प्रेम देखकर ही श्रीठाकुरजी ने उन्हें चिन्तामणि के द्वारा उपदेश दिलाकर अपने यहाँ बुला लिया। "श्रीतुलसीदासजी श्रीवृन्दावन आये तो उनके हृदय की भी निर्मलता देखकर श्रीकृष्ण प्रवेश करने लगे तो श्रीतुलसीदासजी ने कहा था-"यह हृदय तो श्रीरामजी का निवास स्थान है। यदि आपको भी यहाँ रहने की रुचि है तो आप श्रीराम रूप में आइये।" ऐसे ही श्रीमीराबाई आदि के हृदय में बरबस ही जाकर दखल जमा लिये। उसी प्रकार अलि भगवान का भी स्नेहिल हृदय श्रीकृष्ण को भाग गया अत: दर्शन देकर अपनी ओर आकृष्ट कर लिये। जब इनके श्रीगुरुदेवजी ने यह समाचार सुना तो वे भी श्रीवृन्दावन आये। श्रीगुरु आगमन सुनकर इन्होंने भी जाकर श्रीगुरुजी को सादर-सप्रेम-साष्टांग दण्डवत्प्रणाम किया। श्रीगुरुजी ने पूछा-"कहा कमी रघुवीर के, छांड़ि कुल की बान।" इन्होंने कहा-"मन अनुरागी ह्वै गयो, सुनि मुरली की तान।।" फिर सब बात सही-सही बता दी। श्रीगुरुजी तत्वज्ञ थे। अत: उन्होंने इनके भाव का समर्थन ही किया। यथा- "नन्दसुवन दसरथ कुँवर उभै एक सरकार। नारायन जो दो कहैं सो अविवेक विचार।। राम कृष्ण दोउ एक हैं, रंगरूप वपु भेष। उनके दृग गम्भीर हैं इनके चपल विशेष।।" इस प्रकार श्रीराम-कृष्ण कातत्त्वैक्य प्रतिपादन करके श्रीगुरुजी ने अलि भगवान को श्रीरासबिहारी भगवान की उपासना में दृढ़ किया। साथ ही यह चेतावनी भी दे दी कि अब इनको छोड़कर किसी अन्य देवी-देवता को न भजना। यही कहने के लिये मैं यहाँ आया हूँ। श्रीअलि भगवान आजीवन इसी निष्ठा में दृढ़ रहे और रसिकों के सत्संग में श्रीवृन्दावन की माधुरी का निरन्तर आस्वादन करते रहे।

श्रीबीठलविपुलदेवजी

स्वामी हरिदास जू के दास नाम बीठल है गुरुसे वियोग दाह उपज्यो अपार है।
रासके समाजमें विराज सब भक्तराज बोलिकै पठाये आये आज्ञा बड़ौभार है।।
युगल सरूप अवलोकि नाना नृत्य भेद गान तान कान सुनि रही न सँभार है।
मिलि गये वाही ठौर पायौ भावतन और कहे रससागर सो ताको यों विचार है।।३७७।।

भावार्थ—श्रीस्वामी श्रीबीठलविपुलदेवजी स्वामी श्रीहरिदासजी के शिष्य थे। श्रीगुरुदेवजी के नित्यलीला प्रवेश के अनन्तर इनके हृदय में श्रीगुरु वियोगजन्य अपार दाह उत्पन्न हुआ। इनकी उस विरह-ज्वाला को शान्त करने के लिए श्रीवृन्दावन के रसिकों ने रासलीला का आयोजन कराया। उसमें सभी रसिक महानुभाव उपस्थित थे। श्रीबीठल विपुलदेवजी को भी बुलाया गया। ''गुरोराज्ञा गरीयसी'' विचारकर आप भी रास के समाज में आये। लीलास्वरूप श्रीप्रियतम युगल की छबि का दर्शन करके एवं उनके अनेक नृत्य-भेद को देखकर तथा गान-तान कानों से सुनकर इन्हें अपने शरीर की सुधि नहीं रही। फलस्वरूप इस पाञ्चभौतिक शरीर को छोड़कर दिव्य भावशरीर प्राप्तकर श्रीप्रिया-प्रियतम की नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये, जहाँ इनके श्रीगुरुदेव स्वामी श्रीहरिदासजी विराजते थे। श्रीमद्गोस्वामी श्रीनाभाजी ने इन्हें छप्पय में जो रस सागर कहा है वह इनकी इस गुरुनिष्ठा एवं इष्ट निष्ठा को हृदय में विचार कर ही ''विपुल बीठल रससागर'' कहा है।।३७७।।

व्याख्या—स्वामी हरिदासजी के दास—श्रीबीठल विपुलदेवजी स्वामी श्रीहरिदासजी के पट्ट शिष्य थे। आप श्रीस्वामीजी के पूर्व आश्रम के मामा के लड़के थे। स्वनामधन्य श्रीगुरुजनजी एवं परम साध्वी श्रीकौशल्या देवी को इनका माता-पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आपका प्रादुर्भाव वि०सं० १५३२, मार्गशीर्ष मास, शुक्ल, पंचमी को हुआ था। आप आयु में स्वामी श्रीहरिदासजी से पाँच साल बड़े थे। कहते हैं कि जिस दिन श्रीस्वामीजी का प्रादुर्भाव हुआ, उस दिन श्रीबीठलविपुलदेवजी भी पिता के साथ जन्मोत्सव बधाई में आये हुए थे और श्रीस्वामीजी का दर्शन करके परम सुख पाये। पिता गुरुजन ने बालक बीठल विपुल का नवजात शिशु (श्रीस्वामीजी) में सहज स्नेह देखकर उन्हें श्रीस्वामी श्रीहरिदासजी के पास ही छोड़कर घर चले गये। इस प्रकार (श्रीबीठलविपुलदेवजी) को बाल्यावस्था से ही श्रीस्वामीजी का सत्संग प्राप्त हो गया था। परिणाम यह हुआ कि जब श्रीस्वामी संसार से उपरत होकर श्रीधाम श्रीवृन्दावन आये तो श्रीबीठलविपुलदेवजी भी सर्वस्व परित्याग कर

श्रीस्वामीजी के संग हो लिये। कालान्तर में श्रीस्वामीजी से ही आपने विधिपूर्वक मन्त्र-दीक्षा ली और मन, वचन, कर्म से श्रीस्वामीजी की ही सेवा में रहने लगे। श्रीस्वामी हरिदासजी का पूर्ण परमानुग्रह आपको प्राप्त था। श्रीस्वामीजी की कृपा से श्रीबाँकेबिहारीजी को नित्य-निकुञ्ज भवन से गोद में उठाकर बाहर लाने का सौभाग्य आपको ही प्राप्त हुआ था। (इस सम्बन्ध में विशेष देखिये श्रीस्वामीजी के प्रसंग में श्रीबाँकेबिहारीजी के प्राकट्य की कथा)।

गुरुसे वियोग—श्रीस्वामी हरिदासजी के नित्यनिकुञ्ज लीला में प्रवेश करने के अनन्तर आपके हृदय में अपार गुरु वियोग प्राप्त हुआ। जैसे भक्तिमती शबरी को श्रीमतंगजी के वियोग में दारुण दुःख हुआ था। यथा-''गुरु को वियोग हिये दारुन लै सोक दियो जियो नहीं जात....।'' (क०-३४), स्वामी श्रीहरिदासजी का अदर्शन होते ही आपने आँखों पर पट्टी बाँध ली थी। (इस पर दृष्टान्त-श्रीनिषादराज गुह का, देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५१७) साथ ही अन्न-जल का भी परित्याग कर दिया। सात दिन तक अविरल अश्रु प्रवाह करते हुये श्रीस्वामीजी के वियोग में तड़पते रहे। इनकी यह दशा देख सुनकर श्रीवृन्दावन के रसिक समाज में बड़ी खलबली मच गयी। आपकी जीवन रक्षा के लिए सब लोगों ने आपस में विचार-विमर्श करके रासलीला का आयोजन किया तथा लीलास्वरूप श्रीश्रीजी को सिखा दिया कि आप श्रीबीठलविपुलदेवजी का हाथ पकड़ लेना तथा श्रीठाकुरजी से भी निवेदन किया कि आप उनके सिर पर हाथ रखकर दर्शन करने का आग्रह करना। रासलीला प्रारम्भ हो गयी। रसिकों ने श्रीहरिरामव्यासजी को श्रीबीठलविपुलदेवजी को बुलाने के लिए भेजा। यद्यपि आपकी समाज में आने की तनिक भी इच्छा नहीं थी। परन्तु ''आज्ञा बड़ौ भार है'' अर्थात् गुरुजनों की आज्ञा टाली नहीं जा सकती है अतः आये। पूर्व के निश्चित संकेत के अनुसार श्रीश्रीजी के स्वरूप ने श्रीबीठलविपुलदेवजी का हाथ पकड़कर तथा श्रीठाकुरजी ने इनके सिर पर हाथ रखकर दर्शन करने का अनुरोध किया कि-''बाबा! आँख की पट्टी खोलकर मेरा दर्शन कर लो।'' इतना कहकर श्रीप्रियाजू ने इनके आँखों की पट्टी खोल दी। श्रीबीठल विपुलदेवजी ने श्रीप्रिया-प्रियतम युगल का दर्शन करके पूछा कि मेरे स्वामीजी कहाँ हैं? श्रीप्रियाजू ने कहा-''वह तो मेरे नित्यसखी परिकर में सम्मिलित हो गये हैं।'' श्रीबीठल विपुलदेवजी ने कहा- ''करुणा निधि मम स्वामिनी तुम पकर्‌यौ मम हाथ। अब करुणा करि लाड़िली राखि आपने साथ।।'' तत्पश्चात् आपने ''हा स्वामीजी'' यह कहते हुए सबके देखते-देखते भावरूप सखीरूप धारण करके नित्यलीला में प्रविष्ट हो गये। रसिक समाज में हा-हाकार मच गया।'' तभी तो श्रीनाभाजी ने ''विपुल बीठल रससागर'' कहा।

श्रीबीठलविपुलदेवजी की अपूर्व गुरुनिष्ठा देखकर सब लोग चकित हो गये। शास्त्रों में जैसा कहा गया है कि श्रीगोविन्द से भी बढ़कर श्रीगुरुदेव को समझना चाहिए। यथा-"तुम ते अधिक गुरुहिं जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी।।" (रामा०), श्रीबीठलविपुलदेवजी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। तभी तो श्रीनाभाजी ने इन्हें "विपुल बीठल रससागर" कहा है। "श्रीबीठलविपुलदेवजी की वाणी-"हमारे माई स्यामा जू को राज। जाके अधीन सदा ही सांवरो या ब्रज कौ सिरताज।। यह जोरी अविचल श्रीवृन्दावन नाहिं आनसों काज। श्रीबीठल विपुल विहारिनि के संग दिन जलधर ज्यौं गाज।। सजनी नव निकुंज द्रुम फूले। अलि कुलसंकुल करत कुलाहल सौरभ मनमथ मूले।। हरषि हिंडोरे रसिकराय वर युगल परस्पर झूलें। बीठल विपुल विनोद देखि नभ देव विमाननि भूलें।। प्रिया पीतम्बर मुरली जीती। हा हा करत न देति लाड़िली चरन लुठत निसि बीती।। राखो याहि दुराय सखी री ललितादिक रहो निचीती। बीठल विपुल विनोद बिहारी प्रगट करत रस रीति।। प्यारी नेक निरखौ नवरंग लालै। तुव पद पंकज तलरज बंदत तिलक बनावत भालै।। तेरे वरन बसन आभूषन उर धरि चम्पक मालै। बीठल विपुल विनोद करहु मिलि भुज भरि कण्ठ विसालै।।

श्रीजगन्नाथथानेश्वरीजी

महाप्रभु पारषद थानेश्वरी जगन्नाथ नाथकौ प्रकाश घर दिना तीनि देख्यो है।
भये शिष्य जान आप नाम कृष्णदास धर्‌यौ, कृष्णजू कहत सबै आदर विसेख्यो है।।
सेवा 'मनमोहनजू' कूपमें जनाइ दई, बाहर निकासि करी लाड़ उर लेख्यो है।
सुत रघुनाथजू कों स्वप्न में श्लोकदान, दयाके निधान पुत्र दियो प्रेम पेख्यो है।।३७८।।

भावार्थ—श्रीजगन्नाथ थानेश्वरीजी श्रीमहाप्रभु कृष्ण चैतन्यजी के पार्षद अर्थात् शिष्य थे। शिष्य होने के पूर्व ही इन्होंने घर पर ही श्रीजगन्नाथ भगवान का ज्योतिर्मय स्वरूप तीन दिन तक लगातार देखा। इसको भगवान की अहैतुकी कृपा विचार कर ये जगत से विरक्त होकर श्रीगौरांगमहाप्रभुजी के शिष्य हो गये। परम सुजान श्रीमहाप्रभुजी ने इनका नाम रखा- श्रीकृष्णदास। परन्तु अत्यन्त आदर वश सब लोग इन्हें कृष्णजी कहते थे। ठाकुर श्रीमनमोहनजी ने स्वप्न में इन्हें सूचित किया कि "मैं अमुक कुएँ में हूँ मुझे वहाँ से निकालकर मेरी सेवा का विस्तार करो।" प्रभु का संकेत पाकर ये उक्त कुएँ से श्रीमनमोहनजी को बाहर निकाले और अत्यन्त लाड़-प्यार से सेवा करने लगे। इनके एक पुत्र थे रघुनाथजी, जो सर्वथा विद्या विहीन थे। उनको सुबुद्ध बनाने के लिए दयानिधान भगवान ने स्वप्न में ही श्रीथानेश्वरीजी को एक श्लोक दिया और आज्ञा दी कि यह श्लोक अपने पुत्र को पढ़ा दो, वह इसके प्रभाव से

विद्वान् हो जायेगा। इन्होंने वह श्लोक अपने पुत्र को पढ़ाया तो सचमुच वह विद्वान् हो गया। इस प्रसंग से श्रीठाकुरजी का श्रीथानेश्वरीजी के प्रति अपार प्रेम देखने में आता है। इस प्रकार भक्त भगवान में परस्पर अन्योन्य प्रीति थी।।३७८।।

व्याख्या—नाथको प्रकाश....देख्यो है—वर्णन आया है कि आप बड़े सन्त सेवी थे। एक बार आपको श्रीजगन्नाथ के दर्शन की इच्छा हुई। परन्तु पुनः मन में विचार आया कि मेरे घर पर नहीं रहने से सन्तों का ठीक से सत्कार नहीं हो सकेगा। मैं भगवान का दर्शन करने जाऊँ और भगवान के अत्यन्त प्यारे साधु हमारे यहाँ से निराश जायँ, यह उचित नहीं है। अतः आपने जाने का निश्चय छोड़ दिया। तब एक शिष्य ने कहा कि-''महाराज! मेरी राय है कि आप अधिक नहीं केवल तीन दिन के लिए ही दर्शन को चलिये। तीन दिन तक और लोग सेवा सँभाले रहेंगे।'' आपने शिष्य की बात मानकर पुनः चलने का निश्चय कर लिया। ''तब दयानिधान भगवान ने इनकी सन्तसेवा निष्ठा तथा अपने प्रति भी प्रगाढ़ अनुराग देखकर घर पर ही तीन दिन तक लगातार दर्शन दिया।'' (इस पर दृष्टान्त-श्रीपृथ्वीराजजी का-इन्हें श्रीद्वारकाधीश भगवान ने घर पर ही दर्शन दिया था। विशेष देखिये छ०-११६, क०-४८१, ४८४), फिर तो ये यात्रा स्थगित कर सन्त सेवा में ही लगे रहे। श्रीप्रभु की कृपा एवं सन्त सेवा के प्रताप से इनकी संसार की आसक्ति सर्वथा मिट गई और ये श्रीमन्महाप्रभुजी के शिष्य हो गये।

श्रीजगन्नाथथानेश्वरीजी की श्रीभगवद्रूप में तन्मयता के सम्बन्ध में कथा आती है कि ये एक बार श्रीठाकुर श्रीमनमोहनजी का वसन्त का शृंगार कर रूपमाधुरी को पान करने में ऐसे तन्मय हो गये कि शरीर की सुधि-बुधि नहीं रही। इनकी इस तन्मयता को देखकर भगवान भी मुग्ध हो गये और जैसे श्रीथानेश्वरीजी श्रीप्रभु दर्शन में तन्मय हो रहे थे, उसी प्रकार श्रीठाकुरजी भी श्रीथानेश्वरीजी की भावदशा का दर्शन करने में तन्मय हो गये। श्रीठाकुरजी की तन्मयता ऐसी बढ़ी कि वे कीट-भृंग न्याय से श्रीथानेश्वरीजी को देखते-देखते श्रीथानेश्वरीजी के स्वरूप ही हो गये। संयोग से उसी समय श्रीजगन्नाथजी का एक शिष्य श्रीगुरु-गोविन्दजी का दर्शन करने आया। प्रथम उसने श्रीगुरुदेवजी का दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया। तत्पश्चात् वह श्रीठाकुरजी का दर्शन करने लगा। परन्तु उस समय उसे महान् आश्चर्य हुआ जब उसने श्रीठाकुरजी के सिंहासन पर श्रीठाकुरजी की जगह श्रीगुरुदेवजी को ही विराजमान देखा। आज उसे श्रीहरि और श्रीगुरु एक रूप में ही दिखायी पड़े। यह रहस्य उसकी समझ में नहीं आया। अतः उसने श्रीगुरुदेवजी से आकर इसका कारण पूछा।

इतने में श्रीथानेश्वरीजी प्रकृतिस्थ हो चुके थे। अत: श्रीप्रभु की भी तन्मयता भंग हो गयी, श्रीप्रभुजी अपने पूर्व स्वरूप में स्थित हो गये। श्रीथानेश्वरीजी को तत्काल श्रीप्रभुजी की तन्मयता का बोध हो गया। अत: आपने शिष्य से कहा-''अच्छा, इस बार जाकर दर्शन करो, तुम्हें प्रभु के ही दर्शन होंगे।'' अबकी बार सचमुच श्रीठाकुरजी के ही दर्शन हुए। फिर बाद में आपने शिष्य को इस रहस्य का बोध कराया।

श्रीलोकनाथ गोसाईंजी

महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यजू के पारषद लोकनाथ नाम अभिराम सब रीति है।
राधाकृष्ण लीला सौं रंगीनमें नवीन मन जैसे जल मीन तैसें निसि दिन प्रीति है।।
भागवत गान रसखान सो तौ प्राण तुल्य अति सुख मान कहैं गावैं जोई मीति है।
रसिक प्रवीन मग चलत चरण लागि कृपा कै जनाय दई जैसी नेह नीति है।।३७९।।

भावार्थ—श्रीमहाप्रभु कृष्ण चैतन्यजी के एक पार्षद थे, उनका सुन्दर नाम था श्रीलोकनाथजी। इनकी समस्त रीति रहनी-सहनी भी बड़ी सुन्दर थी। इनकी श्रीराधाकृष्ण की रसमयी नित्य नूतन लीलाओं में नित्य नवीन रुचि थी और मीन की जैसे जल से प्रीति होती है वैसे ही इनकी श्रीराधाकृष्णजी के प्रति अहर्निश एक रस प्रीति थी। रसरूप श्रीमद्भागवत महापुराण का गान, कीर्तन, पारायण इनको प्राण के समान प्रिय था। ये इसमें अत्यन्त सुख मानते थे और कहा करते थे कि जो कोई भी श्रीमद्भागवतजी का गान करते हैं वे मेरे मित्र हैं। इस रसभावना में प्रवीण श्रीलोकनाथजी ने एक बार मार्ग में जाते हुये एक महानुभाव को श्रीमद्भागवत का पाठ करते हुए देखकर उनके चरणों में पड़ गये। इस प्रकार से आपने कृपा करके श्रीमद्भागवतजी के प्रति आपकी जैसी प्रीति थी, उसे प्रकट करके दिखा दिया।।३७९।।

व्याख्या—श्रीलोकनाथजी का प्रादुर्भाव वि०सं०१५४० में पूर्व बङ्गाल के यशोहर जनपदान्तर्गत वालखेड़ा ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्रीपद्मनाभ चक्रवर्ती और माता का नाम सीतादेवी था। बचपन से ही इनकी प्रतिभा अत्यन्त प्रखर थी। इन्होंने अपने पिता से ही व्याकरण, न्याय, काव्य कोश अलंकारादि का अध्ययन किया। फिर वेद-वेदान्त एवं श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिये शान्तिपुर निवासी श्रीअद्वैताचार्यजी की पाठशाला के छात्र बने। उन दिनों श्रीप्रेमपुरुषोत्तम श्रीगौरांग महाप्रभुजी भी वहीं अध्यय कर रहे थे। प्रथम साक्षात्कार में ही श्रीलोकनाथजी का श्रीमहाप्रभुजी में अपार स्नेह हो गया। उस पर भी श्रीअद्वैताचार्यजी ने एक दिन श्रीलोकनाथजी का हाथ पकड़कर श्रीगौरांग महाप्रभुजी को सौंपते

हुए कहा-''इसे अपना करके मानना।'' तब से श्रीमहाप्रभुजी का श्रीलोकनाथजी के प्रति स्नेह और भी बढ़ गया। हमेशा इन्हें अपने साथ रखते। अध्ययन पूर्ण होने पर जब दोनों स्नातक होकर अपने-अपने घर गये तो कुछ काल तक के लिए दोनों में वियोग रहा। परन्तु कुछ ही दिन बाद श्रीगौरांग महाप्रभुजी जब अध्यापकी छोड़कर संकीर्तन के प्रचार में लगे थे, उन्हीं दिनों माता-पिता के दिवंगत हो जाने से श्रीलोकनाथजी भी संसार से संन्यास लेकर महाप्रभुजी के प्रेम से आकृष्ट होकर श्रीनवद्वीप को चल पड़े। श्रीभगवदिच्छा से श्रीलोकनाथजी का श्रीमहाप्रभुजी से यह द्वितीय मिलन भी श्रीअद्वैताचार्यजी के यहाँ ही हुआ। उस दिन श्रीमहाप्रभुजी अपनी कीर्तन मण्डली के साथ श्रीआचार्यपाद का दर्शन करने आये थे और ये भी किसी अज्ञात प्रेरणा से वहीं जा पहुँचे। श्रीमहाप्रभुजी का दर्शन करते ही ये प्रेमावेश में करुण-क्रन्दन करते हुए श्रीप्रभु के चरणों में गिर पड़े। श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें उठाकर अपने हृदय से लगाया और बहुत प्रकार से धैर्य बँधाकर परामर्श दिया कि-''तुम मेरी बात मानकर श्रीवृन्दावन चले जाओ। कुछ दिन बाद वहाँ तुम्हें परम भागवत श्रीरूप-सनातन, श्रीगोपालभट्ट आदि वैष्णवों का सत्संग प्राप्त होगा। पुनः तुम्हारे द्वारा भक्ति एवं श्रीभगवद्धाम ब्रजभूमि का बहुत बड़ा हित होगा। अब मैं भी शीघ्र संन्यास लेकर मुक्त हृदय से प्राणीमात्र को श्रीभगवन्नाम का वितरण करूँगा''

श्रीप्रभु के संन्यास के संकल्प से प्रथम तो इनका मन बहुत व्यथित हुआ परन्तु पुनः श्रीप्रभु के समझाने से स्वस्थ होकर श्रीपण्डित गदाधर गोस्वामी के प्रिय शिष्य श्रीभूगर्भ गोस्वामी को साथ लेकर श्रीवृन्दावन के लिए चल पड़े। श्रीवृन्दावन पहुँचकर इनके मन को परम विश्राम मिला। एक श्यामतमाल वृक्ष के नीचे आसन लगाये। प्रेमविह्वल चित्त से श्रीराधा-माधव की ललित लीलाओं का चिन्तन एवं सतत् नाम स्मरण इनकी सहज साधना थी। परन्तु यह सब होने पर भी इनका मन श्रीगौर चरणों के लिए तड़पता रहता। जब श्रीगौरांग महाप्रभुजी ने दक्षिण भारत की यात्रा की और श्रीरंगम् में श्रीवेङ्कटभट्टजी के यहाँ चातुर्मास्य कर रहे थे। उस समय एक वैष्णव के द्वारा श्रीमहाप्रभुजी का पता पाकर श्रीलोकनाथजी दर्शनार्थ श्रीरंगम् को चल दिये। परन्तु वहाँ पहुँचने पर पता चला कि वे तो यहाँ से कब के प्रस्थान कर चुके हैं। वहाँ इनका श्रीगोपालभट्टजी से मिलन हुआ। पुनः विश्वसनीय सूत्रों से पता चला कि श्रीमहाप्रभुजी ब्रज-श्रीवृन्दावन के दर्शन निमित्त उत्तर भारत की यात्रा करने गये हैं। ये तत्काल वहाँ से चले और अविश्रान्त भाव से चलते हुए श्रीवृन्दावन पहुँचे। परन्तु यहाँ आने पर पता चला कि श्रीमहाप्रभुजी तो यहाँ के तीर्थों के दर्शन कर प्रयाग की ओर प्रस्थान कर गये। इतना प्रयास करने पर भी श्रीमहाप्रभुजी का दर्शन न होने से इन्हें

अपार मानसिक कष्ट हुआ और तब इन्होंने संकल्प किया कि या तो प्रयाग जाकर श्रीमहाप्रभुजी का दर्शन करूँगा या त्रिवेणी में अपने शरीर का विसर्जन ही कर दूँगा। उसी दिन रात्रि में श्रीमहाप्रभुजी ने स्वप्न में आदेश दिया-''लोकनाथ! मैं तो सदा तुम्हारे साथ हूँ। तुम अब श्रीवृन्दावन की सीमा से बाहर नहीं जाना। मैं प्रयाग से सीधा नीलाचल जाऊँगा और वहाँ से अपना सब समाचार देता रहूँगा।'' श्रीलोकनाथजी ने श्रीमहाप्रभुजी का स्वप्नादेश शिरोधार्य किया और श्रीवृन्दावन वास करने लगे। आगे चलकर श्रीमहाप्रभुजी की प्रेरणा से श्रीरूप-सनातन प्रभृति श्रीवैष्णववृन्द श्रीवृन्दावन आये। उनके साहचर्य से इनकी साधना को बहुत बल मिला।

एकबार आप एकान्तवास की इच्छा से ये व्रज के परम पावन स्थान छाता तहसील के उमराव ग्राम में किशोरी कुण्ड पर स्थित तमाल वृक्ष के नीचे रहने लगे। इनके हार्दिक अनुराग को देखकर एक दिन भगवान ने स्वप्न में इनसे कहा कि ''मैं किशोरी कुण्ड में स्थित हूँ। मुझे यहाँ से निकालकर मेरी सेवा पूजा करो। मैं बहुत दिन से भूखा हूँ।'' इनकी निद्रा भंग हुई। प्रभु के द्वारा प्राप्त संकेतानुसार इन्होंने किशोरी कुण्ड से श्रीविग्रह को बाहर निकाला और विधिपूर्वक अभिषेक कर श्रीराधाविनोद नाम से श्रीठाकुरजी की स्थापना की। नित्यप्रति नवीन लाड़ से श्रीठाकुरजी की सेवा करते। इनकी प्रीति-रीति के सम्बन्ध में श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-''जैसे जल मीन तैसे निसि दिन प्रीति है।'' भाव यह है कि जैसे मछली की जल में परम प्रीति होती है, वह एक क्षण के लिए भी जल का वियोग सह नहीं सकती। यथा-''जल विनु थल कहां मीच बिनु मीन को।।'' (वि०), इतना ही नहीं मरने पर भी वह अपने प्रियतम जल की चाह करती है। यथा-''मीन काटि जल धोइये, खाएहुं अधिक पियास। रहिमन प्रीति सराहिये मुएहुँ मीत की आस।।'' इसी से श्रीपरशुरामदेवजी कहते हैं-''परसा हरि सौं हेतकर मछरी को सो न्याय। जियत मरत तन छारहूँ जल बिनु रह्यौ न जाय।।'' ऐसी ही प्रीति इनकी थी। इनकी यह दृढ़ प्रतिज्ञा थी कि मैं शिष्यों का संग्रह नहीं करूँगा और रहने के लिए कुटी नहीं बनाऊँगा।'' फलस्वरूप लता कुंजों तथा वृक्षों के नीचे ही इनका निवास होता और जहाँ अपने रहते वहीं इनके श्रीठाकुरजी भी रहते। वर्षा आदि में कभी-कभी श्रीठाकुरजी को वृक्षों के कोटर में छिपा देते तो कभी गोद में रखकर स्वयं को उनका आच्छादन बना देते। इस प्रकार बड़े ही प्रेमपूर्वक श्रीठाकुरजी की आत्मवत् सेवा करते थे। पद्मा नदी के तट पर स्थित खेतरी के राजा कृष्णानन्ददत्तजी के पुत्र श्रीनरोत्तमदासजी की अपूर्व श्रीगुरुसेवा से सन्तुष्ट होकर इन्होंने अपने प्रण को भूलकर उन्हें विधिवत् मन्त्र-दीक्षा दी थी। श्रीनरोत्तमदासजी के लोकोत्तर सेवा-भाव को देखकर श्रीजीवगोस्वामीपादजी ने उन्हें 'ठाकुर' की पदवी दी थी।

इस प्रकार श्रीलोकनाथ गोस्वामीजी का सम्पूर्ण जीवन सुदृढ़ साधनामय रहा। आत्म प्रचार से ये इतने दूर रहते थे कि-''श्रीचैतन्यचरितामृत के रचयिता श्रीकृष्णदास कविराजजी जब ग्रन्थ रचना के पूर्व इनकी आज्ञा एवं आशीर्वाद लेने गये तो इन्होंने अत्यन्त आग्रहपूर्वक कहा कि ग्रन्थ में कहीं भी मेरी चर्चा न की जाय।''

एकबार श्रीलोकनाथजी श्रीराधाकृष्ण के प्रेमरंग में रँगे हुए श्रीराधाविनोद ठाकुर का शृङ्गार करके रूपमाधुरी का दर्शन करने में ऐसे मुग्ध हुये कि शरीर की सुधि-बुधि नहीं रही। उधर श्रीठाकुरजी के लिए भोग बनाने में देर हो रही थी। तब श्रीठाकुरजी स्वयं ही इनका रूप धारण कर पाकशाला में जाकर रसोई बनाने लगे। इतने में एक सेवक दर्शन करने आया। प्रथम वह रसोई का समय जानकर पाकशाला में गया तो वहाँ इन्हें रसोई बनाते देखा, फिर श्रीठाकुरजी का दर्शन करने आया तो यहाँ इनको श्रीठाकुरजी के दर्शन में बेसुध देखा। सेवक को परम आश्चर्य हुआ। वह अपने मन का विस्मय दूर करने के लिए कई बार मन्दिर और पाकशाला में आया गया। परन्तु हर बार उन्हें दोनों जगह श्रीलोकनाथजी का ही स्वरूप दिखाई पड़ा। तब अन्त में मन्दिर में विराजमान श्रीलोकनाथजी के चरणों में पड़कर यह विस्मयकारी प्रसंग निवेदन किया। सुनकर ये भी पाकशाला में गये तो सचमुच वहाँ रसोई बनकर पूर्ण तैयार थी, परन्तु अब बनाने वाला वहाँ नहीं था। श्रीलोकनाथजी समझ गये कि वह कोई और नहीं, साक्षात् श्रीराधाविनोद ठाकुरजी ही थे। प्रभु की कृपा विचारकर श्रीलोकनाथजी गद्‌गद हो गये। इनकी यह भाव दशा देखकर शिष्य भी समझ गया कि यह सब प्रभु की ही लीला थी। थोड़ी देर बाद गुरु शिष्य दोनों श्रीठाकुरजी के पास आये तो देखे कि इन्हें देखकर श्रीठाकुरजी मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं। ऐसे आपके अनेकों चरित्र हैं। वि० सं० १६४५, श्रावण, श्रीकृष्णाष्टमी आपकी नित्य निकुञ्ज प्रवेश की तिथि है। नित्यलीला में ये मञ्जुलालिमंजरी हैं। जिस प्रकार से सखियों में श्रीललिताजी के बाद श्रीविशाखाजी का नाम आता है, उसी प्रकार से ही मंजरियों में श्रीरूप मंजरी के पश्चात् श्रीमञ्जुलालिमंजरी का नाम स्मरण किया जाता है। तप्तस्वर्ण के समान शरीरकान्ति, किंशुक पुष्प के समान लाल वस्त्र तथा श्रीप्रिया-प्रियतम के वस्त्रों को सँभालकर रखना एवं पहिनाना आदि इनकी प्रधान सेवा है। योगपीठ में सिंहासन के अति निकट ईशानकोण में इनकी स्थिति है।

श्रीमधुगोसाईंजी

श्रीमधुगोसाईं आये वृन्दावन चाह बढ़ी देखैं इन नैंननिसों कैसोधौं सरूप है।
ढूँढ़त फिरत बन-बन कुंज लता द्रुम मिटी भूख प्यास नहीं जानैं छांह धूप है।।

**जमुना चढ़त काट करत करारे जहां बंसीवट तट डीठ परो सो अनूप है।
अंक भरि लिये दौर अजहूं लौं सिरमौर चाहै भाग भाल साथ गोपीनाथ रूप है।।३८०।।**

शब्दार्थ—करारे=कगार, नदी तट के ऊँचे किनारे।

भावार्थ—श्रीमधुगोसाईजी आप बंगाल से श्रीवृन्दावन आये। यहाँ आने पर इनके मन में यह चाह बढ़ी कि इन नेत्रों से श्रीश्यामसुन्दर के त्रिभुवन मोहन स्वरूप को देखना चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि भगवान का वह अचिन्त्यानन्त सौन्दर्य स्वरूप कैसा है? इसी लालसा से ये श्रीवृन्दावन के वन-वन, वृक्ष-लता-कुञ्जों में भगवान को ढूँढ़ते फिरते। दर्शन की चटपटी में इनकी भूख-प्यास मिट गयी। ऐसे बेसुध हुए कि इन्हें छाया-धूप का भी किंचित् भान नहीं रहा। एकबार ये वंशीवट के निकट यमुना तट पर बैठे हुए थे। उस समय श्रीयमुनाजी में बाढ़ आयी हुई थी, वे ऊपर चढ़ रही थीं। उनका तीव्र वेग बड़े वेग से करारों को काट-काटकर गिरा रहा था। उसी समय इन्हें श्रीवंशीवट के समीप अनूप रूपसिन्धु श्रीठाकुरजी के दर्शन हुए। इन्होंने दौड़कर श्रीठाकुरजी को गोद में भर लिया। आज भी वे शिरमौर श्रीठाकुरजी श्रीगोपीनाथजी के रूप में विराजमान हैं। बड़भागी जन आज भी उनका दर्शनकर कृतार्थ होते हैं।।३८०।।

व्याख्या—श्रीमधुगोसाईं आये वृन्दावन—आप बंगाल के रहने वाले थे। इन्होंने कथा में सुना कि श्रीकृष्ण वृन्दावन छोड़कर एक पग भी कहीं बाहर नहीं जाते हैं। यथा- "वृन्दावनं परित्यज्यपादमेकं न गच्छति।।" तथा प्रेमी भक्तों को अब भी दर्शन देते हैं। अतः श्रीभगवद्दर्शन की अभिलाषा से प्रेरित होकर ये वृन्दावन चले आये। **"ढूँढ़त फिरत"** -श्रीवृन्दावन आकर ये वन-वन, वृक्ष-लता-कुंजों में श्रीठाकुरजी को ढूँढ़ते-फिरते। जो भी व्रजवासी सन्त महन्त मिलते, उनसे ही श्रीठाकुरजी का पता पूछते। सब लोग मन्दिरों में बताते। ये वहाँ जाते, दर्शन करते, पर मन को सन्तोष नहीं होता। क्योंकि मन्दिरों के ठाकुर न बोलें, न चालें। आप मधुर सम्भाषण कर उन्हें गले से लगाना चाहते थे। **"मिटी भूख प्यास०"** -जिसे प्रियतम मिलन की लगन लग जाती है उसे भूख-प्यास, छाया-धूप का भान नहीं होता है। यथा-"जाहि लगन लगी घनश्याम की। धरत कहूँ पग परत है कितहूँ सुधि नहिं छाया घाम की।। जित मुँह उठै तितै ही धावै भूलि जात सुधि धाम की। छबि निहारि नहिं रहत सार कछु घरि पल निसिदिन जाम की।। निन्दा अस्तुति करौ भले ही मेंड़ तजी कुल गाम की। नारायण बौरी भई डोलै रही न काहू काम की।।"

जमुना चढ़त.... डीठ परे वे अनूप हैं—एकबार श्रीमधुगोस्वामीजी भगवान के विरह में श्रीयमुनाजी के किनारे बैठे हुए थे। श्रीयमुनाजी की ओर पीठ किए हुए थे। बाढ़ बड़ी जोर की आयी हुई थी। जल के तीव्र वेग से करारों में भी तीव्र कटाव हो रहा था। जहाँ ये बैठे थे वह करार भी थोड़ी ही देर में कटकर गिरने ही वाला था। दरार फट चुकी थी। परन्तु इन्हें इन बातों का कुछ भी ध्यान नहीं था। भक्त की चिन्ता भगवान को होती है। प्रभु ने विचार किया कि अब यदि मैं दर्शन नहीं देता हूँ तो थोड़ी ही देर में यह करार टूटेगा और मधु गोसाईं श्रीयमुना जल में विलीन हो जायेंगे। ऐसे अनुरागी भक्त का इस प्रकार विफल मनोरथ होकर शरीरपात उचित नहीं है अतः वंशीवट के निकट त्रिभङ्ग ललित रूप में खड़े होकर मधुर-मधुर मुरली बजाते हुए दर्शन दिये। वंशी की ध्वनि सुनकर श्रीमधु गोसाईंजी का ध्यान आकृष्ट हुआ। प्रभु का दर्शन करते ही दौड़कर अँकवार में भर लिए। बहुत दिन का विरह था, अतः ये बहुत देर तक श्रीप्रभु को हृदय से लगाए रहे। श्रीप्रभु ने प्रसन्न होकर इनसे वर माँगने को कहा। तब इन्होंने यही वर माँगा कि आप सदा-सर्वदा इसी रूप से हमारे साथ रहें। श्रीठाकुरजी ने कहा-देखिए, ''यह कराल कलि काल है इसमें हमारे साक्षात् दर्शन के अधिकारी लोग बहुत कम हैं अतः आपके लिए तो मैं साक्षात् रूप से ही रहूँगा, परन्तु औरों के लिए तो मैं मूर्ति रूप में ही दिखाई दूँगा। यह कहकर भगवान मूर्तिरूप हो गये। श्रीमधु गोसाईंजी ने उनकी ''श्रीगोपीनाथजी'' के रूप में स्थापना की। वर्तमान में श्रीगोपीनाथजी जयपुर में विराजमान हैं।

श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी

गुसाईं श्रीसनातनजू मदनमोहन रूप, माथे पधराये कही सेवा नीके कीजियै।
जानौ कृष्ण दास ब्रह्मचारी अधिकारी भये, भट्ट श्रीनारायनजू शिष्य किये रीझियै।।
करिकै सिंगार चारु आप ही निहारि रहैं, गहे नहीं चेत भाव मांझ मति भीजियै।
कहां लौं बखान करौं राग भोग रीति भाँति अब लौं विराजमान देखि देखि जीजियै।।३८१।।

शब्दार्थ—-चेत=होश, सुध।

भावार्थ—श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारीजी श्रीसनातन गोस्वामीपादजी के शिष्य थे। श्रीसनातन गोस्वामीजी ने ठाकुर श्रीमदनमोहनजी को नव निर्मित मन्दिर में पधराकर उनकी सेवा का भार इन्हीं को सौंप दिया और कहा कि भली प्रकार से श्रीठाकुरजी की सेवा करना। श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारीजी भी गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर बड़ी कुशलतापूर्वक श्रीठाकुरजी की सेवा करते। आगे चलकर यही अधिकारी श्रीकृष्णदास ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध हुये, ऐसा जानिए। आपने ही श्रीनारायणभट्टजी की भक्ति पर रीझकर उनको अपना शिष्य बनाया था। आप जब श्रीठाकुरजी का परम सुन्दर शृंगार करके स्वयं छबि का दर्शन करते थे तो शरीर की सुधि-बुधि भूल जाती। आपकी बुद्धि भावसागर में डूब जाती। आप जिस भाव से श्रीठाकुरजी को राग-भोग अर्पण करते एवं जैसा उत्तम राग-भोग अर्पण करते, वह मैं कहाँ तक वर्णन करूँ अवर्णनीय है। इनके सेवित ठाकुर श्रीमदनमोहनजी अब तक विराजमान हैं, उनका दर्शन करके अपने जीवन को सफल बनाइये।।३८१।।

व्याख्या—श्रीमदनमोहनजी के प्राकट्य की कथा देखिए श्रीसनातनजी के प्रसंग में। श्रीनारायणभट्टजी का प्रसंग देखिए। छ०-८७, क०-३६५ में। ''रीझिये''-यह श्रीनारायण भट्टजी एवं श्रीकृष्णदासजी दोनों में लगता है। एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ-जिन श्रीनारायणभट्टजी की भक्ति पर भगवान रीझे थे। तीसरा अर्थ-जिन श्रीकृष्णदासजी ब्रह्मचारीजी की भक्ति पर भगवान रीझे थे। चौथा अर्थ-इन महाभागवतों की भक्ति पर मैं रीझ गया हूँ। पाँचवां अर्थ-इनकी भक्ति रीझने योग्य है। सभी भाव संगत हैं। ''अब लौं विराजमान'' -जिस समय श्रीप्रियादासजी श्रीभक्तमालजी की टीका लिख रहे थे उस समय श्रीमदनमोहनजी श्रीवृन्दावन में ही विराजमान थे। अतः कहते हैं-''अब लौं विराजमान''। वर्तमान में श्रीमदनमोहनजी करौली राजस्थान में विराजमान हैं।

श्रीकृष्णदासजी पण्डित

श्रीगोविन्दचन्द रूपरासि रसरासि दास, कृष्णदास पण्डित ये दूसरे यों जानिलै।
सेवा अनुराग अङ्ग अङ्ग मति पागि रही पागि रही मति जो पै तोपै यह मानिलै।।
प्रीति हरिदासनसों विविध प्रसाद देत हिये लाय लेत देखि पद्धति प्रमानि लै।
सहजकी रीति में प्रतीतिसों बिनीति करै ढरैं वाही ओर मन अनुभव आनिलै।।३८२।।

शब्दार्थ—प्रमानि लै=प्रमाण-सबूत के रूप में मान लीजिये। सहज की रीति =स्वाभाविक प्रेम की रीति। बिनीति=सुशीलता, अति नम्रता।

भावार्थ—पण्डित श्रीकृष्णदासजी रूप की राशि एवं रस की राशि श्रीगोविन्दचन्द्रजी के सेवक थे। ये ब्रह्मचारी श्रीकृष्णदासजी से पृथक् थे, ऐसा समझिए। इनके अंग-अंग में श्रीभगवत्- सेवानुराग समाया हुआ था तथा इनकी बुद्धि भी सदैव सेवा में पगी रहती थी। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि यदि आपकी भी बुद्धि श्रीभगवत्सेवानुराग में पगी हो तो मेरी बात का विश्वास कर लीजिये। श्रीभगवद्दासों में इनकी बड़ी प्रीति थी। ये उन्हें

बहुत-बहुत भगवत्प्रसाद दिया करते थे तथा मिलने पर हृदय से लगाते थे। इनकी इस श्रीभगवत्-भागवत सेवा-पद्धति को देखकर उसे आदर्श रूप में मानना चाहिए अर्थात् स्वयं भी उसी के अनुकूल आचरण करना चाहिए। पण्डित श्रीकृष्णदासजी स्वाभाविक प्रेम की रीति में विश्वास करते थे तथा अत्यन्त विनम्रता एवं विश्वासपूर्वक उसी प्रीति का आचरण करते थे, आपकी चित्तवृत्ति का झुकाव उसी ओर था। इस बात को आप अपने अनुभव में लाइये।।३८२।।

व्याख्या—श्रीगोविन्दचन्द रूपरासि—देखिये क०-३६१। "सेवा अनुराग अंग-अंग" -इसका एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि सेवा और प्रेम के सभी अंगों में इनकी बुद्धि पगी थी। पुनः तीसरा अर्थ-आपकी श्रीठाकुरजी के अंग-प्रत्यंग की अनुरागपूर्वक सेवा करने में इनकी बुद्धि पगी हुई थी। वर्णन आया है कि ये नित्य प्रति श्रीठाकुरजी को नवीन सौ श्लोक प्रेमपूर्वक गाकर सुनाते थे। ठाकुर श्रीगोविन्ददेवजी भी बड़े प्रेमपूर्वक श्लोक सुनते और सुख मानते। एक दिन जब ये श्लोक सुना रहे थे, उसी समय एक सन्त इनसे मिलने के लिए आए। पूर्व कहा जा चुका है कि इनका सन्तों से भी बड़ा प्रेम था, अतः श्लोक गान बन्द कर ये सन्त से वार्तालाप करने लगे। उधर श्रीठाकुरजी को श्लोक सुनने की चटपटी लगी हुई थी अतः विलम्ब होते देख इनको सचेत करने के लिए भीतर मन्दिर से एक थाल बाहर फेंके। थाल की झनझनाहट सुनकर इनका ध्यान श्रीठाकुरजी की ओर गया, तब श्लोक सुनाने की याद आयी, साथ ही प्रभु की श्रवणोत्कण्ठा विचार कर गद्गद हो गए। श्रीठाकुरजी ने कहा कि-"मेरी उपेक्षा करके दूसरों से मिलने क्यों गए।" तब इन्होंने कहा कि-"आपकी उपेक्षा कर सकता हूँ पर सन्तों की नहीं।" इस सन्त निष्ठा से प्रभु परम प्रसन्न हुए। फिर तो बड़े प्रेम से इन्होंने श्लोक सुनाये। ऐसे ही एक दिन एक विद्यार्थी आ गया तो उसे पढ़ाने में लग गये, श्लोक सुनाना भूल ही गये। तब रात्रि में श्रीठाकुरजी ने कहा कि-"आज आपने पूरे सौ श्लोक नहीं सुनाये हैं। आप तुरन्त उठकर सौ श्लोक पूरे किये और उसी दिन से सौ श्लोक सुनाने का दृढ़ नियम कर लिए।

श्रीभूगर्भ गोसाईंजी

गुसाईं भूगर्भ वृन्दावन दृढ़ बास कियो लियो सुख बैठि कुंज गोविन्द अनूप हैं।
बड़ेई बिरक्त अनुरक्त रूप माधुरी में ताही कौ सवाद लेत मिले भक्तभूप हैं।।
मानसी विचार ही अहार सो निहारि रहैं गहैं मन वृत्ति वेई युगल सरूप हैं।
बुद्धिके प्रमान उनमानिमैं बखान कर्यो भर्यौ बहु रंग जाहि जानैं रसरूप हैं।।३८३।।

शब्दार्थ—अहार=जीवन का आधार। विचार=विवेक, चिन्तन, सेवा। प्रमान=अनुसार। उनमानि=अनुमान करके। रसरूप=परमरसिक।

भावार्थ—श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी ने अखण्ड श्रीवृन्दावन वास किया और अति अनूप श्रीगोविन्द कुंज (श्रीगोविन्ददेवजी का मन्दिर एवं वहाँ की आस पास की लता कुंजों) में बैठकर अपूर्व सुख लिया। आप संसार से परमविरक्त एवं भगवान की रूपमाधुरी में अत्यन्त अनुरक्त थे। रसिक भक्तजनों के साथ मिलकर आप उसी रूपमाधुरी का आस्वादन करते रहते। भगवान का मानसीचिन्तन, मानसीअर्चन-वन्दन ही आपके जीवन का आधार था। भगवान की मानसी मूर्ति को निरन्तर निहारा करते थे। आपके मन की वृत्ति सदा उसी श्रीयुगलस्वरूप के चिन्तन में लगी रहती थी। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार ही अनुमान करके इनके भावों का वर्णन किया है। ये अपार प्रेमरस से भरे हुए थे। जिसे परम रसिकजन ही जान सकते हैं।।३८३।।

व्याख्या—गुसाईं भूगर्भ—ये श्रीगौरांग महाप्रभुजी के प्रिय पार्षद श्रीगदाधर पण्डितजी के शिष्य थे। श्रीगौरांग महाप्रभुजी के आदेश से जब श्रीलोकनाथ गोस्वामी श्रीवृन्दावन आए तो उनके संग श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी भी थे। श्रीलोकनाथ गोस्वामीजी ने तो श्रीमहाप्रभुजी के श्रीचरणों का दर्शन करने के लिए एकबार श्रीवृन्दावन छोड़कर पुरी एवं दक्षिण भारत की यात्रा भी की थी परन्तु श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी तो एकबार श्रीवृन्दावन आने पर छोड़कर एक कदम भी बाहर नहीं गए। अतः कहते हैं-"वृन्दावन दृढ़ वास कियौ।" "बड़ेई विरक्त अनुरक्त रूपमाधुरी में-यही साधु की रहनी है। श्रीतुलसीदासजी भी अपने मन को यही उपदेश देते हैं। यथा-"रे मन सबसौं निरस हो, सरस राम सौं होहि। भलो सिखावन देत है निसिदिन तुलसी तोहि।।" इसी में जीव का वास्तविक हित है। संसार में कहीं भी मन लगाने पर भय ही भय पदे-पदे प्राप्त होता है। बड़ा ही सुन्दर किसी कवि ने लिखा है-"हांसीमें विषाद बसै विद्यामें विवाद बसै भोग माँहि रोग पुनिसेवा माहिं दीनता। आदर में मान बसै सुचि में गलानि बसै, आवन में जान बसै रूप माहिं हीनता।। जोग में अभोग औ संयोग में वियोग बसै पुण्य माहिं बन्धन औ लोभ माहिं दीनता। निपट नवीन ए प्रवीनन सुबीनि लीनी हरि जू सों प्रीति सबही सों उदासीनता।।"

विशेष—श्रीभूगर्भ गोस्वामीजी नित्य प्रति श्रीगोवर्धनजी की परिक्रमा करते थे। श्रीगोवर्धन की परम कमनीया शिलाओं को देखकर इनकी आँखों से झर-झर अश्रुपात होने लगता था। एकदिन ये प्रेम में बेसुध हुए परिक्रमा कर रहे थे। तन की सम्हाल न होने से

एक शिला खण्ड से इनके पाँव में बड़े जोर की ठोकर लगी। पाँव से रक्त की धार बह चली। असह्य वेदना होने लगी। चलना दूभर हो गया। ''हा कृष्ण'' कहकर बैठ गये। जब थोड़ा-थोड़ा अन्धेरा होने लगा, तो स्वयं श्रीकृष्ण एक हट्टे-कट्टे साधु का वेष बनाकर आये और इनके मना करने पर भी इन्हें कन्धे पर बैठाकर कुटिया तक पहुँचाये। ये लाने वाले के प्रति कृतज्ञता के दो शब्द कहना ही चाहते थे कि इन्हें लाने वाला वह साधु इनके देखते-देखते अन्तर्धान हो गया। तब तो इन्हें समझते देर नहीं लगी कि वह साधु कोई और नहीं स्वयं भगवान ही थे। फिर तो ये बड़े जोर-जोर से विलाप करने लगे कि हाय-हाय मुझसे श्रीप्रभु की सेवा तो कुछ बनी नहीं, उल्टे प्रभु से सेवा लिया। मुझ अभागे ने ठीक से प्रभु का दर्शन भी नहीं किया। कृतज्ञता के दो शब्द भी नहीं कह पाये। इस प्रकार रोते-रोते इन्हें तनिक-सी तन्द्रा सी आयी तो क्या देखते हैं कि प्रभु साक्षात् प्रकट होकर कह रहे हैं कि तुम अपने मन में इतना दुःख क्यों कर रहे हो तुम तो नित्य प्रति मेरी सेवा-पूजा, भजन-साधन करते हो। सर्वस्व परित्याग पूर्वक प्रेम में बेसुध होकर सतत् मेरा ही स्मरण-चिन्तन करते रहते हो। फिर एक दिन संकट में पड़ने पर यदि मैंने कुछ सहयोग कर दिया तो इसमें तुम्हारी क्या हानि है? तुम व्यर्थ ही संकुचित हो रहे हो। यदि मैं अपने भक्तों की खोज-खबर नहीं रखूँगा तो फिर उन्हें और कौन सम्हालेगा तथा फिर मुझे भी कौन भजेगा? पुनः भक्तों का दुःख मुझसे देखा नहीं जाता। जब तक मैं उनका दुःख दूरकर सुखी नहीं कर देता तब तक मेरे मन को विश्राम नहीं मिलता। भक्तवत्सल भगवान की यह अमृतमय वाणी सुनकर श्रीभूगर्भ गोसाईंजी गद्‌गद हो गये। पलमात्र में उनकी पीड़ा न जाने कहाँ चली गई। वे बार-बार श्रीप्रभु की कृपा पर बलिहार गये। ऐसे श्रीभगवद् कृपापात्र थे श्रीभूगर्भ गोस्वामी। अब हम छप्पय में आये हुए अन्य सन्तों की संक्षिप्त चर्चा करते हैं-

श्रीहृषीकेशदेवाचार्यजी—श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी जिनकी चर्चा पूर्व छप्पय-७७ में की जा चुकी है, उनके असंख्य शिष्यों में द्वादश प्रधान थे। उन्हीं प्रधान द्वादश शिष्यों में एक श्रीहृषीकेश देवाचार्यजी भी थे। श्रीवृन्दावन धाम ही आपकी साधनास्थली थी और मानसी-सेवा से श्रीश्यामा-श्याम को सन्तुष्ट करना ही आपकी साधना थी। मानसी-सेवा प्रवण होने से आप प्रायः ध्यान मग्न रहा करते थे। वर्णन आया है कि एकबार श्रीसीतारामजी की उपासना में शृंगार रसोपासना के प्रवर्तकाचार्य श्रीस्वामी अग्रदेवाचार्यजी श्रीवृन्दावन आये हुये थे। श्रीअग्रदेवाचार्यजी भी सदा मानसी-सेवा में मग्न रहने वाले थे। (देखिये पूर्वार्द्ध क०-१०) अतः इन दोनों विभूतियों का मिलन और सत्संग स्वाभाविक था। श्रीस्वामी अग्रदेवाचार्यजी के कुशलक्षेम पूछने पर श्रीहृषीकेश देवाचार्यजी ने यह पद गाया था-''मन मन्दिर में राधामोहन।

नित्यकिशोर किसोरी दोऊ करत बिहार निरन्तर निसि दिन।। दिव्यधाम व्रज मण्डल सगरौ झगरौ नहिं पैठत तहँ नैकुन। ता मधि राजत परम मनोहर सूक्षिम ते सूक्षिम वृन्दावन। नव निकुंज नव लता भवन में अष्ट कमलदल मृदुल सिंहासन। प्रमुदित राजत जुगलचन्द तहँ सेवत ललितादिक ललना गन।। सेवा सौंज सँवारि लिये कर अरपित करि निज निज तन मन धन। हृषीकेश निरखत अति हरषत निवछावरि बलि जाउँ छिनहि छिन।।''

श्रीरंगजी—आप बड़े सन्तसेवी थे। आपके यहाँ पर सन्तों का जमघट बना ही रहता था। एक बार आपने सन्तों का एक बड़ा विशाल भण्डारा किया। सन्तों की पंक्ति प्रसाद पाने बैठ गई। प्रसाद की परसा जा रहा था, जितने में जितने सन्त प्रसाद पाने बैठे थे उससे दूने और आ गये। परसने वाले रसोइया आदि घबड़ाये कि इन सबको खिलाने भर सामान तो है नहीं, कैसे पूरा पड़ेगा? एक सन्त ने श्रीरंगजी को सलाह दिया कि जितने सन्त निमन्त्रित हैं उनको पूरा पवाय जाय और जो अनिमन्त्रित अभी-अभी आये हैं, उनको थोड़ा-थोड़ा प्रसाद वितरित कर दिया जाय। यह सुनकर श्रीरंगजी ने कहा कि आप लोग धैर्य धरिये, श्रीभगवत्कृपा से किंचित् मात्र भी कमी नहीं होगी। इतने सामान में ही सब लोग पाकर महापूर्ण हो जायेंगे। सबको बैठाकर पवाओ। आपके वचनों से आश्वस्त होकर रसोइयाओं ने सबको बैठा दिया और सब सामान सबको आड़े हाथ परसा गया। सबने महापूर्ण होकर पाया, फिर भी सामान बचा रहा। आपका यह अद्‌भुत चमत्कार देखकर सभी लोग आपकी जय-जयकार करने लगे।

श्रीघमण्डीजी—(श्रीउद्धव घमण्डदेवाचार्यजी)—आप श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी के शिष्य थे। श्रीगुरुदेव का दिया हुआ आपका वास्तविक नाम तो श्रीउद्धवदेवजी था परन्तु आप अपने परमाराध्य श्रीयुगलकिशोरजी के बल पर ही हमेशा गर्व में भरे रहते थे। विमुख पाखण्डियों को तृणवत् समझते थे, किसी को कुछ गिनते ही नहीं थे, अतः लोग इन्हें घमण्डी कहने लगे थे। आगे चलकर यही नाम विख्यात हो गया। सामान्य लोग इन्हें घमण्डीजी कहते, साधु-समाज में घमण्ड देवाचार्यजी के नाम से पुकारे जाते। आचार्य परम्परा में आपका नाम श्रीउद्धवघमण्डदेवाचार्यजी प्राप्त होता है। जयपुर राज्यान्तर्गत टोड़ाभीम के सन्निकट ''दूबरदू'' नामक ग्राम आपका जन्मस्थान है। ''कौमार आचरेत् प्राज्ञः धर्मान् भागवतानिह।'' श्रीमद्‌भागवत के इस महावाक्यानुसार आप बाल्यकाल में ही श्रीहरिव्यासदेवजी से शिक्षा-दीक्षा लेकर भगवद्-भजन में लग गये। कुछ दिन तक गुरु-सेवा में रहने के उपरान्त आपने समस्त तीर्थों का परिभ्रमण भी किया और जहाँ-तहाँ बहुत से मठ-मन्दिर स्थापित किये।

श्रीव्रज में एक गाँव है करहला। श्रीघमण्डदेवजी ने वहाँ रहकर बहुत काल तक भजन किया। आपके भक्ति-भाव पर रीझकर श्रीश्यामा-श्याम ने दर्शन दिया, साथ ही परम अनुग्रह करके श्रीठाकुरजी ने इन्हें अपना मुकुट और श्रीराधिकाजी ने अपनी चन्द्रिका प्रदान कर आदेश दिया कि तुम "व्रजवासी ब्राह्मण बालकों को हमारा तथा हमारी सखियों का स्वरूप बनाकर उनके द्वारा रासलीलानुकरण करवावो। उनमें ही हमारा प्रत्यक्ष दर्शन होगा। इस प्रकार स्वयं रास रसरंग में मग्न रहते हुए अन्य रसिकजनों को भी परमानन्द प्रदान करो।" श्रीप्रिया-प्रियतम श्रीयुगल का आदेश शिरोधार्य कर श्रीघमण्डदेवाचार्यजी ने रास-लीलानुकरण प्रारम्भ कराया। जिसमें रसिकजनों को परम सुख मिला। करहला में आज भी उस मुकुट और चन्द्रिका का दर्शन होता है। श्रीहितध्रुवदासजी आपके सम्बन्ध में लिखते हैं कि-"घमण्डी रस में घुमड़ि रह्यौ वृन्दावन निज धाम। वंशीवट तट वास किय गायो स्यामा स्याम।।"

श्रीरसिकमुरारिजी

(श्री)रसिकमुरारि उदार अति मत्त गजहिं उपदेश दियौ।।
तन मन धन परिवार सहित सेवत सन्तन कहँ।
दिव्य भोग आरती अधिक हरिहू ते हिय महँ।।
श्रीवृन्दावनचन्द श्याम श्यामा रँग भीने।
मगन प्रेम पीयूष पयध परचै बहु दीने।।
श्रीहरिप्रिय श्यामानन्द बर भजन भूमि उद्धार कियौ।
श्रीरसिकमुरारि उदार अति मत्त गजहिं उपदेश दियौ।।९५।।

शब्दार्थ—मत्त=मस्त, मतवालापन, पागल। भीने=समोये, रँगे, डूबे, भरे। मगन=मग्न, डूबे, प्रसन्न। प्रेमपीयूष=प्रेमरूपी अमृत। पयध=पयोधि, समुद्र। भजन भूमि=सन्त सेवा के साधनभूत खेत। उद्धार कियौ=छुड़ायौ, वापस लियौ।

भावार्थ—श्रीरसिक मुरारिजी परमोदार सन्त थे। आपने मतवाले हाथी को भी श्रीकृष्णनाम का उपदेश दिया। ये सपरिवार तन-मन-धन से सन्तों की सेवा करते थे। सन्तों को दिव्य भोग अर्पित करते, विधिपूर्वक पूजा-आरती करते। कहाँ तक कहा जाय, ये अपने हृदय में श्रीहरि से भी अधिक श्रीहरिभक्तों को मानते थे। श्रीवृन्दावनचन्द्र श्रीश्यामा-श्याम के प्रेमरंग में रँगे रहते थे तथा सर्वदा प्रेमामृतसिन्धु में डूबे रहते थे। इन्होंने बहुत से चमत्कार दिखाये हैं। श्रीभगवान के परम प्यारे, श्रीसद्गुरुदेववर्य्य श्रीश्यामानन्दजी की

संत-सेवा की साधनभूत भूमि को यवन नबाब के चंगुल से मुक्त कर आपने अपनी अद्भुत भक्ति-शक्ति का परिचय दिया।। ९५।।

व्याख्या-उदार—इसकी व्याख्या के लिये देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड ५। भगवान के भक्त बड़े उदार होते हैं। यथा-"राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।।" (रामा०), श्रीगीताजी में भी कहा गया है-"उदाराः सर्व एवैते...(७-१८), श्रीरसिक मुरारिजी तो अति ही उदार थे। आपकी अति उदारता का दिग्दर्शन कराते हुए श्रीनाभाजी कहते हैं कि-"मत्तगजहिं उपदेश दियो।" भाव यह है कि अधिकारी-अनधिकारी का विचार किये बिना ही मनुष्य मात्र को उपदेश देना उदारता है और ये तो मनुष्य की तो बात ही क्या, पशु को और पशुओं में भी हाथी, महातमोगुणी शरीर वाला, यथा-"छाड़ौ गज तम तन" (क० ३९०) और उसमें भी मदिरा पीकर मदोन्मत्त भए हाथी को उपदेश दिये। आपने उसके सभी कुत्सित संस्कारों को नष्ट कर उसे भक्ति का भण्डार बना दिया। इस सम्बन्ध में देखिये, कवित्त-३९०, ३९१, ३९२, ३९३। "तन मन....सेवत सन्तन कहँ"-इसलिये कि सन्त-सेवा से भगवान बहुत प्रसन्न होते हैं। यथा-"मानत सुख सेवक सेवकाई।।" (रामा०) "सन्तन की सेवा किये हरि मानै परितोष।।" (भगवत रसिकजी) पुनः जैसे गर्भवती स्त्री को खिलाने से उसका तथा गर्भस्थ शिशु दोनों का पोषण होता है, वैसे ही सन्तों की सेवा करने से सन्त और भगवन्त दोनों की सेवा हो जाती है। यथा-"अन्तर्यामी गर्भ गत सन्त सुन्दरी माहिं। तुलसी पूजे एक के दोऊ पूजे जाहिं।।" "परिवार सहित"-इसके दो भाव-(१) शिष्य परिकरों सहित। विरक्त के परिवार शिष्यादि ही होते हैं। (२) पुनः परिवार कहकर इनके स्त्री, पुत्र की ओर संकेत किया गया है। वर्णन आया है कि इनकी वैराग्य वृत्ति देखकर इनके माता-पिता ने इनका विवाह कर दिया था। इनके एक पुत्र भी हुआ था, परन्तु जब श्रीश्यामानन्दजी के शिष्य हो गये तो पत्नी-पुत्र को भी उन्हीं के शरणागत कर दिये। सभी खूब सन्त-सेवा करते थे।

अधिक हरिहूँ ते हिय महँ—देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ ३७२, "मोसे बाढ़ पांव लीजिये" की व्याख्या। "श्रीवृन्दावन चन्द श्याम-श्यामा०" एकबार रथयात्रा का दर्शन करने श्रीरसिकमुरारिजी पुरी गये हुये थे। वहाँ आपको श्रीजगन्नाथ भगवान की आज्ञा से दो श्रीविग्रह प्राप्त हुये थे। एक श्रीराधागोविन्दजी। दूसरे श्रीवृन्दावनचन्द्रजी। श्रीवृन्दावनचन्द्रजी से इनकी अत्यधिक प्रीति हो गई थी। उसी का संकेत श्रीनाभाजी छप्पय में करते हैं-"परचै बहु दीने"-देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-१९४, "परचौ असुरनकौ दीयौ" की व्याख्या।

श्रीहरिप्रिय श्यामानन्दवर—श्रीश्यामानन्दजी श्रीरसिकमुरारिजी के गुरुदेव थे तथा श्रीहृदयानन्दजी के शिष्य थे। इस पंक्ति का एक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ-श्रीगुरु श्यामानन्दजी के बल से एवं भजन-बल से भजन-भूमि अर्थात् भक्तिरूपी पृथ्वी का उद्धार किया। भाव यह है कि काल के प्रभाव से लुप्त भई भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। तीसरा अर्थ-श्रीगुरु की कृपा एवं भजनबल से सन्त-सेवा निमित्त भूता भूमि का उद्धार किया। इन दोनों अर्थों में वर का अर्थ बल किया गया है। संस्कृत व्याकरण में रकार और लकार सावर्ण्य कहा गया है। यथा-''ऋलृ वर्णयोर्मिथ: सावर्ण्यं वाच्यम्।।''

रसिकमुरारि साधुसेवा बिसतार कियौ पावै कौन पार रीति भांति कछु न्यारियै।
सन्त चरणामृत के माट गृह भरे रहैं ताहीकौ प्रनाम पूजा करि उर धारियै।।
आवैं हरिदास तिन्हैं देत सुखराशि जीभ एक न प्रकाशि सकै थकै सो विचारियै।
करैं गुरु उत्सव लै दिनमान सबैं कोऊ द्वादस दिवस जन घटा लागी प्यारियै।।३८४।।

शब्दार्थ—माट=मिट्टी का बड़ा घड़ा। दिनमान=सूर्योदय से सूर्यास्त तक का समय। जनघटा=भक्त भीड़।

भावार्थ—श्रीरसिकमुरारिजी ने सन्तसेवा का बड़ा ही विस्तार किया था अर्थात् बड़े बृहद् रूप से सन्त सेवा करते थे। कौन उसका पार पा सकता है? आपकी सेवा की पद्धति कुछ विलक्षण ही थी, वह यह थी कि सन्तों के चरणोदक से भरे हुए मटके घर पर धरे ही रहते थे। आप उसी को प्रणाम करते, उसी की पूजा करते और उसी का हृदय में ध्यान धरते थे। आपके यहाँ जो भी सन्त-वैष्णव आते उन्हें अपार सुख देते थे। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि इनके सन्तसेवा-सुख को मेरी एक जिह्वा वर्णन करने में असमर्थ है। वर्णन करना तो दूर रहा उस सेवा-सुख के वर्णन के विचार से ही मति गति थकित हो जाती है। आप बड़े समारोह से श्रीगुरु उत्सव मनाया करते थे। उसमें पूरे दिन कथा-कीर्तन-सत्संग, भोज-भण्डारे होते रहते थे, जिससे सब लोग बहुत सुख पाते थे। यह उत्सव बारह दिन तक लगातार चलता रहता था। बारहों दिन तक भक्तों की भीड़ रहती थी, जो देखने में अत्यन्त ही प्रिय लगती थी।।३८४।।

व्याख्या—सन्त चरणा मृत के माट—श्रीरसिक मुरारिजी की सन्तों के श्रीचरणामृत में बड़ी निष्ठा थी अत: बड़े भावपूर्वक मटकों में भर-भरकर सन्त चरणामृत रखते। उसकी पूजा-आरती एवं दण्डवत्प्रणाम करते। श्रीवृन्दावन में श्रीनिम्बार्क कोट स्थान में श्रीभक्तमालजी के सुमेरु सन्त शिरोमणि श्रीतुलसीदासजी का चरणामृत रखा है। निष्ठावानों के लिए कुछ भी अशक्य

नहीं है। ''करैं गुरु उत्सव''-इस उत्सव का नाम दण्डोत्सव है। इस सम्बन्ध में कथा आती है कि-''इनके गुरुदेव श्रीश्यामानन्दजी श्रीवृन्दावन वास करते थे। वे नित्यप्रति श्रीसेवाकुंज में बहारू लगाते थे। उनकी ऐसी भावना थी कि श्रीप्रिया-प्रियतम इस कुंज में नित्य बिहार करते हैं। अत: बहारू लगाते समय बड़े गौर से वहाँ की भूमि को देखते, देखने में कभी श्रीप्रियाजी के श्रीचरण-चिह्नों के दर्शन हो जाते तो कभी श्रीठाकुरजी के। कभी-कभी श्रीयुगल के गलबहियाँ देकर चलने के समय के चरण-चिह्नों के दर्शन होते। इस प्रकार नित्य नव-नव दर्शनोल्लास में भरे हुए बड़े ही अनुरागपूर्वक श्रीसेवाकुंज मे सोहिनी (बहारू) सेवा करते।'' इनके भाव पर रीझकर श्रीप्रियाजू की इन्हें दर्शन देने की इच्छा हुई। परन्तु आचार्यरूपा सखियों की जब तक अनुकूलता प्राप्त नहीं होती है तब तक श्रीजी का साक्षात्कार नहीं होता है-ऐसी मर्यादा है। अत: अनुग्रहमयी श्रीजी ने उन्हें सखियों की अनुकूलता प्राप्त कराकर दर्शन देने की एक युक्ति विचारी। वह यह कि एक दिन उन्होंने जानबूझकर अपने एक पाँव का नुपूर श्रीसेवाकुंज में गिरा दिया। वह प्रात:काल बहारू लगाते समय श्रीश्यामानन्दजी को मिला। उन्होंने उसे साफी के छोर में बाँध लिया और साफी को सिर पर बाँध लिया। सोचे कि किसी बड़े घर की बहू-बेटी का गिर गया होगा। कोई खोजने आयेगा तो दे दूँगा। उधर जब श्रीललिताजी श्रीप्रियाजू के आभूषणों की सँभाल करने लगीं तो पता चला कि एक पाँव का नूपुर नहीं है। तब वह उसकी खोज करने सेवाकुंज में आयीं। पहले तो उन्होंने स्वयं इधर-उधर खोज की। परन्तु जब नहीं मिला तो उन्होंने ध्यान द्वारा देखा, तो समझ में आया कि वह नूपुर इन्हीं बूढ़े बाबा को मिला है। फिर उन्होंने विचार किया कि यदि मैं स्वस्वरूप में जाकर नूपुर माँगती हूँ तो बात बढ़ जायेगी। बाबाजी कहने लगेंगे कि अपनी श्रीस्वामिनी का दर्शन कराओ, स्वामी का दर्शन कराओ तब दूँगा आदि। अत: वह एक वृद्धा का रूप धारणकर श्रीश्यामानन्दजी के पास आयीं और बोलीं-''बाबाजी! आपको कोई नूपुर तो नहीं मिला है? यदि मिला हो तो मुझे दे दीजिये, वह मेरी बहू का नुपूर है।'' इन्होंने कहा-मिला तो है परन्तु तुम्हें नहीं दूँगा। जिसका नूपुर है उसी को दूँगा। उसके एक पाँव का नूपुर देखकर उससे इसे मिलाऊँगा, जब मिल जायगा तो मैं उसे सहर्ष दे दूँगा। यदि मैं तुमको दे दूँ और थोड़ी देर में कोई और बहूवाली आवें और कहने लगें-कि वह मेरी बहू का नूपुर है, तो मैं क्या जवाब दूँगा? श्रीललिताजी माँग-माँगकर हार गयीं, परन्तु इन्होंने नहीं ही दिया। तब जाकर उन्होंने श्रीश्रीजी से सब बात कही। श्रीश्रीजी ने कहा-''अरी सखी! तब तो चलना ही होगा। इन्होंने बहुत दिन तक मेरे कुंज की सोहिनी सेवा भी की है। अत: आज चलकर इन्हें दर्शन भी दे दूँ और अपना नूपुर भी माँग लाऊँ।'' फिर तो श्रीश्रीजी ने श्रीश्यामानन्दजी को साक्षात्

दर्शन दिया। भक्त प्रवर ने प्रणाम किया तो श्रीश्रीजी ने अपना वरदहस्त उनके सिर पर फेरकर अपार वात्सल्य दर्शाया।

श्रीश्यामानन्दजी ने अपने हाथ से ही श्री श्रीजी को नूपुर पहनाया। श्रीश्रीजी ने प्रसन्न होकर इनके ललाट पर नूपुर की छाप दे दी। जब इनके गुरुदेव श्रीहृदयानन्दजी ने वह छाप देखी तो बड़े नाराज हुए कि तुमने सम्प्रदाय के विरुद्ध मनमुखी ढङ्ग से यह छाप क्यों लगायी। इन्होंने बहुत कहा कि मैंने जानबूझकर नहीं लगाया है, यह तो श्रीश्रीजी ने लगाया है। परन्तु वह भला क्यों मानने लगे। उन्होंने सोचा कि यह बहाना बना रहे हैं। अतः डांटकर कहे कि इसे शीघ्र धो डालो। श्रीश्यामानन्दजी ने बहुतेरा धोया परन्तु छाप तो नहीं ही छूटी। भला श्रीजी की लगायी हुई छाप छूट ही कैसे सकती है। लेकिन श्रीहृदयानन्दजी ने तो यह अर्थ लगाया कि इन्होंने ठीक से धोया ही नहीं, अतः वे स्वयं धोने लगे। घिसते-घिसते ललाट से रुधिर निकल आया परन्तु छाप फिर भी नहीं छूटी। तब तो श्रीवैष्णव-समाज को विश्वास हो गया कि निश्चय ही इसे श्रीजी ने ही लगाया है और श्रीहृदयानन्दजी ने जो इन पर अविश्वास किया तथा इसे धोकर मिटाने का प्रयत्न किया यह उनका अपराध है। इस विषय को लेकर श्रीवैष्णवों ने पंचायत की परन्तु श्रीहृदयानन्दजी अब भी मानने को तैयार नहीं थे। तब श्रीश्रीजी ने भगवान के प्रिय सखा सुबलजी से कहा कि-"यदि मैं आपके परिकर में से किसी एक को अपने सखी मण्डल में सम्मिलित कर लूँ तो आपको कोई एतराज तो नहीं है।" सुबलजी ने कहा कि-"भला इसमें मुझे क्या एतराज होगा। मेरे लिए तो जैसे श्रीठाकुरजी वैसी आप।" तब श्रीजी ने कहा कि मैंने श्रीश्यामानन्दजी को अपने नूपुर की छाप देकर अपने परिकर में मिला लिया है। तुम जाकर इस बात की साक्षी दे आओ। (श्रीश्यामानन्दजी श्रीसुबल सखा के भाव में पगे रहते थे, अतः श्रीजी ने सुबल को ही भेजा।) सुबल ने तमाल वृक्ष की ओट से अदृश्य रूप से आकर साक्षी दी कि यह बात सत्य है। इन्हें छाप श्रीजी ने ही लगायी है। यह आकाशवाणी सुनकर श्रीहृदयानन्दजी भी, जो इस बात को नहीं मानते थे, माने गये। श्रीहृदयानन्दजी का अपराध प्रमाणित हो गया। अतः श्रीवैष्णवों ने उन पर दण्ड लगाया कि इसके प्रायश्चित्त में उन्हें द्वादश दिन तक कथा-कीर्तन-सत्संग, भोज-भण्डारा आदि द्वारा सन्तों की सेवा करनी पड़ेगी। "उसका नाम सन्त-वैष्णवों ने दण्डोत्सव रक्खा।" श्रीश्यामानन्दजी ने तत्काल पंचों के समक्ष खड़े होकर हाथ जोड़कर कहा कि-"पंचो! मेरे श्रीगुरुदेवजी के लिए जो कुछ करने का आदेश हुआ है, वह मैं करूँगा। मेरे धन्य भाग्य हैं जो इसी बहाने से सन्त-सेवा, कथा-कीर्तन आदि का सुयोग्य प्राप्त हुआ है।" सन्तों ने स्वीकृति दे दी। फिर तो

श्रीश्यामानन्दजी ने बड़े समारोह के साथ द्वादश दिवस तक वह उत्सव मनाया। उसमें बड़ा आनन्द मिला। अतः यद्यपि वह दण्ड एक ही बार के लिए था, परन्तु इन्होंने तो उसे प्रतिवर्ष मनाने का निश्चय किया और अपने निश्चय के अनुसार आजीवन वह दण्डोत्सव मनाते रहे। इनके तिरोधान के बाद इनके सुयोग्य शिष्य श्रीरसिकमुरारिजी वह उत्सव बड़े समारोह के साथ करते। उसी का संकेत करते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-"करैं गुरु उत्सव......।"

सन्त चरणामृतको ल्यावो जाय नीकीभांति जीकी भांति जानिबेको दास लै पठायौ है।
आनिकै बखान कियौ लियौ सब साधुनकौ पान करि बोले 'सो सवाद नहिं आयौ है'।।
जिते सभाजन कही चाखौ देहु मन, कोऊ महिमा न जानै कन जानी छोड़ि आयौ है।
पूछी, कही 'कोढ़ी एक रह्यौ' आनो, ल्यायो, पीयो, दियो सुख पाय नैन नीर ढरकायौ है।।३८५।।

शब्दार्थ—जी की भांति=हृदय का भाव।

भावार्थ—एकदिन श्रीरसिकमुरारिजी के यहाँ भण्डारे में बहुत से सन्त प्रसाद पा रहे थे। आपने एक शिष्य का सन्तों के प्रति हृदय का भाव जानने के लिए उसे आज्ञा देकर भेजा कि जाकर सन्तों का चरणामृत अच्छी प्रकार से ले आओ। उसने लाकर कहा कि मैं सब साधुओं का चरणामृत ले आया। श्रीरसिकमुरारिजी चरणामृत पानकर बोले कि-"कि क्या कारण है कि चरणामृत में पहले जैसा स्वाद नहीं आया।" फिर वहाँ समाज में जितने लोग उपस्थित थे, उनसे बोले कि आप लोग भी मन को एकाग्रकर पान करो, देखो पहले जैसा स्वाद आता है? परन्तु वे बेचारे तो श्रीसन्त-चरणामृत की अनन्त महिमा में से कणमात्र भी नहीं जानते थे, अतः वे भला क्या स्वाद बतावैं। आपने निश्चय करके जान लिया कि यह किसी सन्त को चरणामृत लेने से छोड़ आया है। अतः जोर देकर पूछे कि-"सही बताओ तुमने किसी सन्त को छोड़ा तो नहीं है।" तब शिष्य ने कहा कि-"एक कोढ़ी सन्त थे, मैंने उन्हीं का चरणामृत नहीं लिया।" आपने कहा-"जाओ, उनका भी ले आओ।" तब शिष्य उनका भी चरणामृत ले आया।" आपने स्वयं पान किया और दूसरों को भी दिया। आपको वह चरणामृत पीने से अपार सुख की मिला। आपके नेत्रों से प्रेमाश्रु बह चले।।३८५।।

व्याख्या—सो सवाद नहीं आयो है—भगवत् भागवतप्रसाद, चरणामृत का दिव्य स्वाद होता है। परन्तु इसका अनुभव सबको नहीं होता। निष्ठावान पुरुषों को ही इसका अनुभव होता है। श्रीभगवत्प्रसाद रस स्वादियों के लिए देखिये, पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५७४, छ०-१५ की व्याख्या। "महिमा न जानैं"-सन्त-चरणामृत की अनन्त महिमा है। यथा-"नातः परतरं तीर्थं वैष्णवांघ्रिजलाच्छुभात्। तेषां पादजलं शुद्धां गङ्गामपि पुनाति हि।।" (आदिपुराण) अर्थ-

''श्रीवैष्णवों के मंगलमय चरणोदक से बढ़कर कोई तीर्थ नहीं है, उनका पवित्र पादोदक तो पावनी गङ्गा को भी पवित्र करने वाला होता है।'' पुनः-''गंग नहाये सहसबार, द्वारावति शतजानि। सन्तचरण जल जो पियै तुलै न ताहि समान।। ''कोढ़ी एक रह्यौ''-वस्तुतस्तु कोढ़ी सन्त का रूप धारणकर श्रीठाकुरजी ही श्रीरसिकमुरारिजी की श्रीसन्त-चरणामृत निष्ठा की परीक्षा लेने आये थे। श्रीरसिकमुरारिजी ने कहा- ''आनौ''-क्योंकि सन्त तो साक्षात् भगवत्स्वरूप होते हैं। तो जब भगवान दिव्य होते हैं तो सन्त भी दिव्य होते हैं और जब सन्त दिव्य होते हैं तो उनका रोग भी दिव्य होता है। फिर उनके चरणामृत से घृणा कैसी? पुनः किसी प्रकार व्याधि हो जाने से सन्त की महिमा में कुछ अन्तर नहीं होता है। श्रीगौरांग महाप्रभुजी कहते हैं-''दृष्टैः स्वभाव निरतैर्वपुषस्तु दोषै र्न प्राकृतत्व मिह भक्तजनस्य पश्येत्। गङ्गावसान खलु बुद्बुद फेनपंकै-र्ब्रह्मद्रवत्वमुपगच्छति नीरधर्मे।।'' अर्थ-''जैसे गङ्गाजी में फेन, पंक ये दोष जल के गुणधर्म हैं। इनसे ब्रह्मद्रवत्व नष्ट नहीं होता है। गङ्गा का महत्व कम नहीं होता है। उसी प्रकार से श्रीभगवद्भक्तों के स्वभाव में तीक्ष्णता आदि एवं शारीर में रोग-रोषादिकों को देखकर भी उनमें प्राकृत्व नहीं देखना चाहिए। इन दोनों से उनकी भक्ति में कोई त्रुटि नहीं होती है। ये दोष शारीरिक धर्म हैं। अरे भैया! सच्चा कुष्टी तो वह है जो मन से दुष्ट है। यथा-''पर सुख देखि जरनि सोई छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई।।'' (रामा०), उसके दर्शन, स्पर्श, समागम से बचना चाहिए। अतः उन सन्त का चरणामृत तो लाओ ही।

पीयो, दियो—श्रीरसिकमुरारिजी ने उन सन्त का चरणामृत स्वयं पिया और अन्यों को भी दिया। कहते हैं कि एक कोढ़ी को वह चरणामृत पिलाये तो वह तत्काल निरोग हो गया और एक बीमार बालक को पिलाये तो उसकी बीमारी दूर हो गई। आपके द्वारा चरणामृत के बहुत से चमत्कार देखे गये हैं। एकबार एक बालक को काले नाग ने डस लिया था। आपने सन्तों का ही चरणामृत पिलाकर उसे अच्छा कर दिया। एक ब्राह्मणी आपकी शिष्या थी। उसका पुत्र भी किसी असाध्य रोग से पीड़ित था। वह हारकर आपके पास अपने पुत्र को लाई। आपने उसे सन्तों का चरणामृत पिलाया। वह अच्छा हो गया। कुछ दिन बाद उसी ब्राह्मणी का दामाद आया। जब उसने यह बात सुनी तो उसे विश्वास नहीं हुआ। उसने श्रीरसिकमुरारिजी के पास आकर सन्तों की, सन्त चरणामृत की एंवं श्रीरसिकमुरारिजी की निन्दा किया। आपने तो कुछ नहीं कहा, परन्तु दैवेच्छा से घर जाते ही उसके पेट में असह्य पीड़ा होने लगी। बहुत उपचार किया गया, परन्तु लाभ कुछ भी नही हुआ। अन्ततोगत्वा वह ब्राह्मणी उसे भी लेकर इन्हीं के पास आई। आपने प्रथम तो उसके अविश्वास को देखकर टालना चाहा, परन्तु ब्राह्मणी के आग्रह

पर तथा पीड़ा से अत्यधिक बेचैन होने पर उसके दामाद के भी रोने गिड़गिड़ाने पर उसे भी सन्तों का चरणामृत दिया और वह भी अच्छा हो गया। ऐसी अनेकों घटनायें हैं।

नृपति समाज में विराजमान भक्तराज कहैं वे विवेक कोऊ कहनि प्रभाव है।
तहां एक ठौर साधु भोजन करत रौर देवौ दूजी सोंटा सङ्ग कैसे आवै भाव है।।
पातरि उठाय श्रीगुसाईं पर डारि दई दई गारी सुनी आप बोले देख्यो दाव है।
सीथ सों विमुख मैं तो आनिमुखमध्य दियौ कियौ दास दूर सन्तसेवा में न चाव है।।३८६।।

शब्दार्थ—रौर=रौरा, शोरगुल। दाव=सुअवसर, वन की अग्नि।

भावार्थ—एकबार भक्तराज श्रीरसिकमुरारिजी राजाओं के समाज में विराजमान होकर ज्ञानोपदेश कर रहे थे। सभी लोग बड़े ही मनोयोगपूर्वक आपका उपदेश श्रवण कर रहे थे। क्योंकि आपकी उपदेश की पद्धति ही ऐसी थी कि श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। वहीं पास में ही एक स्थल पर सब सन्त बैठे भोजन कर रहे थे। उन्हीं सन्तों में से एक सन्त अपने अतिरिक्त अपने सोंटे (डंडे) का भी एक दूसरा पारस माँग रहे थे। परन्तु रसोईया उन्हें सोंटे का पारस नहीं दे रहे थे। क्योंकि भला सोंटे के प्रति कैसे भाव आ सकता है। पारस न देने पर वह सन्त शोरगुल मचा रहे थे। अन्ततोगत्वा उन सन्त ने अपनी परसी-परसाई पत्तल उठाई और गोस्वामी श्रीरसिकमुरारिजी के सिर पर दे मारा और बहुतेरी गालियाँ भी दीं। श्रीरसिकमुरारिजी शान्तिपूर्वक गालियाँ सुनते रहे। फिर अवसर देखकर बोले-''अहो! मैं तो सन्तों की सीथ-प्रसादी से विमुख था तो सन्त ने स्वयं कृपा करके लाकर मेरे मुख में ही डाल दिया।'' तत्पश्चात् आपने उस सेवक को, यह कहकर कि तुम्हारा संत-सेवा में भाव नहीं है, सेवा से अलग कर दिया।।३८६।।

व्याख्या—कैसे आवै भाव है—यह परसने वालों के साथ भी लगता है और श्रीरसिकमुरारिजी के साथ भी। परोसने वालों का जो भाव सन्तों में है वह भाव भला सोंटा में कैसे हो सकता है? पुनः शोर गुल सुनकर श्रीरसिकमुरारिजी ने सोचा कि मेरे पास ये राजा, महाराजा बैठे हैं। मैं इन्हें सन्तों की ही महिमा सुना रहा हूँ और ये खाने के पीछे लड़ाई कर रहे हैं, तो भला इन लोगों का सन्त में कैसे भाव आ सकता है। एक सन्त कहते कि साधु चलते-फिरते अच्छे लगते हैं, उठते-बैठते, खाते-पीते अच्छे लगते हैं, परन्तु लड़ते हुए अच्छे नहीं लगते हैं। अतः कैसे आवै भाव है। यह सोचकर श्रीरसिकमुरारिजी स्वयं उठकर आये और पूछने लगे कि-''अरे भाई! क्या बात है क्यों शोरगुल हो रहा है?'' वह साधु तो स्वभाव से जरैल था ही, उस पर चिढ़ा भी था। अतः ''पातरि उठाय श्रीगुसाईं पर डारि दई।'' श्रीरसिकमुरारिजी ने बड़े प्रेम से उनके पत्तल को आपनी

साफी में समेट लिया। बड़े शान्त भाव से गालियाँ सुनते रहे। यह साधुओं का सहज स्वभाव है। यथा-"बूँद अघात सहैं गिरि कैसे। खल के बचन सन्त सह जैसे।।" (रामा०), पुन: खूँदन तो धरती सहै काटकूट वनराय। कुवचन तो साधू सहैं और पै सह्यौ न जाय।।" "सीथसों विमुख" भाव यह है कि श्रीरसिकमुरारिजी जिस निष्ठा से नियमपूर्वक सन्त चरणामृत लेते थे, उस प्रकार से सीथ-प्रसाद का नियम नहीं रखे थे। आज स्वत: प्राप्त हो गया। "आनि मुख मध्य दियौ"-बात यह हुई कि जिस समय उन सन्त ने पत्तल फेंकी, उस समय कुछ कहने के लिये श्रीरसिकमुरारिजी का मुँह खुला हुआ था, बस एक लड्डू इनके मुँह में भी चला गया। वे बड़े प्रेम से वह लड्डू पा गए। फिर जब उन महात्मा का क्रोध शान्त हुआ तो श्रीरसिकमुरारिजी बोले-महाराज! इन लोगों की गलती है जो आपके सोंटा का पारस नहीं दिये, अवश्य दिया जायेगा। परन्तु एक बात लोग जानने चाहते हैं कि आप सोंटे का पारस क्यों माँग रहे हैं? सन्तजी ने कहा-"पहली बात तो यह है कि आपने आज के दिन का निमन्त्रण दिया है। अत: मैं सोंटे के ब्याज से शाम के लिये भी माँग रहा हूँ। यदि नहीं माँगता हूँ और शाम को हमें भूख लगेगी, तो हम कहाँ जायेंगे।" दूसरी बात यह है कि मैं इस सोंटे से भाँग घोटकर पीता हूँ। तो मैं जब भाँग पीता हूँ तो मुझे फिर बड़े जोर से भूख लगती है। अत: मैंने सोंटे का भी पारस माँगा। यह सुनकर श्रीरसिकमुरारिजी हँस गये और बोले-"देखो, सन्त ने कैसी रहस्य की बात बताई, इनको एक नहीं दो पारस दिया जाय।" इस प्रकार आपने बिगड़ी बात को सहज में सुधार लिया। इस पर दृष्टान्त श्रीनिम्बार्ककोट के बाबाजी महाराज का। देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-४२२।

बागमें समाज सन्त चले आप देखिबेको देखत दुरायो जन हुक्का सोच पर्यौ है।
बड़ौ अपराध मानि साधु सनमान चाहैं, घूमितन बैठि कही देखौ कहूं धर्यौ है।।
जायकै सुनाई दास काहूके तमाखू पास सुनिकै हुलास बढ्यौ आगैं आनि कर्यौ है।
झूठे ही उसांस भरि सांचे प्रेम पाय लिये किये मन भाये ऐसे संका दु:ख हर्यौ है।।३८७।।

शब्दार्थ—घूमि तन=शरीर से चक्कर खाकर। हुलास=आनन्द। उसांस=ऊपर को खींची गई लम्बी श्वास।

भावार्थ—एकदिन की बात है। श्रीरसिकमुरारिजी के बाग में सन्तों की जमात टिकी हुई थी। आप सन्तों का दर्शन करने चले। उस समय एक सन्त हुक्का पी रहे थे। आपको आते हुए देखकर वे सन्त सकुचाकर हुक्का को कहीं छिपा दिये। अपने आने से सन्तों को संकोच हुआ जानकर आपको बड़ा सोच हुआ। आपने इसे अपना बहुत बड़ा भागवतापराध माना और इसके प्रायश्चित्त के लिये आपने उस साधु का सम्मान करना चाहा। फिर तो आप उसी क्षण चक्कर

खाकर पेट पकड़कर बैठ गये और बोले-"मेरे पेट में बड़े जोर का दर्द हो रहा है, देखो तो किसी सन्त के पास हुक्का रखा है क्या?" आपके एक सेवक ने सन्तों की जमात में जाकर सबको सुनाकर पूछा कि "किसी के पास हुक्का तम्बाकू है?" यह सुनकर हुक्का पीने वाले सन्त को बड़ा उल्लास हुआ और तत्काल ही हुक्का लाकर सामने रख दिया। आपने झूठ-मूठ की लम्बी श्वांस खींचकर हुक्का पीने का स्वाँग किया और तुरन्त स्वस्थ हो गये। इस प्रकार से आपने झूठे स्वाँग से ही सन्त का सच्चा प्रेम प्राप्त कर लिया तथा सन्त का भी मनभावता किया। इस प्रकार से आपने सन्त की शंका और दु:ख को दूर कर दिया।।३८७।।

व्याख्या—सोच पर्यो है—यह हुक्का पीने वाले सन्त और श्रीरसिकमुरारिजी- दोनों पक्षों में लगता है। सन्त को सोच हुआ कि यदि इन्होंने देख लिया होगा तो क्या कहेंगे कि देखो, महात्मा होकर धूम्रपान कर रहे हैं और श्रीरसिकमुरारिजी को इसलिये सोच हुआ कि मेरे कारण महात्मा को संकोच हुआ। मैं तो इनका सेवक हूँ। सेवक के कारण स्वामी को संकोच होना उचित नहीं है। इसलिये कहा गया है-"सबते सेवक धर्म कठोरा।"" "जो सेवक साहिबहिं संकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची।।" (रामा०), "ऐसे शंका दु:ख हर्यो है"-इस पर-

दृष्टान्त—एक सन्त का—एक सन्तजी बिना जल लिये लघुशङ्का कर रहे थे। एक दूसरे सन्त ने देख लिया तो उन्हें बड़ा संकोच हुआ। उसी दिन से वे उन सन्त के सामने आने में सकुचाने लगे। वे सन्त भी समझ गये कि इनको मेरे कारण संकोच हो गया, अत: उनका संकोच दूर करने के लिये उन्होंने ऐसी लीला की कि एक दिन जब स्वयं श्रीठाकुरजी के लिये भरा हुआ जल का कलश सिर पर लेकर आ रहे थे तो मार्ग में वे सन्त दिखलाई पड़ गये। अत: उन्होंने दिखाकर सिर पर कलश लिये हुए खड़े-खड़े लघुशंका करने लगे। उन सन्त ने देख लिया। फिर तो मानो अन्धे के हाथ बटेर लग गई हो। वे विचारने लगे कि ये तो हमसे भी गये बीते निकले। मैंने तो जलमात्र नहीं लिया था और ये तो श्रीठाकुरजी का जल लिये हुए खड़े-खड़े लघुशंका कर रहे हैं। उन सन्त से रहा नहीं गया। उन्होंने उनके गुरुजी के पास जाकर इस बात की शिकायत की। श्रीगुरुजी ने उन्हें बुलाकर पूछा कि तुमने ऐसा क्यों किया? तो इन्होंने कहा कि-जै जै, मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। जब हाथी की पीठ पर श्रीठाकुरजी का जल रखकर आता है तो हाथी भी लघुशंका लगने पर खड़े-खड़े लघुशंका करता है। फिर मैंने कर लिया तो क्या हर्ज हुआ? श्रीगुरुजी हँस गये और बोले-हाथी की बात छोड़ो, सही-सही कारण बताओ। तब उन्होंने बताया कि मैंने इनका संकोच दूर करने के लिये ऐसा किया था। उसी प्रकार से श्रीरसिकमुरारिजी ने भी उन सन्त का संकोच दूर करने के लिये स्वयं हुक्का पीने का स्वांग किया।

शब्दार्थ—मुतसद्दी=मुंशी, मुनीम, लेखक, जिम्मेदार। छाये=रहे।

भावार्थ—श्रीगुरुदेव श्रीश्यामानन्दजी की आज्ञा पाकर श्रीरसिकमुरारिजी ने आचमन किया। तत्पश्चात् श्रीश्यामानन्दजी ने इन्हें उसी स्थान पर भेजा, जहाँ पर दुष्टों में शिरोमणि नबाब रहता था। आप (श्रीरसिकमुरारिजी) वहाँ गये। वहाँ पर आपके शिष्यगण मिले, जो नबाब के यहाँ मुंशी, मुनीम आदि थे। उन सभी ने आपको नबाव की बात सुनायी कि वह बड़ा नीच है। शास्त्रों में दुष्टों के जैसे लक्षण कहे गये हैं, वे सब उसमें हैं अतः आप तो यहाँ से प्रातःकाल ही उठकर चले जाओ। उसके पास आप स्वयं न जाकर हम लोगों को ही भेजें। हम सब उसको समझा बुझाकर काम करा लेंगे। श्रीरसिकमुरारिजी समझ गए कि ये लोग मेरे प्रेमवश भयभीत हो रहे हैं। अतः बोले कि-चिन्ता मत करो। हृदय में निश्चिन्तता को धारण करो। तीन दिन तक मुतसद्दी लोग अपने गुरुदेव श्रीरसिकमुरारिजी की ही सेवा में रहे। तीसरे दिन नबाब का ध्यान इस ओर गया तो उन लोगों को दरबार में बुलवाया और पूछा कि तीन दिन तक कहाँ रहे।।३८९।।

व्याख्या—आज्ञा पाइ अँचयो लै—श्रीगुरु आज्ञा पालन का यह अपूर्व उदाहरण है। प्रथम तो आज्ञा पाते ही आप बिना आचमन किये ही चले आये, अब बिना आज्ञा के आचमन भी नहीं करते हैं। इस पर–

दृष्टान्त—दो स्त्रियों का—ये दोनों ही बड़ी पतिव्रता थीं। एक स्त्री एक दिन धान कूट रही थी, उसी समय उसका पति आया और पीने का पानी माँगा तो उसने हाथ में ऊपर उठे हुए मूसल को नीचे भी नहीं रखा बल्कि वह जितना ऊपर उठा था वहीं छोड़कर पति की आज्ञा पालन में लग गई। मूसल अधर में ही लटका रहा। दूसरी स्त्री जल भर रही थी उसी समय किसी कार्यवश उसके पति ने पुकारा तो वह घड़ा को कुएँ में से बिना निकाले ही जहाँ का तहाँ छोड़कर चली आई। उसका घड़ा भी कुएँ में जहाँ का तहाँ अटका रहा। इसी प्रकार श्रीरसिकमुरारिजी ने भी तत्काल गुरु आज्ञा का पालन किया। आज्ञा पालन सबसे बड़ी सेवा है। यथा-''आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावै देवा।।'' (रामा०) सन्तजन कहते हैं कि गुरुभक्ति, भक्तिरूपी भवन की नींव है। नींव दृढ़ रहती है तो महल भी मजबूत बना रहता है। नींव कमजोर हो और महल कितनाहू मजबूत बनाया गया हो तो भी वह टिक नहीं सकता। धराशायी होकर रहेगा। उसी प्रकार गुरुभक्ति दृढ़ होने पर ही भगवद् भक्ति भी सुदृढ़ बनी रहेगी। गुरुभक्ति में शिथिलता आने पर भगवद् भक्ति भी अपने आप शिथिल हो जायेगी। अतः श्रीरसिक मुरारिजी ने गुरुभक्ति को दृढ़ रखा।

दुष्ट शिर मौर— देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-२०० ''जैसे गाये हैं''-अर्थात् शास्त्र-पुराणों, सद्ग्रन्थों में जैसा कुछ दुष्टों का लक्षण कहा गया है। यथा-''बहुरि बन्दि खलगन सति भाएँ। जे बिनुकाज दाहिनेहुं बाएँ। परहित हानि लाभ जिनकेरे। उजरे हरष विषाद बसेरे।। हरिहर जस राकेस राहुसे। पर अकाज भट सहस बाहुसे।। जे पर दोष लखहिं सहसाखी। परहित घृत जिन्हके मनमाखी।। तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा।। उदय केत सम हित सबहीके। कुम्भकरन सम सोवत नीके।। पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषि दलि गरहीं।। बंदउं खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनै परदोषा।। पुनि प्रनवउं पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दसकाना।। बहुरि सक्र सम विनवऊं तेही। सन्तत सुरानीक हित जेही।। वचन वज्र जेहि सदा पियारा। सहस नयन परदोष निहारा।। उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति। जानि पानि जुग जोरि जन विनती करइ सप्रीति।।'' (बा०का० ४-१-११) पुनः-''सुनहु असन्तन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुं संगति करिअ न काऊ।। तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहिं घालइ हरहाई।। खलन्ह हृदय अति ताप विसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी।। जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परीनिधि पाई।। काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन।। बयरु अकारन सब काहू सौं।। जो कर हित अनहित ताहू सौं।। झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना।। बोलहिं मधुर वचन जिमि मोरा। खाइँ महा अहि हृदय कठोरा।। परद्रोही परदार रत पर धन पर अपवाद। ते नर पांवर पापमय देह धरे मनुजाद।। लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रासन।। काहूकी जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई।। जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जग नृपती।। स्वारथरत परिवार विरोधी।लंपट काम लोभ अति क्रोधी।। मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं।। करहिं मोहबस द्रोह परावा। सन्तसङ्ग हरिकथा न भावा।। अवगुन सिन्धु मन्द मति कामी। वेद विदूषक परधन स्वामी।। विप्रद्रोह परद्रोह विसेषा। दम्भ कपट जियँ धरें सुवेषा।। ऐसे अधम मनुजखल, कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक वृन्द बहु, होइहैं कलिजुग माहिं।।'' (रामा० ७-३९-४०)

नेह डरपाये हैं—यह प्रेम का स्वभाव है कि प्रेमास्पद के प्रति पदे-पदे अनिष्ट की आशंका बनी रहती है। यथा-''रावन रथी विरथ रघुबीरा। देखि विभीषण भयउ अधीरा।। अधिक प्रीति मन भा सन्देहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा।। नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बल वाना।।'' (रामा० ६-८०-१/३) ''चिन्ता जिनि करौ''-श्रीरसिक मुरारिजी ने सबको आश्वासन दिया कि आप लोग रंच मात्र भी चिन्ता मत करें। मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। उसके

पास में ही जाऊँगा। क्योंकि एक तो श्रीगुरुजी ने मुझे ही भेजा है अत: अब दूसरों को भेजना उचित नहीं है। श्रीगुरुकृपा, श्रीगोविन्दकृपा एवं सन्तों की कृपा से मेरा मङ्गल ही होगा। दूसरे अपने सुख स्वार्थ के लिये दूसरों को दु:ख में डालना उचित नहीं है। तीसरे उससे मिलने की मुझे इच्छा भी है। वह इसलिए कि सन्त तो हमने बहुत देखे हैं। परन्तु असन्त मैंने नहीं देखे हैं। अत: देखूँगा कि यह कैसा दुष्ट है? चौथे जैसे कोई असाध्य रोगी है। इसके लिए वैद्य बुलाया गया हो तो यह जानकर भी कि यह रोग असाध्य है, रोगी निश्चय मर जायगा, वैद्य लौट नहीं जाता, बल्कि उसको नाड़ी देखता है और जब तक उसकी नाड़ी चलती है, तब तक वह यथासाध्य प्रयास करता है। वैसे ही मैं भी इसे देखूँगा कि इसमें कहाँ तक दुष्टता भरी है और इसके लिए कौन सी उपयुक्त औषधि है। अत: हर हालत में मुझे ही जाना उपयुक्त है।

सुनि आये गुरुवर कही ल्यावो मेरे घर देखौं करामात बात यह लै सुनाई है।
कह्यौ आनि अभूँ जावौ, चलौ उनमान देखै, चले सुख मानि आयौ हाथी धूम छाई है।।
छोड़िकै कहार भाजि गये न निहारि सके आप रससार बानी बोले जैसी गाई है।
बोलौ हरे कृष्ण कृष्ण छाड़ौ गज तम तन सनि गयौ हिये भाव देह सो नवाई है।।३९०।।

शब्दार्थ—करामात=चमत्कार। धूम=हल्ला।

भावार्थ—जब नबाव ने मुतसद्दियों के मुख से यह सुना कि उनके गुरुवर्य्य आये हैं तो कहा कि उन्हें मेरे घर लिवा लाओ, मैं उनकी करामात देखूँगा। नबाव ने जब यह बात सुनाई तो मुतसद्दियों ने आकर श्रीरसिकमुरारिजी से प्रार्थना की कि अब भी आप यहाँ से चले जाइये। आपने कहा कि चलो, जरा उसको देखें तो क्या कहता-करता है। उसकी कितनी सामर्थ्य है, उसमें कितनी दुष्टता भरी हुई है जरा इसका अन्दाज तो लें। यह कहकर आप सुखपूर्वक पालकी में बैठकर नबाव के पास चले। मार्ग में आए तो देखे कि चारों ओर मतवाले हाथी की धूम छाई हुई है। हाथी के डर से कहार इनकी पालकी छोड़कर भाग गये। वे हाथी की ओर देख भी नहीं सके। परन्तु आप किंचिन्मात्र भी विचलित नहीं हुये। बल्कि शास्त्रों में जैसी वाणी बोलने को कहा गया है, हाथी से आप वैसी ही परम रसमयी वाणी बोले-"हे गज! हरे कृष्ण हरे कृष्ण कहो, अपने तामसी शरीर के तपोगुणी स्वभाव को छोड़ो।" आपके ये वचन सुनते ही हाथी के हृदय में प्रेम-भाव भर गया। उसने आपके श्रीचरणों में अपने शरीर को झुकाकर प्रणाम किया ।।३९०।।

व्याख्या—सुनि आये गुरुवर—इसके दो भाव होंगे। एक तो यह है कि नबाब ने जब पूछा कि तीन दिन तक कहाँ रहे, तो मुतसद्दियों ने सीधे-सीधे बता दिया कि मेरे गुरुदेव आये हैं, हम

लोग उन्हीं की सेवा में रहे। तो नबाव ने जब सुना कि इनके गुरुदेव आये हैं- "तो......। दूसरा भाव यह है कि नबाब के पूछने पर मुतसद्दियों ने भय वश प्रसंग को छिपाना चाहा, तो नबाव ने कहा कि छिपाओ मत मैं जानता हूँ। मैंने सुना है कि तुम लोगों के गुरुदेव आए हैं...। इससे जनाया गया कि उसने अपने गुप्तचरों द्वारा पहले ही पता लगा लिया था। "चले सुख मानि"-नबाब ने ऊपर से तो भाव दिखाने के लिये श्रीरसिकमुरारिजी को दरबार में लाने के लिये पालकी भेजा था। परन्तु उसके हृदय का दुष्ट अभिप्राय यह था कि उसने कहारों को सिखा पढ़ाकर पालकी भेजा था कि तुम लोग उस रास्ते से ही इनको लिवा लाना, जिस रास्ते में हाथी ऊधम मचा रहा हो और हाथी के समीप पालकी छोड़कर भाग जाना। परन्तु ये इन बातों की कुछ परवाह न करके सुखपूर्वक पालकी पर बैठकर चले। "हाथी धूम छाई है"-उधर नबाब ने श्रीरसिकमुरारिजी को लाने के लिये पालकी भेजा और इधर एक मतवाले हाथी को मदिरा पिलाकर महावत को हुक्म दिया कि जब रसिकमुरारिजी आवें तो उन्हें हाथी से कुचलवा डालना। महावत हाथी को लेकर इनके मार्ग में चला। हाथी एक तो युवावस्था का होने के कारण स्वयं ही मतवाला था, उस पर भी उसे मदिरा पिलायी गयी थी अत: उसने अत्यन्त उन्मत्त होकर पहले से ही उपद्रव करना शुरू कर दिया। गांव में इस बात का बड़ा हल्ला-गुल्ला मच रहा था। कहारों ने नबाब के संकेतानुसार पालकी को हाथी के समीप ले जाकर रख दिया और स्वयं भाग गये। "आप रससार बानी बोले जैसी गाई है"-श्रीरसिकमुरारिजी निर्भय होकर हाथी के समीप चले गए और अमृतमय श्रुतिसार, रससार वचन बोले। सन्त वाणी के ये सहज गुण हैं। यथा-"कोमल बानी सन्त की, स्त्रवत अमृत मय आइ। तुलसी ताहि कठोर मन, सुनत मैन होइ जाइ।। श्रुति सम्मत, रस सार, हित, कहत अमिय मय बैन। जाहि सुनत सब दु:ख दहैं, होय हिये मँह चैन।।" (सन्तवाणी)।

बहै दृग नीर देखि ह्वै गयौ अधीर आप कृपा करि धीर कियौ दियौ भक्ति भाव है।
कान में सुनायौ नाम नामदै 'गुपालदास' माल पहिराई गरें प्रगट्यौ प्रभाव है।।
दुष्ट सिर मौर भूप लखि उहि ठौर आयौ पांय लपटायौ भयौ हिये अति चाव है।
निपट अधीन गांव केतिक नवीन दिये लिये करजोरि मेरौ फल्यौ भागदाव है।।३९१।।

भावार्थ—श्रीरसिकमुरारिजी का मङ्गलमय दर्शन करके और अमृतमय वचनों को श्रवण करके हाथी अत्यन्त प्रेम के कारण अधीर हो गया। उसके नेत्रों से प्रेमाश्रु बहने लगे। तब आपने कृपा करके उसे धैर्य बँधाया और भक्ति भाव प्रदान दिया। उसके कान में श्रीकृष्ण नाम सुनाया, गले में तुलसी की माला पहनाई और उसका नाम गोपालदास रखा। इस प्रकार से मतवाले हाथी को शिष्य बनाने से श्रीरसिकमुरारिजी का महान् प्रभाव प्रकटित हुआ, जिसे देखकर

दुष्ट शिरोमणि नबाब दौड़कर उसी स्थान पर आया और आपके श्रीचरणों में लिपट गया। उसके हृदय में भी आपके प्रति अत्यन्त प्रेम हो गया। वह एकदम आपके अधीन हो गया और जो जमीन जब्त की थी वह तो लौटा ही दी और भी कितने नवीन गांव भेंट में दिए। पुनः हाथ जोड़कर बोला कि-आज मेरे किसी बड़े भाग्य का उदय हुआ, मेरा पुण्य का पासा पड़ गया है जो आपका दर्शन हुआ।।३९१।।

व्याख्या—बहै दृग नीर०—यह प्रेम का लक्षण है। श्रीरसिकमुरारिजी ने मतवाले जड़ पशु हाथी के हृदय को भी सरस बना दिया। यही आपकी परमोदारता है जिसका संकेत छप्पय में किया गया है। आपने विधिपूर्वक हाथी का वैष्णवोचित पंच-संस्कार किया। "प्रगट्यौ प्रभाव है"-तभी तो कहा गया है-"जिते प्रतिकूल मैं तो माने अनुकूल याते संतन प्रभाव मनि कोठरी की तारी है।" (क०-२६५), विशेष देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-५३३ में इसकी व्याख्या। नबाब अपने महल से यह सब दृश्य देख रहा था। वह समझ गया कि ये तो साहब से मिले हुए फकीर हैं। इनका मैंने अपराध किया है, उसके लिए क्षमा-याचना करनी चाहिये। अतः महल से उतरकर दौड़कर इनके चरणों में पड़कर पुनः-पुनः क्षमा माँगी। बहुत से नये गांव भेंट में दिये तथा वह हाथी भी इन्हीं को भेंट कर दिया। श्रीरसिकमुरारिजी हाथी को अपने साथ में लेकर स्थान को लौट आये।

भयौ गजराज भक्तराज साधुसेवा साज सन्तनि समाज देखि करत प्रनाम है।
आनि डारै गोनि बनजारनि की बारन सौं आयेई पुकारन वे जहाँ गुरु धाम है।।
आवत महोच्छौ मध्य पावत प्रसाद सीथ बोले आप हाथी सौं यों निंद्य वह काम है।
छोड़ि दई रीति तब भक्तन सौं प्रीति बढ़ी संग ही समूह फिरै फैलि गयो नाम है।।३९२।।

शब्दार्थ—गोनि=टाट का थैला, बोरा। बनजारिन=व्यापारियों की। बारन=हाथी। बारन सों=वाड़ियों से, स्थानों से।

भावार्थ—श्रीरसिकमुरारिजी की कृपा से वह गजराज गोपालदास भक्तराज हो गया। वह खूब सन्तों की सेवा का साज सजाता था अर्थात् सन्त-सेवा करता था। सन्त समाज को देखकर प्रणाम करता था। वह हाथी बनजारों के यहाँ से बोरे के बोरे चावल-दाल आदि लाकर सन्तों की जमात में पटक देता था। एकबार सभी बनजारे मिलकर गजराज गोपालदासजी के गुरुदेव श्रीरसिकमुरारिजी के स्थान पर आकर पुकार किये कि आपके शिष्य गज गोपालदासजी हम लोगों का सब माल-मत्ता उठा लाते हैं। गज गोपालदासजी का नियम था कि जब कभी स्थान में कोई विशेष महोत्सव, भोज-भण्डारा होता तो जब सन्तों की पंक्ति

भोजन करके उठ जाती तब वे आते और सन्तों की सीथ प्रसादी पाते। एक दिन ऐसे ही समय पर आये तो श्रीरसिकमुरारिजी ने इन्हें समझाया कि तुम बलात्कारपूर्वक बंजारों का सामान मत उठा लाया करो। यह काम निन्द्य है। तब से गज गोपालदासजी ने वह काम छोड़ दिया। सन्तों से उनका ऐसा प्रेम बढ़ा कि उनके सङ्ग सन्तों का समूह चलता था। इससे गजगोपालदासजी की बड़ी ख्याति फैली।।३९२।।

व्याख्या—आनि डारै गोनि—गजगोपालदासजी का सन्त सेवा में बड़ा चाव था। अतः सन्त भी उनसे खूब सेवा फरमाते थे। कभी कोई सन्त कहते-गुरुभाईजी! आज साग नहीं है, तो वे साग मण्डी से जाकर बोरे के बोरे साग उठा लाते। यदि कोई रोकने की चेष्टा करता तो ये तनिक-सा अपना सूँड़ फटकार देते, लोग अपने आप डर जाते। कभी कोई कहता-गोपालदासजी! अँचला लँगोटी नहीं है तो ये बजाजों की दुकान से कपड़ों की गाँठ की गाँठ उठा लाते। कभी कोई कहता-भक्तराजजी! सर्दी पड़ रही है, ओढ़ने को कम्बल नहीं है, तो ये बण्डल के बण्डल कम्बल उठा लाते। ऐसे ही जब कभी कोई सन्त कुछ कहते तो तत्काल ही ये सब वस्तुएँ लाकर उपस्थित कर देते। इससे संत इनसे खूब प्रसन्न थे। सन्त इन्हें खूब प्रसाद खिलाते थे। संतों का स्वभाव होता है कि जो उनकी सेवा करते हैं, उन्हें खूब प्रसाद देते हैं। प्रसाद में ही तो सारा चमत्कार भरा है। "आयेई पुकारन वे"-बनजारों ने प्रथम नबाब के पास जाकर पुकार की। परन्तु नबाब ने जवाब दे दिया कि मैंने तो हाथी को श्रीरसिकमुरारिजी को भेंट कर दिया है। उस पर अब मेरा अधिकार नहीं है। तब सब लोग श्रीरसिकमुरारिजी के पास गये। "छोड़ि दई रीति"-जब से श्रीगुरुजी ने मना किया तब से गजगोपालदासजी किसी के यहाँ से कुछ नहीं लाते। यदि कोई कुछ लाने को कहता तो सिर हिला देते। भाव यह है कि श्रीगुरुजी की आज्ञा नहीं है। इनके इस आचरण से लोग बड़े प्रभावित हुए और अपने आप इन्हें सन्त सेवा निमित्त अन्न-वस्त्रादि देने लगे। इन्हें जो कुछ मिलता वह सब सन्तों को अर्पण कर देते। सन्त इन्हें आशीर्वाद देते। फलस्वरूप सन्तों में इनकी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। आगे चलकर तो इनके साथ सन्तों की बहुत बड़ी जमात चलने लगी।

सन्त सत पांचसात सङ्ग जित जात तित लोग उठि धावैं ल्यावैं सीधे बहु भीर है।
चहूँ दिसि परी हई सूबा सुनि चाह भई हाथ पै न आवत सो आनै कोऊ धीर है।।
साधु एक गयौ गहि लयौ भेष दास तन मन में प्रसाद नेम पीवै नहिं नीर है।
बीते दिन तीन चार जलले पिवावैं धार गङ्गा जू निहारि मधि तज्यौ यों सरीर है।।३९३।।

शब्दार्थ—सतपाच सात=पांच सात सौ। हई=आश्चर्य, हल्ला।

भावार्थ—श्रीगजगोपालदासजी के साथ पांच सात सौ सन्तों की जमात चलती। ये जिधर ही जाते उधर ही लोग उठकर दौड़ पड़ते और सन्त-सेवा हेतु बहुत-बहुत सीधा सामान लाकर रख देते। इनके दर्शनार्थ लोगों की भीड़ लग जाती। यत्र-तत्र-सर्वत्र चारों दिशाओं में इनकी आश्चर्यजनक चर्चा चलने लगी। इनका चमत्कार सुनकर बंगाल सूबेदार को चाह हुई कि ऐसे हाथी को हम अपने पास रखें। अत: पकड़वाने के लिये उसने बहुत-से आदमी नियुक्त किये। परन्तु यह किसी के भी हाथ नहीं आते अर्थात् पकड़ में नहीं आते। तब बंगाल के सूबेदार ने यह घोषणा की कि जो भी धीरवान पुरुष हाथी को पकड़कर लावेगा, उसको बहुत पुरस्कार दिया जायेगा। यह सुनकर एक साधु वेषधारी, जो नाम मात्र का साधु था, वस्तुतस्तु वह स्वभाव से दुष्ट था, भेषमात्र साधु का था, श्रीगज गोपालदासजी को पकड़ लाया, श्रीगजगोपालदासजी का नियम था कि बिना सन्तों की सीथ प्रसादी लिये जल भी नहीं पीते थे। सूबेदार के यहाँ पर सन्तों की सीथ प्रसादी न मिलने से तीन-चार दिन तक इन्होंने कुछ भी खाया-पीया नहीं। तब सूबेदार के कहने से नौकर-चाकर इन्हें जल पिलाने के लिये श्रीगंगाजी की धारा में ले गये। श्रीगंगाजी का दर्शन करके इन्होंने बीच धारा में प्रवेश करके अपना शरीर छोड़ दिया।।३९३।।

व्याख्या—सन्त सत पाँच सात—श्रीगजगोपालदासजी की जमात में सन्त बहुत रहते थे। कारण कि ये सेवा खूब करते थे। इनके रहने पर खाने-पानी का तो खूब सुपास रहता ही था, विशेष बात यह भी थी कि जमात जब चलती तो सन्तों का आसन-बासन सब अपनी पीठ पर लाद लेते। कोई वृद्ध अथवा दु:खी सन्त होते तो उनको भी पीठ पर बैठा लेते। इससे सन्त बड़े प्रसन्न रहते। सन्त कहते कि महन्त हो तो ऐसा हो। प्राय: यह देखा गया है-कि महन्त लोग अपना भार दूसरों के सिर पर रखते हैं। उन्हें दूसरे के सुख-दु:ख की कम परवाह होती है। इस पर-

दृष्टान्त—कण्ठीबन्दका—एक गुरुजी थे। उनके यहाँ एक भोला-भाला आदमी शिष्य बनने आया। उन्होंने उसके गले में कण्ठी बाँध दी और रात दिन उससे जीतोड़ काम लेने लगे। एक बार गंगा स्नान का कोई पुण्य पर्व लगा। गुरुजी ने चेला से कहा-बच्चा! गंगास्नान करने चलना है। चेला ने गुरुजी का आसन बाँधा, थोड़ा बहुत अपना सामान भी लिया और सब लाद-फांदकर गुरुजी के साथ चल पड़ा। कुछ दूर चलकर गुरुजी ने एक परिचित मित्र के यहाँ रात्रि में विश्राम किया। जब प्रात:काल चलने लगे तो मित्र ने कहा-चलने का विचार तो मेरा भी है, परन्तु कोई आसन-वासन ले चलने वाला नहीं है। गुरुजी

ने कहा-है तो कण्ठी बन्द चेला मेरे साथ। यह ले चलेगा। फिर मित्रजी भी तैयार हो गये। कण्ठी बन्द ने उनका आसन भी अपने सिर पर धर लिया। आगे चलकर पुन: एक मित्र के यहाँ विश्राम हुआ। वहाँ भी वही हाल रहा। बेचारे कण्ठीबन्द ने उनका सामान भी सिर पर लादा। आगे चलकर पुन: एक मित्र के यहाँ पड़ाव पड़ा। वहाँ भी वही समस्या आई तो कण्ठी-बन्द चेला हृदय से हार गया। क्योंकि उसके पास पिछले बोझ ही इतने थे कि उससे चला नहीं जाता था। अब जब पुन: गुरुजी ने इन मित्र का सामान भी ले चलने को कहा तो चेलाजी ने खिसियाकर कण्ठी तोड़कर गुरुजी को देते हुए कहा कि यह लो अपनी कण्ठी और इसे किसी बैल अथवा ऊँट अथवा गधे के गले में बाँध देना। अब हमसे कण्ठी की कीमत नहीं चुकाई जा सकेगी। तो ऐसा कठोर नहीं होना चाहिये। श्रीगजगोपालदासजी सरीखे महन्त होना चाहिये। श्रीगजगोपालदासजी की जमात जहाँ टिकती, वहाँ दर्शनार्थियों की भीड़ लग जाती। लोग सन्तों से पूछते-जमात का महन्त कौन हैं? तो सन्त हाथी से श्रीगज गोपालदासजी की ओर इशारा करते। लोगों को बड़ा कौतुहल होता, साथ ही श्रीगज गोपालदासजी की महिमा सुनकर बड़ी श्रद्धा होती। सीधा-सामान का ढेर लग जाता। परन्तु श्रीगजगोपालदासजी उन अमनियाँ सामग्रियों को छूते ही नहीं। ये तो सन्तों की सीथ-प्रसादी ही लेते थे और पेट भरने के लिये जंगल में चले जाते।

सूबा सुनि चाह भई—बंगाल के नबाव शाहसूजा ने श्रीरसिकमुरारिजी से कहा कि आपने हाथी को शिष्य बनाया है, वह हाथी बहुत समझदार है, उससे कहो, मुझे बीस हाथियों की जरूरत है, लाकर दे। यदि ऐसा नहीं करोगे तो सब साधुओं एवं गजगोपालदास के सहित तुमको कारागार में डाल दिया जायेगा। श्रीरसिकमुरारिजी ने गजगोपालदासजी से कहा तब उन्होंने जंगल में जाकर अपना मतवालापन दिखाकर बीस हाथियों को घेरकर एक खड्डे में गिराया। नबाब को सूचना मिली। उसने बीस हाथियों को जंजीरों में जकड़वाकर मँगा लिया। परन्तु इतने मात्र से ही उसका लोभ शान्त नहीं हुआ। वह तो अब भी श्रीगज गोपालदासजी को पकड़कर अपने यहाँ सेना में रखना चाहता था। अत: जब श्रीगज गोपालदासजी जंगल में उदरपूर्त्यर्थ जाते तो नबाब अपने आदमियों से पकड़वाने का प्रयत्न करता। परन्तु ये पकड़ में नहीं आते। तब नबाब ने पुरस्कार की घोषणा की। यह बात प्रसिद्ध थी कि ये सन्तों में अत्यन्त प्रीति और विश्वास करते हैं। अत: एक वेष धारी ने लोभवश इन्हें पकड़कर नबाब के हवाले कर दिया। यद्यपि श्रीगजगोपालदासजी ने पहचान लिया कि यह साधु नहीं, साधु वेषधारी है फिर भी वेष की मर्यादा रखते हुए उसकी पकड़

में आ गये। परन्तु सन्तों का वियोग हो जाने से तथा सन्तों की सीथ-प्रसादी न मिलने से इन्होंने गङ्गाजी में शरीर ही छोड़ दिया। इस प्रकार अन्त तक अपनी निष्ठा का निर्वाह किया।

विशेष—श्रीरसिकमुरारिजी का प्रादुर्भाव उड़ीसा मल्लभूमि में रोहिणी नगर में श्रीमान् श्रीअच्युत पट्टनायक भक्त जमींदार के घर माता भवानी देवी के गर्भ से शकाब्द १५१२, कार्तिक शुक्ल, प्रतिपदा को प्रातःकाल की मंगल बेला में हुआ था। भृगुसंहिता के पण्डितों ने विचारकर इनमें महापुरुष के लक्षण बताये। नामकरण के समय पुरोहितजी ने ज्योतिष विधि से आपका नाम "रसिक" रखा। परन्तु पिताजी आपका नाम "मुरारि" रखना चाहते थे। अन्त में दोनों नाम मिलाकर "रसिक मुरारि" नाम रखा गया। अन्न प्राशन के दिन प्रवृत्ति परीक्षण हेतु रखे गये विविध मंगल द्रव्यों में श्रीमद्भागवतजी के ऊपर आपने हाथ रखा था। जन्मभूमि पुरीधाम के मार्ग में होने के कारण इन्हें बाल्यकाल से ही साधु दर्शन का मौका मिलता रहता था। ये सन्तों में खूब सद्भाव करते। भिक्षार्थ जब साधु द्वार पर "जय जगदीश" की आवाज लगाते तो ये अपने छोटे-छोटे हाथों में जो कुछ मिलता, भरकर भिक्षा देते। सन्त इन्हें अत्यन्त प्यार करते हुए हृदय से लगा लेते। इनकी बचपन से ही श्रीहरिनाम-संकीर्तन में बड़ी रुचि थी। अध्ययनकाल में पढ़ाई के साथ-साथ बच्चों को लेकर नगर-कीर्तन करते, ग्राम की परिक्रमा करते। कीर्तन-मण्डली के आगे कभी तुलसी का गमला, निशान, कभी पताका लेकर चलते। विशेषकर एकादशी के दिन जागरण और द्वादशी को नगर-कीर्तन अवश्य करते। एकबार इनके पिताजी ने श्रीमण्डनाचार्यजी से श्रीमद्भागवत सप्ताह की कथा कहलवायी थी। आप "गोपीगीत" को श्रवणकर मूर्च्छित हो गये थे। आपने क्रमशः श्रीबलभद्रजी, श्रीअनुकूल चक्रवर्तीजी एवं श्रीयदुनन्दनाचार्यजी से व्याकरण, काव्य, नाट्य, ज्योतिष एवं दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया था। तत्पश्चात् पिता की अनुमति लेकर आपने पण्डित श्रीजगन्नाथाचार्यजी से श्रीधरीटीका का समेत श्रीमद्भागवतजी का अध्ययन किया था। ब्रज से आये हुए श्रीहरिदूबेजी के श्रीमुख से आपने द्वादश स्कन्ध की वैष्णवतोषिणी टीकानुसार व्याख्या सुनी और उन्हीं के द्वारा श्रीरूपसनातन-जीवगोस्वामी आदि महानुभावों का त्याग, वैराग्य, अनुराग आदि भी श्रवण करने को मिला। इसका श्रीरसिकमुरारिजी के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। तभी से ये घर छोड़कर उड़ीसा के तीर्थों में विचरण करने लगे।

एकबार श्रीरसिकमुरारिजी स्वर्णरिखा नदी के किनारे बैठकर कातर स्वर से क्रन्दन कर रहे थे कि हाय, हाय मेरा जन्म व्यर्थ ही बीता जा रहा है। कलिपावनावतार श्रीगौरांग

महाप्रभुजी की कृपा मुझ अभागे को कब प्राप्त होगी? कब कोई गौरपार्षद मुझे अपनी शरण में लेकर श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में डाल देगा। उसी समय भगवान श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर कहा कि तुम "धारेन्दा" चले जाओ, वहाँ मेरे अनन्य भक्त श्रीश्यामानन्दजी विराज रहे हैं। तुम उनका आश्रय ग्रहण करो। तुम्हारे सभी मनोरथ सिद्ध होंगे। उधर श्रीश्यामानन्दजी भी श्रीरसिकमुरारिजी की चर्चा सुन रखे थे, अतः वे भी इनसे मिलने की इच्छा से रोहिणी ग्राम की ओर चले। मार्ग में घण्टशिला के राजा वैकुण्ठनाथ को वैष्णव बनाकर, सप्ताह कालव्यापी श्रीमद्भागवत कथा, नामयज्ञ, साधु-सेवा आदि करवाये। इसी बीच श्रीरसिकमुरारिजी भी आपके दर्शनार्थ वहीं आ पहुँचे। श्रीश्यामानन्दजी बालक श्रीरसिकमुरारिजी के प्रेम-भाव, पुलकाश्रु आदि को देखकर बहुत प्रभावित हुए। फिर तो उन्होंने इन्हें सदा-सदा के लिए अपना बना लिया। भागवत सप्ताह की समाप्ति के दिन नाम-संकीर्तन के मध्य श्रीरसिक मुरारिजी को उन्होंने श्रीयुगल-मन्त्र से दीक्षित किया। तत्पश्चात् व्रज तत्व, धाम तत्व, श्रीराधाकृष्ण मन्त्र रहस्य और सम्प्रदाय रहस्य आदि सभी का बोध कराया। श्रीश्यामानन्दजी ने इन्हें रसिकानन्द नाम से पुकारा। पण्डित श्रीदामोदरजी से इन्होंने योग क्रिया सीखी थी। इन्हें सब प्रकार से उपासना में दृढ़ करके श्रीश्यामानन्दजी व्रजधाम चले आये। कुछ दिन बाद श्रीरसिकमुरारिजी ने भी श्रीव्रजधाम दर्शन एवं श्रीगुरुदेवजी के दर्शन के लिये उत्कल देश से व्रज की यात्रा की। मथुरा में श्रीकेशवदेवजी भगवान का दर्शन करते ही इन्हें भावावेश हो गया। श्रीरूपगोस्वामीपाद रचित "श्रीकेशवाष्टक" का पाठ करके तो आप एकदम बालकों की तरह रोने लगे। इसके बाद श्रीवृन्दावन आये। सर्वप्रथम श्रीगुरुदेवजी का दर्शन किये। श्रीश्यामानन्दजी भी इन्हें देखकर आत्मविभोर हो गये। व्रज के तीर्थों का दर्शन करने के बाद श्रीरसिकमुरारिजी गुरु श्रीश्यामानन्दजी को भी उत्कल देश लिवा लाये, क्योंकि वहाँ बहुत कार्य बाकी थे। उत्कल आकर गुरु-शिष्य दोनों ने ही खूब वैष्णवता का प्रचार किया। विमुखों को शास्त्रानुमोदित ढंग से परास्तकर उन्हें भी वैष्णव बनाया। एकबार एक कनफटा योगी सिंह पर सवार होकर सबको प्रभावित करता हुआ अपने मत का प्रचार कर रहा था। श्रीरसिकमुरारिजी एक दिन प्रातःकाल गांव से दूर स्वर्ण रेखा नदी के किनारे एक पुलिया की दीवार पर बैठकर दातौन कर रहे थे। उसी समय वह कनफटा इनकी परीक्षा लेने के लिए सिंह पर बैठा हुआ इनकी ओर आ रहा था। उसे आते हुए देखकर इन्होंने उस दीवाल को भी चलने को कहा। आपका संकेत पाकर दीवाल चलने लगी। कनफटे के पास पहुँचकर आपने उसे कृपा भरी दृष्टि से देखा। वह तत्काल अपनी सिद्धाई का गर्व छोड़कर आपके चरणों में पड़ गया और वैष्णव बन गया। अभी तक वह स्थान

''दातौन'' स्टेशन के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे कितने विमुख, उद्दण्ड बौद्धों, शैवों, शाक्तों को आपने वैष्णव बनाया।

एक बार श्रीरसिकमुरारिजी ने सन्तों की बहुत बड़ी जमात साथ में लेकर श्रीनीलाचल धाम की यात्रा की। जाजपुर गांव में वैतरणी नदी पार करते समय नाव उलट जाने से सभी लोग जल में गिर गये। परन्तु डूबा एक भी व्यक्ति नहीं। पुस्तकों की पेटिका बह गयी। उसमें श्रीगुरुदेव श्रीश्यामानन्दजी की दी हुई प्रसाद स्वरूपा श्रीमद्‌भागवत, गीता एवं उपासना-रहस्य सम्बन्धी पोथियाँ थीं। उसके बह जाने से आपको थोड़ी चिन्ता अवश्य हुई। परन्तु तत्काल ही एक भक्त तैरकर धारा में से वह पेटिका निकाल लाया। खोलकर देखा तो पुस्तकों से एक बूँद जल का भी स्पर्श नहीं हुआ था। आपके भजन के प्रताप से किसी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। एक सुकृति के संग अनेकों लोगों की रक्षा हो जाती है। इस पर-

दृष्टान्त—एक पुण्यात्मा—एकबार बड़े जोर की वर्षा हो रही थी। बिजली चमक रही थी। यात्रियों का एक समुदाय वर्षा से बचाव के लिये एक फूस की झोंपड़ी में बैठा हुआ था। उस झोंपड़ी पर बारम्बार बिजली टूटती परन्तु बीच से ही लौट जाती। यह देखकर झोंपड़ी में बैठे हुए आदमियों में से एक ने कहा- जान पड़ता है बिजली हम लोगों में से एक को मारना चाहती है, परन्तु छप्पर पर गिरने से एक साथ सब लोग मारे जायेंगे, इसलिये लौट-लौट जाती है। अत: उचित यह है कि हम लोगों में से एक-एक व्यक्ति झोंपड़ी में से निकलकर अलग खड़ा हो, बिजली जिसको मारना चाहेगी, मार लेगी। ऐसा ही किया गया। धीरे-धीरे सब लोग बाहर निकले और झोंपड़ी में लौट आये। परन्तु बिजली ने किसी को नहीं मारा। केवल एक आदमी झोंपड़ी में रह गया था। अब तो सब लोग यही कहने लगे कि इसी के ऊपर बिजली गिरेगी। परन्तु उसी समय बड़ी विचित्र घटना यह घटी कि जब वह आदमी झोंपड़ी से निकला तो बिजली उस झोंपड़ी पर ही गिरी और उसमें बैठे सबके सब लोग मर गये। वह एक आदमी बच गया। बात यह थी कि इस एक के सुकृत से ही सब बच रहे थे। इनके अलग होते ही सबके सब लोग मारे गये। इससे यह सिद्ध होता है कि समाज में यदि एक भी सुकृती रहे तो किसी का अनिष्ट नहीं हो सकता है।

द्वितीय दृष्टान्त—मस्तराम का—मस्तराम एक संन्यासी सन्त थे, वे एक बार मोटर से कहीं की यात्रा कर रहे थे। संयोग से मार्ग में मोटर उलट गई सब लोग घायल हो गये। मस्तराम को भी कुछ चोट आई। परन्तु मस्तराम जो ठहरे, अत: घायलावस्था में भी मस्ती दिखाये। हँसकर बोले- लगता है कि इस मोटर में एक भी सुकृती नहीं था। रहता तो मोटर

नहीं उलटती। श्रीरसिकमुरारिजी के सुकृत से नाव उलटने पर भी सब लोग सुरक्षित रहे। वहाँ से चलकर आप पुरी पहुँचे। श्रीजगन्नाथ भगवान का दर्शन कर आप प्रेमोन्मत्त होकर खूब कीर्तन किये। तुलसी चौरे में रुके। जितने दिन पुरी में रहे, आप नित्य प्रति श्रीठाकुरजी की पुष्पमाला की सेवा करते रहे। आपने पुरी नरेश से बालिशाही में जमीन लेकर ''फूल टोटा'' मठ की स्थापना की। आज भी वह मठ है। वहाँ से रोज श्रीजगन्नाथजी के लिए फूल-माला आती है। ऐसे आपके अनन्त चरित्र हैं। रेमुना में क्षीरचोरा गोपीनाथजी के मन्दिर में होली का पद सुनते-सुनते आप अन्तर्धान हो गये। आपका करुवा, कौपीन आदि प्रांगण में समाधि स्थान में सुरक्षित है। अनुभवी सन्तजन आपको श्रीअनिरुद्धजी का अवतार कहते हैं।

भव प्रवाह निस्तार हित अवलम्बन ये जन भए।।
सोझा सींवा अधार धीर हरिनाभ त्रिलोचन।
आसाधर, द्यौराज नीर, सधना दुख मोचन।।
काशीश्वर अवधूत कृष्ण किंकर कटहरिया।
सोमू, ऊदाराम, नाम डूंगर व्रतधरिया।।
पदम, पदारथ, रामदास, विमलानन्द अमृत श्रवे।
भव प्रवाह निस्तार हित अवलम्बन ये जन भए।।९६।।

शब्दार्थ—भवप्रवाह=संसारचक्र, आवागमन, जीना-मरना। निस्तार=उद्धार, पार। हित=वास्ते, लिए। अवलम्बन=आश्रय, सहारा। जन=भक्त। व्रतधरिया=नियमधारी, प्रणपालक। अमृत=प्रेमामृत। श्रवे=टपकाये, बहाये, बरसाये।

भावार्थ—आवागमनरूप संसार के प्रवाह में पड़े हुए जीवों के उद्धार के लिए ये श्रीभगवद्-भक्त अवलम्ब स्वरूप हुए। श्रीसोझाजी, श्रीसींवाजी, धैर्यवान् श्रीअधारजी, श्रीहरिनाभजी, श्रीत्रिलोचनजी, श्रीआशाधरजी, श्रीद्यौराजनीरजी, श्रीसदनजी, ये सब भक्त जीवों को संसार दु:ख से छुड़ाने वाले हुए। अवधूत काशीश्वरजी, श्रीकृष्णकिंकरजी, श्रीकटहरियाजी, श्रीस्वभूराम देवाचार्यजी, श्रीऊदारामजी, श्रीडूंगरजी ये श्रीहरिनाम का व्रत धारण करने वाले हुए। श्रीपद्मजी, श्रीपदारथजी, श्रीरामदासजी, श्रीविमलानन्दजी, ये भक्त श्रीहरिभक्तिरसामृत की वर्षा करने वाले हुए।।९६।।

व्याख्या—भव प्रवाह....... अवलंबन ये जन भए—सन्त शिरोमणि श्रीतुलसीदासजी कहते हैं-''भवसागर कहँ नाव सुद्ध सन्तन्हके चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुख

हरन।।" (वि०-२०३), श्रीमद्भागवतजी में कहा गया है-"निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्। सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढ़ेवाप्सु मज्जताम्।।" (११-२६-३२) अर्थ-जो इस घोर संसारसागर में डूब उतरा रहे हैं, उनके लिए ब्रह्मवेत्ता- शान्त सन्त ही एकमात्र आश्रय हैं जैसे जल में डूब रहे लोगों के लिए नौका। छप्पय में आये हुए दुःख मोचन, अमृत स्रवे आदि सभी विशेषण सब सन्तों के समझने चाहिये।

श्रीसदनजी

सदना कसाई ताकी नीकी कस आई जैसे बारा बानी सोनेकी कसौटी कस आई है।
जीवको न बध करैं ऐपै कुलाचार ढरैं बेंचैं मांस लाय प्रीति हरिसों लगाई है।।
गंडकीकौ सुत बिन जाने तासों तौल्यौ करैं भरै दृग साधु आनि पूजे पै न भाई है।
कही निसि सुपने मैं वाही ठौर मोकों देवौ सुनौं गुनगान रीझौं हियेकी सचाई है।।३९४।।

शब्दार्थ—कस=परीक्षा, जांच। वाराबानी=खरा, निर्दोष, निर्मल, शुद्ध। कुलाचार= वंश परम्परागत व्यापार। गण्डकी सुत =शालग्राम।

भावार्थ—भक्त श्रीसदनजी जाति के कसाई थे। परन्तु भक्ति की कसौटी पर इनकी प्रेमनिष्ठा खरी उतरी थी। जैसे एकदम शुद्ध सोने को कसौटी पर कसने से उसकी रेखा अत्यन्त खरी चमकीली उतरती है। ये जीवों की हिंसा नहीं करते थे परन्तु अपने कुल के अनुसार मांस बेचने का काम अवश्य करते थे। ये दूसरों के यहाँ से मांस लाकर बेचते थे। इन्होंने यह सब करते हुए भी प्रेम तो भगवान से ही किया था। संसार अथवा संसार के व्यवहार में इनकी तनिक भी प्रीति नहीं थी। इनके पास एक श्रीशालग्राम शिला थी। ये बिना जाने उसी से मांस तौलते थे। एकदिन एक साधु ने इन्हें शालग्राम शिला से मांस तौलते देखा तो उनकी आँखों में आँसू छलछला आए। उन्होंने सदनजी को बताया कि ये तो श्रीशालग्राम भगवान हैं। इनसे मांस तौलना उचित नहीं है। तुम इन्हें हमको दे दो। मैं घर ले जाकर इनकी पूजा करूँगा। श्रीसदनजी ने दे दिया। साधु ने श्रीशालग्राम भगवान को अपने स्थान पर ले जाकर उनकी विधिपूर्वक पूजा की। परन्तु भगवान को उनकी पूजा पसन्द नहीं आई। वे रात्रि के स्वप्न में साधु से बोले कि मुझे पुनः उसी स्थान पर पहुँचा दो, सदन भक्त को ही दे दो, मैं उनके मुख से अपना नाम-गुणगान सुनता हूँ। मैं तो उनके हृदय के सच्चे भाव पर रीझ गया हूँ।।३९४।।

व्याख्या—सदना कसाई—ये पूर्वजन्म में काशीवासी एक ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। भगवान के श्रीचरणों में भक्ति जन्म जात ही थी। नित्य नियम से श्रीशालग्राम भगवान को श्रीराम नाम लिखकर एक सौ आठ तुलसीदल अर्पित करते थे तथा सन्ध्या गायत्री, पूजा-पाठ, अर्चन-वन्दन आदि ब्राह्मणोचित धर्म-कर्म करते थे। एकदिन ये श्रीगंगा-स्नान करके कुछ स्तोत्र-पाठ करते हुए आ रहे थे। दैवयोग से उसी सयम एक गाय कसाई के घर से जैसे-तैसे छूटकर उसी मार्ग से भागती हुई आ रही थी। पीछे-पीछे कसाई भी दौड़ता हुआ आ रहा था। गाय इनके देखते-देखते एक गली की ओर मुड़ गई थी। कसाई ने नहीं देख पाया था। अतः कसाई ने इनसे गाय का पता पूछा। यह चूँकि पाठ कर रहे थे अत मुँह से नहीं बोले परन्तु हाथ से संकेत कर दिये। कसाई ने आगे बढ़कर गाय को पकड़ लिया और घर लाकर वध कर डाला। बस, इसी पाप के कारण इन्हें अगले जन्म में कसाई होना पड़ा। एक बात यहाँ स्मरण रखने की है कि यद्यपि इन्होंने कसाई के पूछने पर सत्य ही संकेत किया था परन्तु वह सत्य ही इनके लिये महापाप बन गया। कारण कि वह गाय के वध का निमित्त बन गया। माना कि सत्याचरण धर्म है, परन्तु गो-रक्षा परम धर्म है। शास्त्र वचन है कि यदि गो-रक्षा निमित्त झूठ भी बोलना पड़े तो कोई दोष नहीं है। यथा-"स्त्रीषु नर्म विवाहे च वृत्त्यर्थे प्राण संकटे। गो ब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्।।" (भा० ८-१९-४३), अर्थ- "स्त्रियों को प्रसन्न करने के लिये, हास-परिहास में, विवाह में कन्या आदि की प्रशंसा करते समय जीविका की रक्षा के लिये, प्राण संकट उपस्थित होने पर, गो और ब्राह्मण के हित के लिये तथा किसी को मृत्यु से बचाने के लिये असत्य भाषण भी निन्दनीय नहीं है।" इस विवेक अभाव के कारण पण्डितजी के लिये सत्य ही अभिशाप बन गया। इसी से कहा गया है कि-"धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।" अर्थ-धर्म का तत्व गुह्य है अतः श्रेष्ठ सन्त जिस पथ पर चलें उसी पर चलना चाहिये। "गहना कर्मणो गतिः" (गीता ७-१७) अर्थ-कर्म की गति बड़ी गहन होती है।

दृष्टान्त—एक डाकू का—जंगल में एक डाकू नित्य प्रति उस रास्ते से आने-जाने वालों को लूटा करता था। स्वभाव से क्रूर होने के कारण वह कितनों को तो लूटने के साथ-साथ मार भी डालता था। इस प्रकार से उसने बावन (५२) हत्यायें की थीं। एकबार उसी मार्ग से एक सन्त निकले। डाकू उन्हें भी लूटने के लिये भी लपका। सन्त ने शान्तिपूर्वक समझाने का प्रयत्न किया। उसे पाप कर्मों की विभीषिका बताई, चोरी-लूट-हिंसा का दुष्परिणाम दर्शाया। सुनकर डाकू सिहर गया। महात्मा के चरणों में पड़ गया, 'त्राहि-त्राहि' कहते हुए अपने उद्धार के लिये प्रार्थना करने लगा। परन्तु महात्मा ने जब सुना कि इसने बावन हत्यायें की हैं तो उनके पांव के नीचे की धरती खिसक गई। उनका साहस नहीं पड़ता था ऐसे महापापी को उपदेश देने के लिए। जैसे बाल्मीकि को उपदेश देने में सप्तर्षि

सहम गये थे। अत: सीधे ''राम-राम'' जपने को न कहकर ''मरा-मरा'' जपने को कहे थे।'' परन्तु वह डाकू चूँकि इनके चरणों में पड़ा हुआ था अत: उसका उद्धार करना भी अनिवार्य था। इसलिये सन्त ने एक युक्ति की। उस डाकू से बोले कि तुम अधजली लकड़ी लेकर समस्त तीर्थों का पर्यटन करो। जब वह लकड़ी हरी हो जाये तब मेरे पास आना, मैं तुम्हें मन्त्रोपदेश दूँगा। डाकू सन्त की आज्ञा शिरोधार्य कर एक अधजली लकड़ी कंधे पर रखकर तीर्थाटन के लिये चल पड़ा। एक दिन थका-मांदा वह रात्रि के समय एक वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा था। उसी समय उसे वृक्ष पर कुछ आदमियों की आवाज सुनाई पड़ी। वे दुष्ट स्वभाव के लोग थे, किसी गांव में आग लगाने की बात कर रहे थे। उनकी बात सुनकर डाकू का हृदय द्रवित हो गया। उसके मन में गांव की रक्षा का भाव जागा। उसने सोचा कि बावन हत्यायें मैंने की ही हैं, दो-चार और हो जायेंगी, परन्तु इन दुष्टों को मारकर सबका संकट अवश्य दूर करूँगा। फिर तो वह कमर कसकर हाथ में लुकाठ (अधजला काष्ठ खण्ड) लेकर खड़ा हो गया और जब वे दुष्ट उस वृक्ष से उतरे तो एक-एक करके लुकाठे में ही सबका काम तमाम कर दिया। परन्तु विचित्र बात यह हुई कि उसी समय वह अधजला काष्ठ हरा हो गया उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि गुरुजी ने तो समस्त तीर्थों का परिभ्रमण करने को कहा था, और मैं अभी एक तीर्थ में भी नहीं गया, काष्ठ हरा हो गया। वह लौटकर गुरुजी के पास आया और अपना समस्त वृतान्त निवेदन किया। गुरुजी के मुख से निकला- ''गहना कर्मणोगति:।'' इस प्रसंग से यह दिखाया गया कि प्राणी हित की विशुद्ध भावना से की गई हिंसा भी परम पुण्यमय हो गई।

इसी प्रकार गोवध में सहायक सत्य महापाप वन गया। जिसके कारण उस सदाचारी ब्राह्मण को कसाई के घर जन्म लेना पड़ा। परन्तु पूर्व जन्म का भक्ति का संस्कार प्रवल था अत: कसाई कुल में जन्म लेने पर भी ''जीवको न वध करै''-अर्थात् जन्म से ही इनके हृदय में जीवों के प्रति दया थी। जीवों का वध करना तो दूर रहा ये किसी भी जीव को सताते भी नहीं थे। कहते हैं कि एकबार इनके घर रिश्तेदार आये थे। घर में मांस नहीं था। चूंकि इनके पिता अपनी कुल परम्परा के अनुसार जीवों का वध भी करते थे और मांस भी बेचते थे। वह एक बैल को वध करने के लिए खरीद लाये थे। परन्तु अभी वह वध योग्य नहीं हुआ था अत: घर में पत्नी से सलाह किए कि इस बैल के जांघ का मांस काटकर आज मेहमानों का सत्कार किया जाय। यह बात सदनजी ने सुन ली तो उनके मन में बड़ी वेदना हुई। वे तत्काल उस बैल के पास गये और उसके गले से लिपटकर रोने लगे और बोले- आज हमारे पिताजी तुम्हारे जांघ का मांस काटेंगे। बैल ने कहा- तुम्हारे पिता को

तो हमारा गला काटना चाहिये। पूर्वजन्म में मैं कसाई था और तुम्हारे पिताजी पशु थे। मैंने उनका गला काटा था। अब उसी का बदला चुकाने के लिये वे कसाई हुए हैं और मैं पशु हुआ हूँ। अत: उनको मेरा गला ही काटना चाहिए, अन्य अंग नहीं। बैल की यह बात सुनकर सदनजी को ज्ञान हो गया कि कर्मों की परम्परा तो जन्म-जन्मान्तर तक चलती है। अत: किसी भी जीव को सताना नहीं चाहिये। बस, उसी दिन से इन्होंने यह निश्चय कर लिया कि मैं भूलकर भी किसी जीव का वध नहीं करूँगा। उसी को लक्ष्य करके टीकाकार कहते हैं कि-जीव को न वध करैं। "प्रीति हरि सौं लगाई है"-यह पूर्वजन्म के भक्ति संस्कार का ही परिणाम है। हरि भक्ति का संस्कार कभी नष्ट नहीं होता। यथा-"भक्ति बीज पलटै नहीं, जो जुग जाँय अनन्त। ऊँच नीच कुल ऊपजै होय सन्त को सन्त।।" दृष्टान्त-श्रीविभीषणजी, प्रह्लाद, गजेन्द्र, मृगरूप में जड़ भरतजी आदि। इन सभी का पूर्वजन्म का संस्कार अगले जन्म में भी अक्षुण्ण बना रहा। देखिये पूर्वार्द्ध में इनकी कथायें।

गण्डकी कौ सुत—श्रीशालग्राम भगवान गण्डकी नदी में पैदा होते हैं अत: इन्हें गण्डकी सुत कहा गया है। वर्णन आया है कि एक ब्राह्मण कन्या भगवान के दर्शन की अभिलाषा से तपस्या कर रही थी। भगवान ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और मनोवांछित वरदान माँगने को कहा। उसने यही वर माँगा कि आप नित्य पुत्र रूप से मेरी गोद में क्रीड़ा करें। भगवान ने कहा- तुम इस शरीर को छोड़कर गण्डकी नदी होओगी, तब मैं शालग्राम रूप से नित्य तुम्हारी गोद में क्रीड़ा करूँगा। वही कालान्तर में गण्डकी नदी हुई और भगवान को जालन्धर पत्नी वृन्दा के शाप से शिला होना था अत: वह शालग्राम रूप से गण्डकी में विराजते हैं अत: ''गण्डकी कौ सुत'' कहा। श्रीगण्डकी नदी मुक्तिनाथ के पहाड़ से निकली हैं। उस पहाड़ की शिलाओं को एक विशेष प्रकार के कीड़े काट-काटकर शालग्राम रूप में परिणत करते रहते हैं। इस सम्बन्ध में कथा आई है कि एक दैत्य किसी शुभ संस्कारवश श्रीभगवद्दर्शन के पवित्र उद्देश्य से तप कर रहा था। भगवान ने उसे भी दर्शन दिया और अभीष्ट वर माँगने को कहा। तब उसने दैत्य स्वभाव से प्रेरित होकर यह वर माँगा कि प्रभो! आप मुझे देखने में बड़े सुन्दर लग रहे हो, अत: मेरा जी आपको खाने का कर रहा है। मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मैं आपको खाऊँ। भगवान ने मुस्कुराकर कहा- देखो मुक्ति नाथ की सभी शिलाएँ मेरा ही स्वरूप हैं। तुम कीड़ा बनकर उन्हें ही खाओ। आज भी वह दैत्य कीटरूप से मुक्तिनाथ की शिलाओं को काटता रहता है जिससे भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार की शालग्राम शिलायें बनती रहती हैं।

बिन जाने तासों तौल्यौ करै—श्रीसदनजी ने पूर्वजन्म में श्रीशालग्राम भगवान की खूब सेवा की थी अत: इस जन्म में श्रीशालग्राम भगवान स्वत: इन्हें राह चलते प्राप्त हुये।

इन्होंने सुन्दर चिकना पत्थर का बांट समझकर उठा लिया और उन्हीं से मांस तौलने लगे। चमत्कार यह था कि कोई कितना हू माँगता, बस उसी एक बाट से तौलते, सबको उचित तौल का मांस प्राप्त होता। न कम होता न अधिक। भगवान भी तराजू से उतरना ही नहीं चाहते थे। उन्हें झूला में झूलने का सा सुख मिलता था। अतः इस लोभ से एवं उतारे जाने के भय से कि कहीं कम या अधिक तौलने की आवश्यकता पड़ने पर भक्तजी हमें उतारकर दूसरे बांट से न तोलने लगें, वे आवश्यकतानुसार हल्के-भारी होते रहते थे। इससे सदनजी को भी सुविधा थी, अतः वे इनसे बहुत प्रेम करते थे। ''भरै दृग साधु''-एक आचारी वैष्णव थे, उन्होंने सदनजी की तराजू में श्रीशालग्राम को देखा तो उनके आँखों में आँसू आ गये। वे साहस करके सदनजी से श्रीशालग्राम को माँगे तो श्रीसदनजी ने उन्हें सहर्ष प्रदान कर दिया। यद्यपि जाने-अनजाने श्रीसदनजी को वह बटिया बहुत प्रिय थी और उसका चमत्कार भी देख चुके थे परन्तु साधु-सन्त भी उन्हें प्रिय लगते थे अतः माँगने पर इन्कार नहीं कर सके। परन्तु दुःख तो हुआ ही, उधर भगवान को भी इनका वियोग व्याप गया। ''आनिपूजे'' -साधुजी ने श्रीशालग्राम को घर पर लाकर श्रीगंगाजल, पंचगव्य, पंचामृत आदि से स्नान कराया। वैदिक मंत्रों से षोडशोपचार विधि से पूजन किया। बड़ी लम्बी स्तुति-प्रार्थना किये। ''पै न भाई है।'' इसलिये कि-''रामहिं केवल प्रेम पियारा।'' (विशेष देखिये पृष्ठ-४१, ४२)।

सुनौं गुन गान........सचाई है—श्रीसदनजी की तराजू में भगवान को झूला का सुख मिलता था और उनके सरल हृदय के प्रेम भरे पदों में सामगान का सुख मिलता था। श्रीसदनजी के पदों में उनके हृदय की करुणा, प्रीति-प्रतीति का सहज दर्शन होता है। यथा- ''मैं तो अति ही दुखित मुरारि। पांच ग्राह गीलत है मोकूँ गज ज्यों लेहु उधारि।। नाम गरीब निवाज तिहारो देहु विषय हठि तारि। सुजस पतित पावन निज राखो सदना कहत पुकारि।। ''हिये की सचाई है''-पर देखिये। ''रघुबर सांचे मन के मीता।'' उत्तरार्द्ध प्रथमखण्ड पृष्ठ-४१, ४२।। ''रीझौं हिये की सचाई है''-इस पर-

दृष्टान्त—श्रीलाल बाबा का—एकबार दाराशिकोह ने श्रीलाल बाबा से पूछा कि साहिब किसको मिलते हैं, हिन्दू को या मुसलमान को। हमारी किताबों में तो यह लिखा है कि साहिब मुसलमानों को ही मिलता है हिन्दुओं को नहीं। वे तो काफिर हैं और हिन्दुओं के ग्रन्थों में लिखा है कि साहिब हिन्दू को ही मिलता है मुसलमानों को नहीं। मुसलमान तो बड़े नीच होते हैं। आप निर्णय करिये कि वस्तुतस्तु साहब किसको मिलते हैं? श्रीलाल बाबा ने कहा-''कल बतायेंगे।'' दूसरे दिन पुनः दाराशिकोह बाबा के सामने उपस्थित हुआ तब

लालबाबा ने कहा-''दो रुपये के खुले पैसे अपने खास बाजार से मँगा दीजिये।'' यह कहकर श्रीलालबाबा ने दो रुपया दाराशिकोह को दिया। उसने अपने नौकर को खास बाजार भेजकर पैसा मँगवा दिया। नौकर एक रुपये का तो खुला पैसा लाया और एक रुपया लौटा लाया। बाबा ने पूछा-एक को लौटा क्यों लाये? उसने कहा-यह एक रुपया खोटा है। इसलिये बाजार में नहीं चला। तब श्रीलालबाबा ने दाराशिकोह से कहा-''देखो, दोनों रुपये तुम्हारे ही खजाने के हैं और तुम्हारे ही खास बाजार में भजाने को गये थे। दोनों का एक ही रूप है, परन्तु एक चला, एक न चला, इसका क्या कारण है?'' दाराशिकोह ने कहा-''जो खरा था वह तो चल गया और जो खोटा था वह न चला।'' तब श्रीलालबाबा ने कहा कि-''ऐसे ही हिन्दू-मुसलमान दोनों भगवान की ही सन्तान हैं परन्तु इन दोनों में जो सच्चा होता है उसी को भगवान मिलते हैं, वह चाहे हिन्दू हो या मुसलमान। झूठे हिन्दू वा मुसलमान किसी को नहीं मिलते।'' यही कारण है कि कसाई होने पर भी श्रीसदनजी पर भगवान रीझ गये थे।

भगवान ने कहा-

कहा भयो जो पै बड़े कुलहूमें जन्म भयो, जप तप नेम व्रत साधन अपार है।
कहा भयो तीरथ अनेकन गमन किये, गयो नहीं जौलौं निज मनकौ विकार है।।
जौलौं मेरे सन्तनमें राखै जाति भेद सदा, तौलौं कहो कैसे वह पावै सुखसार है।
मेरौ साधु नीच पद पंकज न धोयो जौलौं तौलौं सब शास्त्रनको पढ़िबोई भार है।।

पुनः श्रीभगवान ने कहा कि हम जानते हैं कि आप वेदवाणी से मेरी स्तुति करते हैं और गंगाजल से स्नान कराते हैं, परन्तु मैं आपसे पूछता हूँ कि आखिर ये वेद और गंगा हैं क्या? अरे, वेद तो हमारी निःश्वास मात्र है और गंगा पगधोवन है, यह बात सारा संसार जानता है। फिर इनके द्वारा पूजा करने से विशेषता ही क्या? अरे, इन सबसे विशेष तो है प्रेम। सदन भक्त की सेवा में मुझे पेट भरकर प्रेमामृत पान करने को मिलता था। अतः मैं सदन के पास ही जाना चाहता हूँ।

लै कै आयौ साधु मैं तो बड़ो अपराध कियौ कियौ अभिषेक सेवा करी पै न भाई है।
ये तौ प्रभु रीझे तोपै जोई चाहौ सोई करौ गरो भरि आयो सुनि मति बिसराई है।।
वेई हरि उर धारि डारि दियौ कुलाचार चले जगन्नाथ देव चाह उपजाई है।।
मिल्यौ एक संग संग जात वे सुगात सब तब आप दूर दूर रहैं जानि पाई है।।३९५।।

शब्दार्थ—अभिषेक=विधिपूर्वक सिंचन, मन्त्रों से मार्जन-स्नान। सुगात=सुगात्र, उत्तम शरीर, उत्तम कुलगोत्र में उत्पन्न। वे सुगात=सन्देह करते।

भावार्थ—स्वप्न में प्रभु की आज्ञा सुनकर साधु श्रीशालग्रामजी को लेकर श्रीसदन भक्त के घर पहुँचे और उनसे गद्‌गद स्वर से बोले-मैंने बड़ा अपराध किया जो कि श्रीशालग्राम भगवान को आपसे माँगकर ले गया। मैंने घर ले जाकर इनका वेद-मंत्रों से अभिषेक किया, विधिपूर्वक सेवा-पूजा की। परन्तु इनको पसन्द नहीं आई। ये प्रभु तो तुम्हारे ही ऊपर रीझे हैं, अब तुम इनको लो और जो चाहो सो करो। साधु की यह बात सुनकर श्रीसदनजी का गला भर आया, सुधि-बुधि भूल गई। उन्हीं श्रीशालग्राम भगवान को हृदय से लगाकर इन्होंने अपने कुल के आचारानुसार माँस बेचना भी छोड़ दिया। इनके मन में श्रीजगन्नाथ भगवान के दर्शन की चाह उत्पन्न हो हुई अतः कुल-कुटुम्ब, घर-बार छोड़कर श्रीजगन्नाथपुरी को चल दिये। मार्ग में इन्हें पुरी जाने वाले यात्रियों का एक समुदाय मिला। ये भी उन्हीं के संग-संग चलने लगे। परन्तु वे लोग उत्तम कुल के थे अतः इनको कसाई जानकर इनसे घृणा करते थे। जब यह बात इन्हें मालूम हुई तो आप स्वयं ही उनका संग छोड़कर दूर-दूर ही रहते हुए चलने लगे।।३९५।।

व्याख्या—रीझे तोपै—भगवान प्रेम से रीझते हैं। यथा-''रीझत राम स्नेह निसोते। तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे।।'' (रामा०) और रीझने पर भक्त के वश में हो जाते हैं। यथा-''रीझे वशहोत खीझे देत निजधामरे।।'' (वि०), ''जोई चाहौ सोई करौ''-का भाव- इनसे माँस तौलो चाहे पूजा करो। ''उरधारि''-के दो भाव हैं-१. उर में धारण करके अर्थात् ध्यान करते हुए। २. हृदय स्थल से लगाकर अर्थात् श्रीशालग्रामजी को गले में लटका लिये, जो हृदय पर झूल रहे थे।

आयौ मग गांव भिक्षा लेन इक ठांव गयौ नयो रूप देखि कोऊ तिया रीझि परी है।
बैठो याही ठौर करौ भोजन निहोरि कह्यौ रह्यौ निसि सोय आई मेरी मति हरी है।।
लेवो मोको संग गरौ काटौ तौ न होय रंग बूझी और काटी पति ग्रीव पै न डरी है।
कही अब पागो मोसों नातो कौन तोसों मोसों, सोर करि उठी इन मार्‌यो भीर करी है।।३९६।।

शब्दार्थ—निहोरि=विनती, मनौती करके, मनाय करके। रंग=प्रेम। बूझी=समझी। और=दूसरी बात।

भावार्थ—रास्ते में एक गाँव मिला। श्रीसदनजी वहाँ एक घर में भिक्षा लेने गये। एक स्त्री इनका सुन्दर तरुण रूप देखकर रीझ गई। उसने इनसे कहा-''यहीं बैठो और भोजन करो।'' इन्होंने वहीं बैठकर भोजन किया और जब भोजन करके वहाँ से जाने लगे

तो उसने अत्यन्त प्रार्थनापूर्वक कहा कि ''रात्रि में यहीं विश्राम भी करो।'' इन्होंने उसके आग्रह पर वहीं रात्रि में शयन किया। जब घर के सब लोग सो गए तो वह स्त्री इनके पास आई और बोली-''तुमको देखकर मैं मोह गई हूँ अतः तुम मुझे भी अपने साथ ले चलो।'' इन्होंने कहा-''यदि तू मेरा गला भी काट डाले तो भी मेरा तुझमें प्रेम नहीं हो सकता है।'' उसने इनकी बातों का कुछ और ही अर्थ समझा और जाकर अपने पति का ही गला काट डाला, उसे तनिक भी भय नहीं हुआ। पुनः इनके समीप आकर बोली अब तो मुझसे प्रेम करो। इन्होंने कहा-''तुझसे मेरा नाता ही क्या है, जो मैं तुझसे प्रेम करूँ।'' जब उसने देख लिया कि ये मुझे नहीं चाह रहे हैं तो बड़े जोर का शोर मचाने लगी कि इन्होंने मेरे पति को मार डाला। इस प्रकार चिल्लाकर उसने बहुत बड़ी भीड़ इकट्‌ठी कर ली।।३९६।।

व्याख्या—आयो मग गांव—श्रीसदनजी सबसे न्यारे होकर अकेले अपनी धुन में चले जा रहे थे। मार्ग में देखे कि एक जगह प्याऊ लगा है। बहुत-सी गौएँ प्यास से व्याकुल होकर प्याऊ पर आईं तो प्याऊ वाले ने उन्हें मारकर भगा दिया। इन्होंने उससे सिफारिस की कि वह गौओं को भी जल पिला दे, तब उसने कहा कि यह प्याऊ मनुष्यों के लिये है। कुएँ में जल बहुत नीचे होने से मनुष्यों को ही मुश्किल से पिला पाता हूँ। फिर पशुओं को कैसे पिला सकता हूँ? इन्होंने कहा कि ''यदि तुम बाल्टी-रस्सी मुझे दे दो तो मैं गायों को पानी पिला दूँ।'' उसने सहर्ष दे दिया। इन्होंने खूब गायों को जल पिलाया। तृप्त गायों ने इन्हें भक्ति का आशीर्वाद दिया। इस प्रकार परमार्थ परायण श्रीसदनजी भूख लगने पर सायंकाल को किसी एक गाँव में भिक्षा लेने गये। ''नयो रूप.....तियारीझि परी है''-यह कामिनियों की सहज-मानसिक-दुर्बलता है। यथा-''भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखति नारी।। होइ बिकल मन सकहिं न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहिं विलोकी।।'' (रामा०), ''गरौ काटौ तौ न होय रंग''-इसका वास्तविक अर्थ तो भावार्थ में दिया गया है। परन्तु उस स्त्री ने समझा कि ये मेरे पति से डरते हैं अतः कहते हैं कि पहले अपने पति का गला काट डालो तब रंग (प्रेम) होगा। उसने वैसा ही कर डाला। ''सोर करि उठी''-इसी से कहा गया है कि-''त्रिया चरित जानै नहिं कोई। खसम मारि कै सत्ती होई।।'' इस पर-

दृष्टान्त—एक कुलटा का—एक व्यभिचारिणी स्त्री थी। उसकी परपुरुषों से गाढ़ प्रीति थी। उसके सास-ससुर-पति सभी समझाकर हार गये, परन्तु वह आदत से बाज नहीं आई। एकदिन वह रात्रि में अपने जारपति के यहाँ गई हुई थी। तो उसके पति को पता लग गया अतः उसने भीतर से सांकल लगा ली। कुछ देर बाद जब वह पुनः घर को लौटी तो किवाड़ बन्द पाया। उसने खुलवाने

का बहुत प्रयत्न किया परन्तु उसके पति ने किवाड़ नहीं ही खोला। तब उसने कुएँ में कूदकर मरने की धमकी दी। पति ने तब भी किवाड़ नहीं खोला। तब उसने पति को भय दिखाने के लिये कुएँ में एक बहुत बड़ा पत्थर फेंका। बेचारा पति डर गया कि सचमुच कुएँ में कूद गई, कहीं मर गयी तो मुश्किल पड़ेगी। अतः वह तुरन्त फाटक खोलकर बाहर निकला। इतने में वह स्त्री झट घर में घुसकर भीतर से सांकल लगा ली और अपने सास-ससुर से उल्टे जाकर कहने लगी कि देखो, तुम लोग हमें ही दोष देते हो, अपने लड़के का दोष तो देखते नहीं हो, आधी रात के समय न जाने कहाँ डोल रहे हैं? फिर तो उसके सास-ससुर ने अपने लड़के को बहुत फटकारा। उस बेचारे ने मारे ग्लानि के सचमुच कुएँ में कूदकर प्राणान्त कर लिया। फिर तो वह कुलटा अपना सतीत्व प्रमाणित करने के लिये पति के संग में सती होने चली। लोगों ने लाख समझाया, परन्तु उसने किसी की नहीं मानी। फिर तो सर्वत्र इसका सुयश छा गया। विधि है कि जब कोई स्त्री सति होने चलती है तो प्रथम उसे घर-पुर-नगर के लोग समझाते हैं। अन्त में राजा समझाता है, जब वह अपने निश्चय से नहीं डिगती है तब उसे सती होने का आदेश दिया जाता है। परन्तु इसने तो केवल स्वांग किया था। जब सर्वत्र इसके सतीत्व की धूम छा गयी तब नगर के सम्भ्रान्त लोगों के तथा राजा के समझाने पर मान गई। यद्यपि बाद में सब लोग जान गये इसकी चालबाजी को। इसी से कहा गया है कि-''त्रिया चरित जानै नहिं कोय। खसम मारिकै सत्ती होय।।'' वही इसने किया।

हाकिम पकरि पूछै कहैं हँसि मार्‌यो हम, डार्‌यौ सोच भारी कही हाथ काटि डारियै।
कट्‌यो कर चले हरिरंग मांझ झिले मानी जानी कछु चूक मेरी यहै उर धारियै।।
जगन्नाथदेव आगे पालकी पठाई लेन, सधनासो भक्त कहां? चढ़ैं न विचारियै।
चढ़ि आए प्रभु पास सुपनोसो मिट्‌यौ त्रास बोले दै कसौटी हूं पै भक्ति विसतारियै।।३९७।।

शब्दार्थ—दैकसौटी हूपै=परीक्षा देकर भी।

भावार्थ—उस स्त्री के शोरगुल करने पर, भीड़भाड़ एकत्रित होने पर उस गाँव के हाकिम (जमींदार) ने इन्हें पकड़वा लिया और न्याय के लिये सम्मुख उपस्थित किए जाने पर जब उनसे पूछा कि-''क्या सचमुच तुमने इस स्त्री के पति को मारा है?'' तो इन्होंने हँस करके कहा कि-''हाँ हमने ही मारा है।'' इनके इस कथन ने हाकिम को भारी सोच में डाल दिया कि इन्हें कौन सा दण्ड दें। फिर अन्त में उसने इनका हाथ कटवाकर छोड़ दिया। हाथ कट जाने पर भी ये श्रीजगन्नाथ भगवान के प्रेमरंग में रँगे पुरी की ओर चल पड़े। इन्होंने यही जाना और माना कि मेरा ही पूर्वजन्म का कोई अपराध था, जिसका यह फल भोगना पड़ा। यही हृदय से निश्चय किये। उधर भगवान

श्रीजगन्नाथजी ने इनको लेने के लिये आगे से पालकी भेजी। पण्डे पुजारी लोग सभी से पूछते डोलते कि सदन भक्त कौन हैं, कहाँ हैं? कहाँ पर मिलेंगे? जब इन्होंने अपना परिचय दिया तो उन लोगों ने इन्हें पालकी पर चढ़कर श्रीजगन्नाथजी का दर्शन करने के लिए चलने को कहा। परन्तु ये पालकी पर चढ़कर प्रभु के पास चलना अनुचित विचारकर उस पर चढ़ते नहीं थे। जब उन लोगों ने प्रभु की आज्ञा सुनाई तब पालकी पर चढ़े और श्रीप्रभु जगन्नाथ भगवान के पास आये। भगवान का दर्शन करते ही इनका कष्ट स्वप्न के समान मिट गया। भगवान बोले-''सदन! तुमने अपने को भक्ति की कसौटी पर चढ़ा दिया। तुम कसौटी पर खरे उतरे। अब तुम संसार में भक्ति का प्रचार करो।।३९७।।

व्याख्या—कहैं हँसि—यद्यपि दोनों हाथ काट लिये गये हैं, कष्ट का पारावार नहीं है, तब भी मुख पर म्लानता नहीं, बल्कि हास्य बिखर रहा है। हाकिम की प्रत्येक बात का हँसते हुए जवाब दे रहे हैं। कारण कि मन तो परमानन्द कन्द प्रभु के पास है अतः शारीरिक दुःख-सुख का कोई भान ही नहीं रहा। यथा-''मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही।।'' (रामा०), ''मार्‌यो हम''- श्रीसदनजी यद्यपि सर्वथा निर्दोष हैं। तब भी सारा दोष अपना ही स्वीकार करते हैं। इसके दो कारण हैं-१. इस अनर्थ का मूल निमित्त स्वयं को ही मानते हैं। न आये होते न यह अनर्थ होता। २. इनकी दूरदर्शिनी दृष्टि ने पूर्वजन्मकृत अपने अपराध को देख लिया, अतः ये बोले कि-''मैंने ही मारा।'' ''हाथ काटि डारियै'' -हाकिम समझ गया कि यह सब इस स्त्री का ही कपटजाल है, परन्तु चूंकि ये अपराध स्वीकार कर रहे थे अतः हाथ कटवाकर छोड़ दिया। ''कट्‌यो कर चले''-अकारण इतना महान् संकट उपस्थित होने पर भी ये पीछे नहीं मुड़े, बल्कि आगे ही चले। साधारण निष्ठा वाला व्यक्ति ऐसी स्थिति में विचलित हो जाता है, परन्तु ये तो पीछे मुड़ने का नाम नहीं लिये, आगे ही चले। कारण-''हरिरंग माँझ झिले।'' ''कछु चूक मेरी''-देखिये कवित्त-३९४ में ''सदना कसाई'' की व्याख्या। पुनः यह भक्त का स्वभाव है। यथा-''गुन तुम्हार समुझै निज दोषा। जेहिं सब भाँति तुम्हार भरोसा।।'' (रामा०), ''पालकी पठाई''- भगवान ने उत्तम कुल गोत्र वालों के लिये पालकी नहीं भेजा, श्रीसदनजी के लिये भेजा, इसके दो कारण हैं-१. इनका प्रेम सबसे अधिक है और भगवान को प्रेम सर्वाधिक प्रिय है। २. इनको अपने समान समझकर। श्रीजगन्नाथ भगवान भी टोंटे (हस्त विहीन) हैं और श्रीसदनजी भी।

सुपनौ सौ मिट्‌यो त्रास—श्रीसदनजी प्रभु का दर्शन करके साष्टांग दण्डवत्प्रणाम करने लगे। उस समय ज्यों ही इन्होंने अपने हाथ आगे बढ़ाने की चेष्टा की तो उसी क्षण इनका हाथ

ज्यों के त्यों प्रकट हो गया। सब दु:ख स्वप्नवत् मिट गया। जैसे स्वप्न में कोई सिर काट रहा हो तो उस समय तो महान् पीड़ा होती है परन्तु जगने पर दु:ख लवलेश नहीं रह जाता। उसी प्रकार इनका दु:ख मिट गया। साधारण जीव इसके विपरीत गुण अपना और दोष, काल, कर्म, ईश्वरादि को देते हैं। यथा-"बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रन्थनि गावा।। साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहिं पर लोक सँवारा।। सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाइ।।" (रामा०), पुन:-"ढाक चढ़त बारी गिरै करै राव सौं रोष। करै रावसों रोष दोष हरिको कह दीजै। आपुन कुमति कमाय परेखो काको कीजै।। तृषावन्त ह्वै जीव सरोवर पै चलि आवै। यह नहिं देखी सुनी आय सर तृषा बुझावै।। अगर कहै अपराध यह प्रभु हैं सदा अदोष। ढाक चढ़त बारी गिरै करै रावसों रोष।।"

श्री गुसाईं काशीश्वरजी

श्रीगुसाईं काशीश्वर आगे अवधूत बर करि प्रीति नीलाचल रहे लाग्यो नीको है।
महाप्रभु कृष्ण चैतन्यजू की आज्ञा पाय आये वृन्दावन देखि भायौ भयौ हीको है।।
सेवा अधिकार पायौ रसिक गोविन्दचन्द चाहत मुखारविन्द जीवनि जो जीको है।
नित ही लड़ावैं भाव सागर बढ़ावैं कौन पारावार पावैं सुनै लागै जग फीको है।।३९८।।

शब्दार्थ—अवधूत=एक प्रकार का संन्यासी।

भावार्थ—गोसाईं श्रीकाशीश्वरजी प्रथम अवधूत संन्यासी थे। आपको श्रीनीलाचल (श्रीजगन्नाथपुरी) का वास अच्छा लगा अत: अनुरागपूर्वक वहीं बस गये। कालान्तर में महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यजी के आदेशानुसार आप श्रीवृन्दावन चले आये। श्रीवृन्दावन का दर्शन करके आपके हृदय की अभिलाषा पूरी हो गई। यहाँ आपको रसिकेन्द्र चूड़ामणि श्रीराधा गोविन्दचन्द्रजी की सेवा का अधिकार प्राप्त हुआ। आप श्रीगोविन्ददेवजी के श्रीमुख-कमल को देखते ही रहते थे, जो कि जीवों का जीवन है, सर्वस्व है। आप नित्यप्रति श्रीगोविन्ददेवजी को अत्यन्त लाड़ लड़ाते थे। एवं प्रकारेण आपके हृदय में भाव सागर की उमंग उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती थी, उसका ओर-छोर कौन पा सकता है? आपकी भाव-दशा का वर्णन सुनकर संसार फीका लगने लगता है।।३९८।।

व्याख्या—गोसाईं श्रीकाशीश्वरजी श्रीईश्वरपुरीजी के शिष्य थे, उस समय जब अवधूत दशा में थे तब प्राय: विचरण किया करते थे। एकबार मार्ग में इनको एक भूत मिला। उसने इन्हें बहुत ही डरवाया। इन्होंने भी उसकी बहुत प्रार्थना की, परन्तु उसने एक न सुनी।

तब इन्होंने पूछा-"आखिर तुम चाहते क्या हो?" भूत ने कहा-"मैं तुम्हें मारकर भूत बनाऊँगा।" इन्होंने पूछा-"सो क्यों?" भूत ने कहा-"इसलिये कि तुम श्रीहरि से विमुख हो।" यह सुनकर ये डर गये और तत्क्षण मन ही मन श्रीहरि की शरण ग्रहण किये। मन में शरणागति का संकल्प करते ही भूत पलायन कर गया। पुन: श्रीईश्वरपुरीजी ने देहावसान के समय इन्हें आज्ञा दी कि तुम श्रीगौराङ्ग की सेवा में जाकर रहो। इस प्रकार इन्होंने पुरी में आकर श्रीमहाप्रभु की सन्निधि, सेवा प्राप्त की। श्रीमहाप्रभुजी इन्हें अपनी सेवा देने में संकोच करते। पश्चात् गुरु आज्ञा एवं इनके प्रेमभाव को देखकर इन्हें सेवा का अवसर दिया। ये शरीर से बड़े हृष्ट-पुष्ट थे। श्रीमहाप्रभुजी जब श्रीजगन्नाथ भगवान के आगे नृत्य करते थे और उनके दर्शनार्थ जन समुदाय उमड़ता तो श्रीकाशीश्वरजी ही उस भीड़ को सँभालते थे। जब श्रीरूपगोस्वामीजी पर अनुग्रह करके श्रीगोविन्ददेवजी प्रकट हुये और यह शुभ समाचार श्रीमहाप्रभु को मिला तो महती अनुकम्पा करके श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीकाशीश्वरजी को श्रीगोविन्ददेवजी की सेवा के लिये श्रीवृन्दावन भेजा। इन्होंने बड़े लाड़पूर्वक श्रीगोविन्ददेवजी की सेवा की और सेवासुख प्राप्त किया। "जीवनि जो जी की है"- भगवान प्राणों के भी प्राण हैं। जीव के भी जीव हैं। यथा-"प्रान प्रान के जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के।।" पुन:-"प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।।" (रामा०), मूल छप्पय-९६ में आये हुए अन्य सन्तों के चरित्र-

श्रीसोझाजी—जगत् की असारता, सांसारिक सुख भोगों के मिथ्यात्व, श्रीहरिभजन की सत्यता का सम्यक् बोध होने पर श्रीसोझाजी के मन में तीव्र वैराग्य का समुदय हुआ। इन्होंने अपनी पत्नी के समक्ष अपने गृह-त्याग का प्रस्ताव रखा। साध्वी पत्नी ने पति के परमार्थ मार्ग में व्यवधान डालना उचित नहीं समझा। उसने सहर्ष इनके प्रस्ताव का समर्थन किया, साथ ही स्वयं भी पति के साथ में चलने का प्रस्ताव रखा। इन्होंने कहा-"यदि सचमुच तुम्हारे हृदय से सब प्रकार की आसक्तियाँ दूर हो गईं हों तो तुम भी सहर्ष मेरे साथ चल सकती हो।" अन्ततोगत्वा सोझा दम्पत्ति अर्द्धरात्रि के समय अपने धन-धान्य से भरे घर, कुटुम्ब-परिवार, भाई-बन्धुओं को छोड़कर घर से निकल पड़े। सारी रात चलने के उपरान्त जब प्रात:काल हुआ तो सोझाजी की दृष्टि पत्नी की गोद में स्थित शिशु पर पड़ी। बात यह थी कि इनकी पत्नी ने पतिप्रेम एवं श्रीभगवदनुराग में सब कुछ तो सहज में छोड़ दिया परन्तु वह अपने दस महीने के नवजात शिशु को छोड़ने में समर्थ नहीं हो सकी। अत: उसे उसने गोद में ले लिया था। श्रीसोझाजी को यह बात नहीं मालूम थी। जब उन्होंने पत्नी की गोद में पुत्र को देखा तो बड़े नाराज हुये और पत्नी से बोले-"अभी तुम्हारे मन में संसार के प्रति बहुत राग है। यदि तुम मेरे साथ चलना चाहती हो तो इस शिशु को यहीं छोड़ दो।" पत्नी

ने आर्त स्वर से कहा-यहाँ इस बालक का लालन-पालन कौन करेगा?'' इन्होंने पृथ्वी पर रेंगते हुए जीव-जाल को दिखाकर कहा-जो इनका पालक है वही इस बालक का भी पालन करने वाला होगा। पति की आज्ञा का पालन करती हुई पत्नी ने बालक को वहीं छोड़ दिया। दोनों आगे बढ़े। उधर परिवार के लोगों ने इनकी खोज प्रारम्भ की। तो ये तो मिले नहीं, हाँ इनका बालक मिल गया। लोग बालक को उठाकर ले गये। आगे चलकर वह बालक उस नगर का राजा हुआ। सोझा दम्पत्ति को चलते-चलते पूरा दिन भी व्यतीत हो गया परन्तु अभी तक खाने को कुछ नहीं मिला था। श्रीसोझाजी ने विचार किया कि भगवान तो बड़े भक्तवत्सल हैं, परन्तु हम लोगों को अब तक भोजन नहीं मिला, इसका क्या कारण है? कहीं मेरी निर्भरता में तो कुछ कमी नहीं है, अथवा मेरी पत्नी ने तो कुछ नहीं लुका-छिपा रखा है? अपने हृदय को टटोला तो इन्हें अपनी अनन्यता में कोई कसर नहीं दिखाई पड़ी। तब इन्हें पत्नी पर सन्देह हुआ। इन्होंने पूछा-''क्या तुमने कुछ रुपये-पैसे अपने पास छिपा रखे हैं, जो हमें प्रभु के कृपा प्रसाद से वञ्चित कर रहे हैं? पत्नी ने सकुचाकर एक मुहर निकालकर पति को दिखाया। श्रीसोझाजी ने कहा-''तत्काल इसे फेंको एवं और जो कुछ भी तुम्हारे पास हो उसे भी शीघ्र फेंको।'' जब तक हम लोग पूर्णरूपेण परमात्मा पर ही निर्भर नहीं होगें, तब तक कृपा से वञ्चित ही रहेंगे। पत्नी ने तुरन्त मुहर फेंक दी और पति के साथ आगे चली। जिस धन के लिये लोग उचित-अनुचित सभी प्रकार के उपायों का आश्रय लेते हैं, उसी को इस प्रकार फेंकते हुये देखकर लोगों ने इन्हें परमसिद्ध समझा और इनके नगर में प्रवेश करने के पूर्व ही नगर में इनकी सिद्धाई की धूम मच गई। नगरवासियों ने इनका बड़ा भव्य स्वागत किया। कुछ दिन तक उस नगर में निवास करने के उपरान्त ये श्रीद्वारिकापुरी को प्रस्थान किये। कहते हैं कि मार्ग में दुष्टों ने इनकी पत्नी को छीन लिया। स्वधर्म रक्षा के लिये पत्नी ने भगवान को पुकारा। भगवान के आदेश से श्रीहनुमानजी ने प्रगट होकर दुष्टों को दण्ड देकर इनकी पत्नी को इनके पास पहुँचा दिया। साथ ही आकाशवाणी द्वारा पत्नी की पवित्रता को भी प्रमाणित कर दिया। बारह साल बाद इनकी पत्नी के मन में अपने पुत्र का हाल जानने की इच्छा हुई। उसने अपना अभीष्ट पति के सम्मुख प्रस्तुत किया। श्रीसोझाजी पत्नी को लेकर चल पड़े अपने देश। एक बाग में डेरा डाले। बाग के माली से पूछे-''इस देश का राजा कौन है?'' माली ने बताया-''यहाँ के राजा को कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने सोझा भक्त के पुत्र को गोद ले लिया है, जिसे उसके माता-पिता जंगल में ही छोड़ गये थे, वही इस समय यहाँ का राजा है।'' श्रीसोझाजी की पत्नी को विश्वास हो गया कि सचमुच- ''प्रनत कुटुम्बपाल रघुराई।'' (रामा०)

श्रीसींवाजी—ये जाति के कायस्थ थे। बड़े अनुरागपूर्वक श्रीभगवत्-भागवत सेवा करते थे। समाज में इनका बड़ा सम्मान था। इनकी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा को न सह सकने के कारण कुछ ईर्ष्यालु लोगों ने राजा से इनकी झूठी शिकायत किया। नादान नृप ने इनको कारागार में डाल दिया। उसी बीच इनका नाम पूछते-पूछते सन्तों की जमात इनके घर पर आई। समाचार मिलने पर श्रीसींवाजी सन्तों की सेवा के लिए तड़प उठे। ये मन ही मन भगवान से प्रार्थना करने लगे कि यदि मेरे पंख होते तो मैं उड़कर घर जाकर सन्तों की सेवा करता। प्रार्थना का कुछ ऐसा चमत्कार हुआ कि तत्काल इनकी हथकड़ी-बेड़ियाँ टूट गईं और ये सन्तों के पास पहुँच गये। बड़े भावपूर्वक सन्तों की सेवा किए। उधर राज्य-कर्मचारियों को इनके जेल से निकल भागने का समाचार मिला। वे पुनः इनका पता लगाकर पकड़ ले गये और हथकड़ी-बेड़ी में जकड़ने लगे। परन्तु आश्चर्य! इनके स्पर्शमात्र से ही लौह शृङ्खलाएँ टुकड़े-टुकड़े हो गईं। कर्मचारियों ने जाकर राजा से यह सब हाल कहा। अविवेकी राजा ने इसे इनका इन्द्रजाल समझकर प्राणदण्ड का आदेश किया। परन्तु ''जाको राखै साइयाँ मारि सकै न कोय।'' इनको मारने के लिये तलवार लिये हुए जल्लादों के हाथ उठे के उठे ही रह गये। वे एकदम स्तम्भित हो गये। जब यह परमाश्चर्यमय वृतान्त राजा ने सुना तो वह बहुत प्रभावित हुआ। नंगे पांव दौड़ा आया और श्रीसींवाजी के चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना किया। दरबार में ले जाकर बड़ा सम्मान किया और चुगुली करने वालों को प्राणदण्ड का विधान किया। परन्तु कोमल हृदय श्रीसींवाजी ने सबको मुक्त करा दिया। तभी तो कहा गया है-''उमा सन्त कै इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई।।'' (रामा०),

श्रीअधारजी—इन्होंने श्रीहरिनाम का आधार लिया था तथा स्वयं भी भवसागर में डूबते हुए असंख्य जनों के आधार थे, अतः सभी जन आपको श्रीअधारजी कहते थे।

श्रीहरिनाभजी—ब्राह्मणकुलोत्पन्न श्रीहरिनाभजी बड़े ही संतसेवी थे। एकबार संन्यासियों की एक बहुत बड़ी जमात गाँव में आई। गाँववालों ने उन्हें श्रीहरिनाभजी का घर बता दिया। दैवयोग से उस दिन इनके घर में एक छटाँग भी सीधा-सामान नहीं था। संन्यासी द्वार पर अड़े सीधा-सामान माँग रहे थे। जब इन्हें कोई उपाय नहीं सूझा तो अपनी ब्याह योग्य कन्या एक सगोत्री ब्राह्मण के घर गहने धरकर सीधा-सामान लाये और संन्यासियों का सत्कार किये। बाद में जब इन्हें कुछ आमदनी हो गयी तो उस ब्राह्मण का सीधा-सामान लौटा दिये परन्तु वह इनकी कन्या लौटाने में आनाकानी करने लगा। श्रीहरिनाभजी की भक्ति-भावना पर

सन्तुष्ट भक्तवत्सल भगवान ने स्वयं इनकी कन्या को उस ब्राह्मण के घर से इनके घर पहुँचा दिया। उस ब्राह्मण ने भगवान की कृपा को तो जाना नहीं, समझा कि श्रीहरिनाभजी ही कोई षड्यंत्र करके अपनी कन्या निकाल ले गये। अतः वे इनसे झगड़ा तकरार करने लगे। तब भगवान ने रात्रि में उन्हें स्वप्न में भय दिया कि कन्या को मैंने पिता के घर पहुँचाया था। यदि तुम लोग उनसे तकरार करोगे तो मैं सर्वनाश कर दूँगा। ब्राह्मण डर गया। प्रातःकाल होते ही श्रीहरिनाभजी के चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना की। उनसे भी सन्तसेवा का व्रत ले लिया और श्रीहरिनाभजी की कन्या को निज पुत्री मानकर यथासमय उसके विवाह में पूर्ण सहयोग किया।

श्रीस्वभूराम देवाचार्यजी—आप श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के शिष्य थे। आपके पिता का नाम पंडित श्रीकृष्णदत्त एवं माता का नाम श्रीराधादेवी था। कहते हैं कि प्रथम आपके माता-पिता संतानहीन थे। पुत्र प्राप्ति का हर सम्भव उपाय करने पर भी उनका मनोरथ सफल नहीं हुआ तो वे निराश हो चुके थे। "हारे को हरिनाम" ही एकमात्र सहारा होता है। उन्होंने श्रीभगवन्नाम का सहारा लिया। प्रभु-प्रेरणा से एक दिन एक सन्त आपके घर पर आये। उन्होंने बड़े भावपूर्वक सन्त की सेवा-शुश्रूषा की। उनकी मानसिक म्लानता सन्त से छिपी नहीं रही। पूछने पर उन्होंने अपना दुःख सन्त के सम्मुख निवेदन किया। सन्त ने सलाह दिया कि वर्तमान में श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी बड़े सिद्ध सन्त हैं, तुम उनकी शरण ग्रहण करो, तुम्हारा अवश्य मंगल होगा। बात जँच गई। ब्राह्मण दम्पति श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी की शरण गये। श्रीआचार्यपाद ने उन्हें श्रीदिलीपजी की कथा सुनाकर गो-सेवा का आदेश दिया। (श्रीदिलीपजी की कथा के लिये देखिये पृष्ठ-५०७), गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर पंडित श्रीकृष्णदत्त और श्रीराधादेवी श्रीदिलीपजी के आदर्श को सम्मुख रखकर गो-सेवा में जुट गये। गोपाष्टमी का दिन था। श्रीकृष्णदत्त गायों की सार-सँभार करने के लिये ब्राह्ममुहूर्त में ही खिरक में गये तो वहाँ उन्हें परम प्रकाश दिखायी पड़ा। कौतुहलवश जब प्रकाश के समीप गये तो उन्हें एक तेज पुञ्ज बालक दिखायी पड़ा। उन्होंने आनन्द-विभोर होकर अपनी पत्नी श्रीराधादेवी से आकर यह वृतान्त सुनाया। श्रीराधादेवी का हृदय वात्सल्य-रस से भर गया। उन्होंने ललककर बालक को गोद में उठा लिया। स्तनों से दुग्ध की धार बह चली। बड़े लाड़-प्यार में बालक का पालन-पोषण होने लगा। स्वयं प्रकट होने के कारण विद्वान् ज्योतिषियों ने बालक का नाम स्वभू (स्वयं उत्पन्न होने वाला) राम रखा तथा गुण भी स्वयम्भू सदृश बताया। जब बालक स्वभूराम आठ साल का हुआ तो

माता-पिता उसे लेकर श्रीनारदटीला (मथुरा) में श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के पास आये। पिता-माता के अनुरोध पर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने बालक का यज्ञोपवीत संस्कार कराकर विधिपूर्वक वैष्णवी दीक्षा से दीक्षित किया। श्रीस्वभूरामजी का मन श्रीगुरुचरणों को छोड़कर घर जाने को तैयार नहीं था, परन्तु गुरु की आज्ञा मानकर घर जाना पड़ा। लेकिन घर पर मन नहीं लगा अतः पुनः श्रीगुरुजी के पास आ गये। श्रीगुरुजी ने पुनः समझाकर घर भेजा, ये पुनः आ गये। श्रीगुरुदेवजी समझ गये कि बालक संसार में नहीं रह सकता है। यह वैराग्य लेना चाहता है अतः आज्ञा दिये कि अपने माता-पिता से आज्ञा माँग लाओ, तब मैं तुम्हें विरक्त दीक्षा दूँगा। श्रीस्वभूरामजी ने जब माता-पिता से आज्ञा और आशीर्वाद माँगा तो वे बिलखकर बोले-"बेटा! तुम्हीं तो हम वृद्धों के एक मात्र प्राणाधार हो, यदि तुम भी वैराग्य ले लोगे तो हम किसके आधार पर जीवन धारण करेंगे।" इन्होंने माता-पिता का अभिप्राय समझकर कहा कि-"यदि मेरे दो भाई और हो जायें, तब तो तुम मुझको विरक्त हो जाने की आज्ञा दे दोगे?" यह सुनकर माता-पिता हँस गये। परन्तु श्रीस्वभूरामजी का वचन सत्य निकला। समय पर श्रीराधादेवी के दो पुत्र और हुए। उनके नाम थे—सन्तदास और माधवदास। ये दोनों भी महाभागवत हुये। इनकी चर्चा प्रसंग श्रीमद्गोस्वामी श्रीनाभाजी ने छप्पय-१९० में की है। तत्पश्चात् श्रीस्वभूरामजी ने पुनः माता-पिता से आज्ञा माँगी। मौन स्वीकृति ने मार्ग प्रशस्त कर दिया। ये माता-पिता को प्रणामकर एवं उनकी परिक्रमा कर श्रीगुरुदेवजी के पास चले आये। विरक्त वेश धारण कर बहुत समय तक श्रीगुरुचरणों की सन्निधि में रहकर भजन-साधन करते रहे।

उन्हीं दिनों हरियाणा प्रान्त में नाथों का बड़ा भारी आतंक फैला हुआ था। वहाँ की जनता ने श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी के पास आकर पुकार की। उन्होंने श्रीस्वभूरामजी को वहाँ भेजा। आपके वहाँ पहुँचने पर नाथ सिद्धों ने बहुत उपद्रव मचाया। इनके निवास स्थान के चारों ओर अग्नि की ज्वालाएँ प्रकट कर दीं। तब आपने श्रीचक्रसुदर्शन का स्मरण किया, तो श्रीचक्रराजजी के प्रचण्ड प्रभाव से हतप्रभ वह अग्नि इनकी कुटी को छोड़कर उन दुष्टों को ही जलाने लगा। बचाव का कोई उपाय न देखकर वे सबके सब श्रीस्वभूरामजी की शरण आये। इन्होंने अपने साधु-स्वभाव की रक्षा करते हुये उन्हें क्षमा कर दिया। फिर आपने वहाँ पर बहुत काल तक निवास कर भक्ति का प्रचुर प्रचार-प्रसार किया। बूड़िया ग्राम में आज भी आपका सुयश जगमगा रहा है।

एक ब्राह्मण आपका शिष्य था। उसके पास अपार सम्पत्ति थी, तीन स्त्रियाँ थीं। वह आपके उपदेश से खूब सन्त सेवा करता था। परन्तु यदि अथाव था तो एक पुत्र का। तीन स्त्रियों में सन्तान एक के भी नहीं थी। गाँव के सभी ताना मारते कि निपूते बैरागियों की सेवा करते हैं उसी का ये फल है। उन ब्राह्मण देवता को अपने निपूते होने का उतना दुःख नहीं होता, जितना सन्त सेवा पर लांछन लगने से होता। जब वेदना असह हो गयी तो वे गुरुदेव श्रीस्वभूरामजी से आकर अपना दुःख निवेदन किये। श्रीस्वभूरामजी ने कृपापूर्वक ब्राह्मण की छोटी स्त्री से भक्तराज पुत्र होने का वरदान दिया। फलस्वरूप यथा समय छोटी स्त्री ने एक पुत्र रत्न को जन्म दिया। ब्राह्मण ने पुत्र जन्म पर बहुत बड़ा महोत्सव मनाया। पुत्र को लाकर श्रीस्वभूरामजी के चरणों में डाल दिया। फिर तो उस ब्राह्मण की सन्त सेवा में और भी अधिक दृढ़ निष्ठा हो गई। कालान्तर में उस ब्राह्मण का स्वर्गवास हो गया और कुछ दिन बाद उस बालक को भी सर्प ने डँस लिया। रोती-बिलखती निरुपाया माँ ने मृतप्राय बालक को लाकर श्रीस्वभूराम देवाचार्यजी के चरणों में डाल दिया। श्रीस्वामीजी ने बालक को कृपा दृष्टि से देखा और भगवान का श्रीचरणामृत मुँह में डाला। बालक तत्काल जीवित हो उठा। यह बालक आगे चलकर श्रीकन्हरदेवाचार्य के नाम से विख्यात सन्त हुआ। इनकी चर्चा श्रीमद्गोस्वामी नाभाजी ने छप्पय-१९१ में किया है।

श्रीऊदारामजी—आपने अपने जन्म से वैश्य कुल को अलंकृत किया था। सन्त सेवा ही आपकी साधना थी। आपकी पत्नी भी बड़ी भागवती थीं। कहते हैं कि आपकी पत्नी के जब प्रथम पुत्र हुआ तो प्रसवकाल में उसे बड़ी पीड़ा हुई। उसी समय उसने निश्चय कर लिया कि अब जीवनभर पति के साथ अङ्ग-सङ्ग नहीं करुँगी। उसने अपना निश्चय पति को भी सुना दिया। पति तो साधु-स्वभाव के थे ही अतः सहज समर्थन मिल गया। फिर तो दोनों पति-पत्नी खूब भगवान का भजन करते और साधु-सन्तों की सेवा करते। एक बार इनकी सन्त सेवा निष्ठा की परीक्षा के लिये एक दिन एक सन्त ने इनसे कहा कि-"मेरी पत्नी वीमार है, अतः कुछ दिन तक सेवा करने के लिये आप अपनी पत्नी मुझे दे दीजिए। जब हमारी पत्नी स्वस्थ हो जायेगी तो मैं आपकी पत्नी लौटा दूँगा।" इन्होंने सहर्ष अपनी पत्नी को सुन्दर वस्त्राभूषणों से समलंकृत कर सन्त के हाथ सौंप दिया। सन्तजी ने कहा कि इसे हमारे आश्रम तक पहुँचा आओ। श्रीऊदारामजी ने ऐसा ही किया। आश्रम में पहुँचते-पहुँचते रात्रि हो गई। चमत्कार यह हुआ कि ये दोनों पति-पत्नी आश्रम में सोये थे, परन्तु प्रातःकाल जब जगे तो अपने को अपने घर में ही पाए। श्रीऊदारामजी

सन्त की महिमा विचारकर गद्‌गद हो गये। वह समझ गये कि वस्तुतस्तु सन्त रूप में ये भगवन्त ही थे। उस दिन से श्रीऊदारामजी का सन्तो में और भी अधिक सद्‌भाव हो गया। अब तो ये संसार से एकदम विरक्त होकर पूर्ण वैष्णव बन गये। अपने जाति बिरादरी वालों से सम्बन्ध तोड़कर वैष्णवों से नाता जोड़ लिये। जाति वालों को यह बात अच्छी नहीं लगी। प्रथम तो उन लोगों ने श्रीऊदारामजी को समझाने का प्रयास किया, परन्तु जब ये नहीं माने तो सबके सब जाति वाले मिलकर राजा के पास जाकर इनकी शिकायत किए कि इनके पास बहुत धन है, परन्तु राज्य कर कुछ भी नहीं देते हैं और उस धन को छिपाने के लिये ही यह वैष्णवता का स्वांग किये हैं। राजा ने रुष्ट होकर इन्हें पकड़ने के लिये सिपाहियों को भेजा, परन्तु विचित्र बात यह हुई कि जितने भी पकड़ने वाले थे, वे सबके सब इनके घर के समीप आते ही अन्धे हो गये। जाकर राजा से यह समाचार कहे तो राजा को यह समझते देर नहीं लगी कि श्रीऊदारामजी सच्चे सन्त हैं। वह राजा तत्काल आकर आपके चरणों में पड़ गया। इस प्रसंग से सबका मोह दूर हो गया। सब लोग श्रीऊदारामजी एवं सन्तों के स्वरूप को समझकर उनके प्रति नत-मस्तक हो गए। सबने श्रीभगवद् भजन एवं साधु-सेवा का व्रत ले लिया। ऐसे कितने लोग आपके चरित्रों से प्रेरणा प्राप्त कर वैष्णव बन गये।

श्रीडूँगरजी—श्रीडूँगरजी पटेल जाट क्षत्रिय थे। सन्त सेवा में इनकी बड़ी निष्ठा थी। ये पिता की आँख बचाकर सन्तों को बहुत खिलाया-पिलाया करते थे। इसी में इन्होंने पिता का बहुत-सा धन व्यय कर दिया। जब पिता को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने इन्हें घर से निकाल दिया। परन्तु इतने पर भी इन्होंने सन्त सेवा नहीं छोड़ी। पत्नी के गहने बेंचकर सन्त सेवा करते रहे। इनकी सेवा की सर्वत्र प्रसिद्धि हो गयी थी अतः इनके यहाँ पर सन्तों का जमघट बना ही रहता था। एकबार सन्तों की बहुत बड़ी जमात इनके यहाँ आ गई और घर में अन्न का एक दाना भी नहीं था, पत्नी के सभी आभूषण बिक चुके थे। अतः कोई और उपाय न देखकर श्रीडूँगरजी और उनकी पत्नी ने अत्यन्त आर्त होकर भगवान को पुकारा। भगवान को भक्त की आर्त पुकार ने विह्वल बना दिया। प्रभु कृपा से तत्काल आकाश से अन्न की वर्षा होने लगी। पत्नी ने तुरन्त आटा तैयार किया। रसोई बनी, सन्तों ने प्रसाद पाया। क्षण भर में यह समाचार पूरे गाँव में फैल गया। जब इनके पिता ने यह बात सुनी तो वे अपनी करनी पर बहुत लज्जित हुये। अपनी सब सम्पत्ति पुत्र को ही सौंप दिए और स्वयं सन्तसेवा में जुट गये। एकबार श्रीडूँगरजी ने श्रीद्वारिकापुरी की यात्रा किया। मार्ग में एक अघोरी मिला। वह इन्हें मारकर खा जाना चाहता था कि इतने में भगवान सन्त रूप धारण कर प्रकट हो गये

और अघोरी को दण्डित कर इनकी जान बचाये। एक जगह इन्होंने स्त्री-पुरुषों की बहुत बड़ी भीड़ देखी। कौतूहलवश वहाँ आ गये, तो पता चला कि एक गर्भवती स्त्री अपने मृत पति के साथ सती होने जा रही है और लोग उसे समझा-बुझा रहे हैं। साधु हृदय श्रीडूँगरजी को दया आई। इन्होंने कृपा करके उसके मृत पति को जीवित करके भक्ति का उपदेश दिया। इस प्रकार आपके चमत्कारपूर्ण जीवन से अनेकों ने भक्ति की प्रेरणा प्राप्त की।

श्रीपदारथजी—एक सन्तसेवी वणिक के यहाँ एक ठग साधुवेष में रहता था। भावुक वणिक ने वेषमात्र से ठग को भी सच्चा साधु मानकर किसी प्रकार का पर्दा नहीं किया। अपना समस्त धन-माल-खजाना भी उसे दिखा दिया। एक दिन जब वणिक कहीं बाहर गया हुआ था, तो वह साधुवेषधारी ठग उसकी सब सम्पत्ति लेकर भाग चला। वणिक पत्नी ने देखा तो चीखना-चिल्लाना प्रारम्भ किया। उसका चिल्लाना सुनकर राज-कर्मचारियों ने उस ठग का पीछा किया। जब ठग ने अपने बचाव का और कोई रास्ता नहीं देखा तो वह, श्रीपदारथजी के घर में घुस गया। साधुवेष देखकर श्रीपदारथजी ने भी उसे अपने घर में छिपा लिया। राज-कर्मचारी इधर-उधर ढूँढ़कर अन्त में लौट आये। तब श्रीपदारथजी ने उस ठग से सही-सही सब बात पूछी। ठग ने भी सब बात सही-सही कह दी। तब श्रीपदारथजी ने उस धन को वणिक के यहाँ भेजवा दिया और उस ठग को श्रीभगवच्चरणामृत तथा प्रसाद दिया, जिससे उसकी बुद्धि शुद्ध हो गई। तब भक्ति का उपदेश दिया। श्रीपदारथजी श्रीहरिभक्ति को ही समस्त पदार्थों का सार मानते थे।

श्रीविमलानन्दजी—''यथा नाम तथा गुण'' की कहावत को चरितार्थ करते हुये श्रीविमलानन्दजी सचमुच विमल आनन्द स्वरूप ही थे। आप बड़े सिद्ध महापुरुष थे। कहते हैं कि एक विषयी राजा ने एक वणिक की सुन्दरी युवती कन्या को देखकर मोहित हो, उसे पकड़ लाने के लिये अपने कर्मचारियों को भेजा। वणिक ने भयभीत होकर अपने धर्म की रक्षा करने के लिये श्रीविमलानन्दजी के यहाँ जाकर पुकार की। श्रीविमलानन्दजी ने उस वणिक को आश्वासन दिया। उधर जब राजकर्मचारी वणिक के घर के पास आये तो सबके-सब अन्धे हो गये। लौटकर राजा को यह हाल सुनाये तो राजा को विश्वास नहीं हुआ। वह स्वयं आया तो उसका भी यही हाल हुआ। तब उसने श्रीविमलानन्दजी के चरणों में पड़कर अपने अपराध के लिये क्षमा-याचना किया। श्रीविमलानन्दजी की कृपा से पुनः सबके नेत्र ठीक हो गये। साथ ही सभी के मन की दुर्वासना भी मिट गई। सबने आपसे उपदेश लेकर अपने जीवन को सफल बनाया।

श्रीकलिकल्पवृक्ष भक्तजी

करुना छाया भक्ति फल ये कलि जुग पादप रचे।।
जतीराम रावल्लि, स्याम, खोजी, सन्त सीहा।
दलहा, पद्म, मनोरथ, रांका, द्यौगू जप जीहा।।
जाड़ा, चाचागुरू, सवाई, चाँदा नापा।
पुरुषोत्तमसों सांच चतुर कीता (मनको) जिहिमेट्यौ आपा।।
मति सुन्दर धी धांगै श्रम संसार नाच नहिन नचे।
करुना छाया भक्तिफल ये कलिजुग पादप रचे।।१७।।

शब्दार्थ—पादप=वृक्ष। रचे=बनाये। आपा=दर्प, घमण्ड, स्वीय भाव। धी धांगै=मृदङ्ग की ताल। संसार नाच=जगत् के प्रपञ्च।

भावार्थ—श्री भगवान ने इन भक्तों को वृक्षरूप रचा। इन सन्तरूपी वृक्षों में इनकी करुणा ही छाया है और इनकी भक्ति ही फल है। इनके नाम ये हैं-श्रीयती रामजी, रामरावलजी, श्रीश्यामजी, श्रीखोजीजी, सन्त श्रीसीहाजी, श्रीदलहाजी, श्रीपद्मजी, श्रीमनोरथजी, श्रीराँका-बाँकाजी, श्रीद्यौगूजी, जो जिह्वा से निरन्तर श्रीभगवन्नाम जप किया करते थे। श्रीजाड़ाजी, श्रीचाचागुरुजी, श्रीसवाईजी, श्रीचाँदाजी, श्रीनापाजी, भगवान पुरुषोत्तम से सच्चे श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीचतुरजी, श्रीकीताजी, जिन्होंने अपने मन का अहं सर्वथा मिटा डाला था। इन सभी भक्तों की बुद्धि बड़ी सुन्दर थी। ये संसाररूपी रङ्ग-मञ्च पर श्रमरूपी धीङ्-धाङ् आदि मृदङ्ग के ताल पर नहीं नचे।।१७।।

व्याख्या—करुणाछाया.......पादपरचे—यहाँ परहितैक व्रत को लक्ष्यकर सन्तों को वृक्ष कहा गया है। श्रीतुलसीदासजी ने भी परोपकारियों की गणना में सन्त और वृक्ष को साथ-साथ रखा है। यथा-''सन्त विटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबनिकै करनी।।'' (रामा०), पुनः-''तुलसी सन्त सु अम्बतरु, फूलैं फलै परहेत। ये इतते पाहन हनैं, वे उतते फल देत।।'' अन्यत्र भी-''वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च। पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः।।'' अर्थ-मनोरथ को पूर्ण करने के लिये कल्पवृक्ष स्वरूप, कृपा के समुद्र, पतितों को पवित्र करने वाले वैष्णवों को हम नमस्कार करते हैं। जैसे वृक्षों का फल, फूल, पल्लव, काष्ठादि सर्वांग परहित हेतु ही होता है, उसी प्रकार से सन्तों का सम्पूर्ण जीवन दूसरों के हित के लिये होता है। वृक्ष में छाया होती है, जो प्राणिमात्र के लिये सुखदायी

होती है, सन्त विटप में सन्त की करुणा ही छाया है। वृक्ष की छाया की तरह सन्त की करुणा भी सब पर होती है। वृक्ष में फल लगते हैं, जिनसे असंख्य जीवों का उदर पोषण होता है। सन्त विटप में भक्तिरूपी फल लगता है। भक्ति को फलरूपा सर्वत्र स्वीकार किया गया है। यथा-''जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।।'' (रामा०) ''सा तु कर्म ज्ञान योगेभ्योऽप्यधिकतरा।।२५।।''''फलरूपत्वात्।।२६।।'' अर्थ- वह (प्रेमरूपा) भक्ति तो कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठतर है क्योंकि भक्तिफल रूपा है। भक्ति से (ना) आत्मा का पोषण होता है। सन्तों की भक्ति से अनन्त जीवों की आत्माओं को तोष प्राप्त होता है। अतः सन्तों को भी वृक्षरूप कहा गया है। सन्त तरु में विशेषता यह है कि वृक्ष की छाया शीत काल में अप्रिय लगती है पर सन्त की करुणा सर्वदा सुहावनी लगती है। पुनः-वृक्ष में समय पर ही फल लगते हैं, सन्ततरु सदैव भक्तिफल से युक्त होते हैं। पुनः-वृक्ष जड़ होने के कारण एक ही स्थान में रहकर उपकार करते हैं परन्तु सन्त घूम-घूमकर उपकार करते रहते हैं। यथा-''जग माहीं बिचरहिं एहि हेता। जड़ जीवन्ह को करैं सचेता।।'' (वै०सं०), वृक्ष से उपकार की आशा करने वालों का ही उपकार होता है परन्तु सन्ततरु तो उपकार की आशा न करने वाले का भी हठ करके उपकार करते हैं, अपने उपदेशादि से कृतार्थ करते हैं। अतः वृक्षों की अपेक्षा सन्त विशेष उपकारी होते हैं।

पुरुषोत्तम सों सांच—श्रीपुरुषोत्तमजी भगवान श्रीपुरुषोत्तम से सच्चे थे। यही सच्चे भक्त की पहचान है। यथा-''हरि गुरु दासनि सों सांचो सोई भक्त सही।'' (भक्तमाल क०-९) अन्यत्र भी कहा गया है कि- ''हरि गुरु सों सांचो रहै, सन्तन्ह सों सद्भाव। दुनियाँ से ऐसो रहै, जैसो देखै दाव।। हरि गुरु सों सांचो रहै विघ्न न व्यापै कोय। हरि गुरु सों सांचो नहीं विघ्न दसो दिसि होय।'' सच्चे को ही श्रीहरि की प्राप्ति होती है। यथा-''साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप। जाके हृदय सांच है ताके हृदय आप।।'' (कबीर) ''निर्मल मन जन सो मोहिं पावा। मोहिं कपट छल छिद्र न भावा।'' (रामा०), ''मनको मेट्यो आपा''-कहावत है कि-''खुदी को खोये बिना खुदा नहीं मिलता।'' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-''तुलसिदास 'मैं' 'मोर' गये बिनु जिव सुख कबहुं न पावै।''(वि०) अतः मनको मेट्यो आया। ''मति सुन्दर'' -सुन्दर मति से तात्पर्य सात्विक बुद्धि से है। सात्विक बुद्धि का लक्षण वर्णन करते हुए भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि-''प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्या कार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।'' (१८/३०), अर्थ-हे पार्थ! प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग को तथा कर्तव्य और अकर्तव्य को एवं भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्व से समझती है वह बुद्धि सात्त्विकी है।

श्रीधाँगैश्रम—धीङ्, धाङ् आदि मृदङ्ग के बोल (ताल) हैं। तालगति के अनुसार ही नृतक नृत्य करता है। मृदंग के ताल भी कठिन होते हैं और संसार में भी बड़ा कठिन श्रम करना पड़ता है। सांसारिक हर कार्य कठिनता से पूर्ण होता है और सुखलेश भी नहीं है, केवल श्रममात्र ही हाथ लगता है। अत: ''धी धांगै श्रम'' कहा। ''संसार नाच नाहिन नचे''-संसार में जन्म लेकर सभी प्राणियों को भगवान की इच्छा शक्ति के इशारे पर नाचना पड़ता है। यथा-''उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं। नटमरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस वेद अस गावत।। जग पेखन तुम देखन हारे। विधि हरि सम्भु नचावन हारे।।'' (रामा०), संसाररूपी रंग मंच पर नृत्य करने का बड़ा ही सुन्दर रूपक श्रीसूरदासजी ने प्रस्तुत किया है। यथा-''अब मैं नाच्यौं बहुत गोपाल। काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल।। महा मोह के नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल। भ्रम भोयौ मन भयौ पखावज चलत असंगत चाल।। तृष्णानाद करति घट भीतर नाना विधि दैताल। माया को कटि फेंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल।। कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल। सूरदास की सबै अविद्या दूरि करो नन्दलाल।।'' श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-''नाचत ही निसि दिवस मर्‍यो! तबही ते न भये हरि! थिर जब ते जिव नाम धर्‍यो।। बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‍यो। चर अरु अचर गगन जल थल में, कौन न स्वांग कर्‍यो। देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जांचत कोउ उबर्‍यो। मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख काहू तौ न हर्‍यो।। थके नयन पद पानि सुमति बल, संग सकल बिछुर्‍यो। अब रघुनाथ सरन आयो जन, भव भय बिकल डर्‍यो।। जेहिं गुनतें बस होहु रीझि करि, सो मोंहि सब बिसर्‍यो। तुलसिदास निज भवन-द्वार प्रभु, दीजै रहन पर्‍यो।।

श्री खोजीजी

खोजीजू के गुरु हरि भावना प्रवीन महा देह अन्त समै बांधि घण्टासो प्रमानियै।
पावैं प्रभु जब तब बाजि उठै जानौं यही पाये पै न बाजो बड़ी चिन्ता मन आनियै।।
तन त्याग बेर नहीं हुते फेरि पाछे आये वाही ठौर पौढ़ि देख्यौ आंब पक्यौ मानियै।
तोरि ताके टूक किये छोटौ एक जन्तु मध्य गयौ सो बिलाय बाजि उठो जग जानियै।।३९९।।

शब्दार्थ—प्रमानियै=निश्चय किया। पावैं प्रभु=हम भगवान को मिलैं। पाये=शरीर छूट गया। बिलाय गयौ=नष्ट, गायब हो गया।

भावार्थ—श्रीखोजीजी के श्रीगुरुदेव भगवच्चिन्तन में परम प्रवीण थे। उन्होंने अपने शरीर का अन्तिम समय जानकर अपनी मुक्ति के प्रमाण के लिये एक घण्टा बाँध दिया और सभी

शिष्य-सेवकों से कह दिया कि हम जब श्रीप्रभु की प्राप्ति कर लेंगे तो यह घण्टा अपने आप बज उठेगा। यही मेरी मुक्ति का प्रमाण जानना। परन्तु आश्चर्य यह हुआ कि उन्होंने शरीर का त्याग तो कर दिया परन्तु घंटा बजा नहीं। तब शिष्य-सेवकों को बड़ी चिन्ता हुई। श्रीगुरुदेवजी के शरीर त्याग के समय श्रीखोजीजी स्थान पर नहीं थे। ये बाद में आये। जब इनको सब वृतान्त विदित हुआ तो जहाँ श्रीगुरुजी ने लेटकर शरीर छोड़ा था, श्रीखोजीजी भी वहीं पौढ़कर ऊपर देखे तो इन्हें एक पका हुआ आम का फल दिखायी पड़ा, इन्होंने उस आम के फल को तोड़कर उसके दो टुकड़े कर दिये। उसमें से एक छोटा-सा जन्तु (कीड़ा) निकला और वह जन्तु सबके देखते-देखते अदृश्य हो गया, घण्टा अपने आप बज उठा। सारा संसार इसका साक्षी है।।३९९।।

व्याख्या—आपका श्रीगुरुदेवजी का दिया हुआ प्रथम नाम श्रीचतुरदासजी था। ''खोजी'' नाम बाद में पड़ा। यह नाम कैसे पड़ा, वह प्रसंग इस प्रकार है-''आपके गुरुदेवजी के आश्रम में एक बहुत बड़ा पीपल का वृक्ष था। वृक्ष के नीचे बहारू लगाकर सेवकों ने फल-पत्रादि सकेलकर एक जगह कर दिया था। वहीं वे लघुशंका करने बैठे थे। श्रीखोजीजी हाथ-पाँव की शुद्धि के लिये जल लिये हुये खड़े थे। थोड़ी देर बाद वे लघुशंका करके हँसते हुए से आये। श्रीखोजीजी ने सहज भाव से पूछा-''जै जै, आप हँस क्यों रहे हैं?'' इनके गुरुदेवजी ने उसी हास्य में कह दिया-''अरे, तू कैसा शिष्य है, जो गुरु के मन की बात नहीं जान पाता। जो गुरु के मनोभाव को नहीं समझ सकता, वह शिष्य भला गुरु की क्या सेवा करेगा? वह गुरु की सेवा में रहने का अधिकारी नहीं है। तुम्हारी बुद्धि भी एकदम विवेक रहित है, तब तो तुम हमारे हँसने का कारण नहीं जान सके। अत: अब तुम मेरे यहाँ से चले जाओ, जब मेरे मन की बात जानकर, मेरे हँसने का कारण याथार्थ्येन समझकर आकर मुझे बताओगे, तब मैं तुमको अपना सच्चा शिष्य समझूँगा और तुम्हें अपनी सेवा में रखूँगा।''

श्रीखोजीजी श्रीगुरुदेवजी को प्रणाम कर वहाँ से चल दिये और जो कोई भी साधु-महात्मा मिलते उनसे अत्यन्त विनम्रतापूर्वक पूछते कि हमारे श्रीगुरुदेवजी लघुशंका करते समय क्यों हँस रहे थे? भला कोई इस प्रश्न का क्या उत्तर दे? सभी लोग कहते-''अरे भाई, कोई रामायण, गीता, भागवत का प्रश्न हो तो हम भले बता सकते हैं, परन्तु इस प्रश्न का उत्तर तो हमारे पास नहीं है।'' सर्वत्र इन्हें एक-सा उत्तर प्राप्त हुआ। ये मन में बड़े उदास हुये कि रहस्य का पता भी नहीं चला और श्रीगुरु-चरणों की सेवा भी छूट गयी। अत: ऐसे जीने से तो मरना ही अच्छा है, यह विचारकर श्रीखोजीजी तन त्याग का संकल्प कर अन्न-जल छोड़कर एकमात्र भगवन्नाम स्मरण करते हुए

एकान्त जंगल में जा बैठे। इनकी सच्ची जिज्ञासा एवं प्रबल गुरुभक्ति देखकर श्रीकबीरदासजी ने कृपा करके दर्शन दिया और इनके पूछने पर सभी रहस्यों का स्पष्टीकरण किया। श्रीकबीरदासजी ने बताया कि-"जब आपके गुरुजी लघुशंका कर रहे थे तो उन्होंने लघुशंका की धार में पीपल के फल, बीजादि को बहते हुए देखा, तो वे विचार करने लगे कि अहा? देखो तो, पीपल का वृक्ष तो सुस्थिर खड़ा है और उसके बीजादि बहे जा रहे हैं। इसी प्रकार ब्रह्म सदा एक रस सुस्थिर रहता है और जीव अविद्या के वशीभूत होकर संसार में भटकता रहता है। पुनः जब तक फल वृक्ष में लगा रहा तब तक कितने शान-सम्मान से रहा, कितना सुन्दर लगता था और वही अब वृक्ष से अलग हो जाने पर मल-मूत्र में बह रहा है। इसी प्रकार जीव भी जब तक श्रीप्रभु पादारविन्दों में लगा रहता है तब तक तो वह कितना सुन्दर और कितना सुखी रहता है, उसे कौन वर्णन कर सकता है? परन्तु वही जीव जब भगवान से विमुख होकर भगवान के श्रीचरण-कमलों से अलग हो जाता है तो भवप्रवाह में, (गर्भाशय के मल-मूत्र में) बहता रहता है। यथा-"जीव जब ते हरिते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो।। माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहिं भ्रम ते दारुन दुख पायो।।" (वि०), पुनः- "जैसे बीज में वृक्ष तथा वृक्ष में बीज समाया हुआ है, उसी प्रकार से परमात्मा में सब संसार और संसार में परमात्मा ओत-प्रोत है। एक साधारण प्रसंग से इतनी महान् शिक्षा पाकर आपके गुरुजी हँसे थे। एक दोहा में श्रीखोजीजी ने इस प्रसंग की चर्चा किया है-"विटप बीजके बीच में अटक गया मनधीर। खोजी का संसय मिटा सतगुरु मिले कबीर।।" श्रीकबीरदासजी के द्वारा रहस्य बोधकर श्रीखोजीजी अपने श्रीगुरुदेवजी के पास आये और उपर्युक्त बात बताये, तब इनके गुरुजी बड़े प्रसन्न हुये और बोले-"तुमने मेरे मन का भाव खोज निकाला, मेरे हँसने का हेतु खोज निकाल, अतः तुम तो बहुत बड़े खोजी मालूम पड़ते हो।" तभी से इनका यही नाम ही प्रसिद्ध हो गया। इन्होंने जैसे पहले खोज की थी वैसे ही अब भी श्रीगुरुजी का शरीरान्त होने पर श्रीगुरुजी की आत्मा का भी खोज करके अपने "खोजी" नाम को चरितार्थ कर दिया। "घण्टा सो प्रमानिये"-जैसे श्रीयुधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ में यज्ञ की पूर्ति के प्रमाण के लिये शंख रखा गया था। देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-४१९, कवित्त-७५।

शिष्य की तौ योग्यताई नीके मन आई अजू गुरुकी प्रबल ऐपै नेकु घटी क्यों भई।
सुनौ याकी बात मन वात वति गति कही सही लै दिखाई और कथा अति रसमई।।
ये तौ प्रभु पाय चुके प्रथम प्रसिद्ध पाछे आछो फल देखि हरि जोग उपजी नई।
इच्छा सो सफल श्याम भक्तवश करी वही रही पूर पच्छ सब बिथा उरकी गई।।४००।।

शब्दार्थ—जोग्यताई=योग्यता, श्रेष्ठता। घटी=कमी, न्यूनता। बातवति=हवा की गति के समान। पाय चुके=प्राप्त हो चुके। पच्छ=गुरु भक्ति पक्ष।

भावार्थ—श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि उपर्युक्त प्रसंग से शिष्य खोजी की योग्यता तो मन में अच्छी तरह समझ में आ गई, परन्तु इनके श्रीगुरुदेवजी भी तो महान् भक्त थे, फिर उनकी किंचित् न्यूनता क्यों हुई? तो इसका समाधान सुनिये। शास्त्रों में मन की गति को पवन की तरह कही गयी है। इनके श्रीगुरुदेवजी ने इसी शास्त्र वचन को सत्य करके दिखा दिया। पुन: इस सम्बन्ध में और भी अत्यन्त रसमयी कथा सुनिये। श्रीखोजीजी के गुरुदेव तो प्रथम ही श्रीप्रभु को प्राप्त कर चुके थे। यह सर्व प्रसिद्ध है, परन्तु बाद में शरीर त्याग के समय अच्छा पका हुआ फल देखकर, भगवान के भोग के योग्य विचार कर उनके मन में यह नवीन अभिलाषा उत्पन्न हुई कि इसका तो भगवान को भोग लगाना चाहिये। भक्त की उस इच्छा को भक्तवत्सल भगवान ने सफल किया। इस प्रकार पूर्व (गुरु) पक्ष की भी श्रेष्ठता सिद्ध हुई। इससे सबके हृदय की व्यथा दूर हो गई।।४००।।

व्याख्या—शिष्य की तौ योग्यताई०—यही कि इन्होंने श्रीगुरुजी की आत्मा का पता लगा लिया कि वह कहाँ अटकी है, जिससे श्रीप्रभु पद प्राप्ति न होने से घण्टा नहीं बजा। "गुरु की प्रबल०"-भाव यह है कि इनके गुरुदेव भी महान् भक्त थे। यथा-"खोजी जू के गुरु हरि भावना प्रवीन महा"-और उन्होंने अपनी मुक्ति के सम्बन्ध में घण्टे को प्रमाण रूप में रखा था। परन्तु घण्टा नहीं बजा, इससे उनकी मुक्ति में सन्देह हुआ और वाणी झूठी पड़ी। यही उनकी किंचित् घटती है। "मनबात वति गति"-यथा-"चञ्चलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।" (गी० ६-३४), अर्थ-हे कृष्ण! यह मन बड़ा चंचल और प्रमथन स्वभाव वाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान है, इसलिये उसको वश में करना वायु की तरह अति दुष्कर मानता हूँ। स्वामी श्रीयुगलानन्य शरणजी महाराज कहते हैं कि-"सहस सुमेर फेर करते तो लेय उठाय प्रमानो। चपला पवन गहै निज मूठिन सोउ अचरज जनि जानो।। रबि शशि घेरि करै क्रीड़ा क्वौ बाल सोउ फुर मानो। युगलानन्यशरन मन वश अति कठिन करन अनुमानो।।" मन की चञ्चलता पर व्यंग्य करते हुए एक कवि कहता है-"उड़त फिरत जो तूल सम जहां तहां बेकाम। ऐसे हल्के को धर्‌यो कहा जानि मन नाम।।" "सही लै दिखाई"-भाव यह है कि इनके गुरुजी उपदेश में तो यह बात बार-बार कहा ही करते थे, अन्त में तो प्रत्यक्ष करके भी दिखा दिये कि देखो, जब मेरे सरीखे सिद्ध कोटि के जीव का भी मन चञ्चल हो जाता है तथा अन्त में मन की

चञ्चलता के कारण जन्म भर की साधना धरी-धरायी रह गई, प्रभु पद प्राप्ति से वंचित हो गये, कीट योनि प्राप्त हुई तो फिर अन्य प्राणियों की तो बात ही क्या है? अत: जैसे हो तैसे मन को वश में करना चाहिये। मन को जीतने वाला ही सच्चा शूर है। यथा-"मन वश करै सोइ साँचो शिरताज सूर अविनाशी। युगलानन्य शरन माया पुनि भई चरनरज दासी।।" उपर्युक्त प्रमाण से यह सिद्ध हुआ कि श्रीखोजीजी के गुरु मन की चञ्चलता के कारण हरिपद प्राप्ति से वञ्चित रहे एवं कीट योनि को प्राप्त हुये। परन्तु इतने बड़े महापुरुष के सम्बन्ध में यह समाधान समीचीन नहीं है। तब दूसरा समाधान करते हैं कि-

ये तौ प्रभु पाय चुके—अर्थात् ये तो जीवन्मुक्त सन्त थे। जीते जी ही मुक्त हो गये थे और शरीर छूटने पर भी सीधे श्रीभगवद्धाम ही गये, कीट योनि में नहीं, परन्तु वहाँ भगवान से मिलन नहीं हुया। इसलिए कि देह त्याग के समय इन्हें बढ़िया पका हुआ आम का फल दिखाई पड़ा तो अभ्यासवश मानसी में ही प्रभु को भोग लगाये। जैसे बछड़ा पूर्वजन्म के संस्कारवश जन्म लेते ही बिना सिखाये ही माँ का थन पीने लगता है। उसी प्रकार से भक्तों को जन्म-जन्मान्तर का संस्कार होता है, सुन्दर वस्तु देखकर प्रभु को अर्पण करने का। उसी संस्कारवश इनके गुरुदेवजी फल देखे तो प्रभु अर्पण की भावना हुई, परन्तु शरीर अशक्त होने के कारण फल को तोड़कर भोग लगाना तो सम्भव नहीं था, अत: मन ही मन भोग लगाये। इतने में शरीर छूट गया तो स्वयं तो श्रीहरिधाम गये और श्रीहरि इनका मनोरथ पूर्ण करने के लिये निजधाम को छोड़कर कीटरूप से आकर आम आरोगने लगे। जब श्रीखोजीजी ने आम के दो टुकड़े किये तो भगवान कीट रूप का परित्याग कर स्व स्वरूप में निजधाम चले गये। जब भक्त-भगवान का मिलन हुआ तो घण्टा अपने आप बज उठा।

श्रीखोजीजी के जीवन की और भी एक घटना बहुत प्रसिद्ध है। वह इस प्रकार है-"जन्मजात वैराग्य और अनुरागवान होने के कारण श्रीखोजीजी बचपन से ही गृहकार्य से उदासीन रहते और श्रीभगवद्भजन तथा साधु-संग में रमे रहते। इनकी यह रहनी भाईयों को अच्छी नहीं लगती। वे इनसे ईर्ष्या करते थे। एक बार गांव में सन्तों की जमात आई हुई थी। ये रात-दिन सन्तों के सान्निध्य में रहकर कथा-वार्ता-सत्संग में लगे रहते थे। इसी बीच इनके पिता का देहावसान हो गया। घर से श्रीगंगाजी बहुत दूर थीं। भाईयों ने कहा-बिना गंगालाभ के जीव की सद्गति नहीं होती है। अत: तुम श्रीपिताजी के फूलों को ले जाकर श्रीगंगाजी में डाल आओ। तब पितृऋण से मुक्त हो सकोगे। तब-"चतुर्दास बोले सुनु भाई। श्रीहरिनाम सदा सुखदाई।। जब हरिजन हरिनाम उचारैं। आप तरैं औरन कूँ तारैं।। घूमत भगत नाम

मुख बोलैं। तीरथ गंगा पाछै डोलैं।।'' (भ०व०टि०), भला भक्ति विमुख भाईयों को इन वचनों में सहज विश्वास कब आने लगा। वे तो समझते थे कि आलस्यवश ये ऐसा कह रहे हैं। अतः उन्होंने बलपूर्वक इन्हें गंगाजी के लिये भेजा। ये सन्तों को साथ लिये हुए भगवन्नाम संकीर्तन करते हुए चल पड़े पिताजी के फूल लेकर। कुछ ही दूर चलने पर जल भरित स्वर्ण-कलश शीश पर धरे हुए दिव्य देवियों का एक समुदाय श्रीचतुरदासजी के समीप आया। इन्हें प्रणाम कर सभी देवियाँ पूछने लगीं-''भक्तवर! आप कहाँ जा रहे हैं?'' इन्होंने कहा-''मैं श्रीपिताजी के फूल श्रीगंगाजी में प्रवाहित करने जा रहा हूँ।'' उन देवियों ने कहा-''हम सब गंगा, यमुना आदि नदियाँ ही हैं। आपके ही निमित्त हम जल भरकर ले आई हैं। आप तो यहीं फूलों का विसर्जन कर दीजिये और स्वयं स्नान कर घर को चले जाइए।'' श्रीचतुरदासजी ने ऐसा ही किया और प्रतीति के लिये एक कलश जल भी ले आये। घर आने पर प्रथम तो इनके भाई इनकी बातों पर विश्वास नहीं किए, परन्तु जब प्रत्यक्ष प्रमाण देखे तो मानने के लिये विवश होना पड़ा। फिर तो सबने श्रीचतुरदासजी का बड़ा सम्मान किया और उपदेश लेकर सभी सन्त-भगवन्त सेवा में लग गये।

श्रीखोजीजी के उपदेश-

दोहाः- **खोजी खोयो खाक में अनुपम जीवन रत्न।**
कीन्हों मूरख क्यों नहीं, राम मिलन को यत्न।।
खोजी खोजत जग मुआ, लगा न कछु भी हाथ।
तजिकै जगजंजाल को, भजु सीता रघुनाथ।।
खोजी खटपट छोड़िके प्रभु पद में मन जोड़।
काम न देगी अन्त में पूँजी लाख करोड़।।
खोजी कहै पुकारि कै, ऊँचो वैष्णव धर्म।
पटतर याके होय किमि, यज्ञादिक सतकर्म।।
बानो श्रीरघुनाथको खोजी धार्‌यौ अङ्ग।
तब कैसे नीको लगै हरि विमुखनकौ सङ्ग।।
खोजी ताल बजायकैं सुमिरौ श्रीरघुबीर।
जिनकी कृपा कटाक्षते छूटि जात भवभीर।।
फल टूटो जलमें गिर्‌यौ खोजी मिटी न प्यास।
गुरु तजिकै गोविन्द भजै निहचै नरक निवास।।

श्रीरांका बांकाजी

रांका पति बांका तिया बसैं पुर पंढ़रमें उरमें न चाह नेकु रीति कछु न्यारियै।
लकरीन बीनि करि जीविका नबीन करैं धरैं हरि रूप हिये ताही सौं जियारियै।।
बिनती करत नाम देव कृष्ण देव जू सों कीजै दुःखदूर कही मेरी मति हारियै।
चलो लै दिखाऊँ तब तेरे मन भाऊँ रहे बन छिपि दोऊ थैली मग मांझ डारियै।।४०१।।

शब्दार्थ—जियारियै=जीवन।

भावार्थ—भक्त श्रीरांकाजी पति थे और श्रीबांकाजी उनकी पत्नी थीं। ये दोनों भागवत पति-पत्नी पण्ढरपुर में निवास करते थे। इन दोनों के हृदय में सिवा भगवान के और कुछ भी चाह नहीं थी। इनकी रीति रहनी कुछ विलक्षण ही थी। जंगल से लकड़ियाँ बीनकर लाते और उन्हीं को बेंचकर अपनी नित्य नवीन जीविका करते थे। हृदय में भगवान के स्वरूप का ध्यान करते थे। भगवद्ध्यान ही इनका जीवन था। एकबार भक्तवर श्रीनामदेवजी ने भगवान श्रीकृष्ण से विनती की कि भक्त रांका-बांका का गरीबी का दुःख दूर कर दीजिये। भगवान ने कहा-"मैंने बहुत उपायों से इन्हें कुछ देना चाहा परन्तु ये लेते ही नहीं, यदि नहीं मानो तो मेरे संग चलो, मैं इनकी निष्कामता दिखलाऊँ, तब ही मैं तुम्हें अच्छा लगूँगा।" फिर तो भगवान ने मार्ग में एक स्वर्ण मुहरों से भरी थैली डाल दिया और स्वयं तथा श्रीनामदेवजी-दोनों जंगल में छिप गये।।४०१।।

व्याख्या—रांका पति बांका तिया—पण्ढरपुर में श्रीलक्ष्मीदत्त नाम के एक ऋग्वेदी ब्राह्मण रहते थे। वे सन्तों की बड़े प्रेम से सेवा करते थे। एकबार इनके यहाँ साक्षात् नारायण सन्तरूप से पधारे और इनकी सेवा से सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद दिये कि-"तुम्हारे यहाँ एक परम विरक्त, श्रीभगवद्भक्त पुत्र का जन्म होगा।" इसके अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ल, द्वितीया, गुरुवार सं० १३४७ वि० को धन लग्न में इनकी पत्नी रूपादेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। यही इनके पुत्र महाभागवत रांकाजी हुये। पण्ढरपुर में वैशाख कृष्ण, सप्तमी, बुधवार सम्बत् १३५१ वि० को कर्क लग्न में श्रीहरिदेव ब्राह्मण के घर एक कन्या ने जन्म लिया। इसी कन्या का विवाह समय आने पर श्रीरांकाजी से हुआ। रांकाजी की इन्हीं पतिव्रता भक्तिमती पत्नी का नाम, उनके प्रमुख वैराग्य एवं अनन्यानुराग के कारण बांका हुआ। (भक्त चरितांक) ये पति-पत्नी दोनों ही भक्त थे। अतः बड़े सुचारु रूप से इनका भजन-साधन चलता था। एक वैष्णव हो और एक अवैष्णव तो बड़ा धर्मसंकट उपस्थित हो जाता है। इस पर दृष्टान्त अवैष्णवी नारी का। देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-७२६, तथा दूसरा दृष्टान्त श्रीपण्डितजी का पृष्ठ-७२७।

उरमें न चाह नेकु—इससे इनकी अत्यन्त निष्कामता दर्शायी गयी है। निष्कामता के सम्बन्ध में देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-२९५, ''बड़ो निसकाम की'' व्याख्या। पुनः अचाह के हृदय में भगवान बसते हैं। यथा-''जाहि न चाहिय कबहुं कछु तुम सन सहजसनेह। बसहु निरन्तर तासु उर सो राउर निज गेह।।'' (रामा०) अचाह जन ही सच्चे शाहंशाह होते हैं। यथा-''चाह मिटी चिन्ता मिटी मनुवा बेपरवाह। जाको कछू न चाहिये सोई शाहंशाह।।'' श्रीचरणदासजी कहते हैं कि-''सो नर इक छत भूप कहावैं। सत्त सिंहासन ऊपर बैठे जत ही चँवर ढुरावै।। दया धर्म दुइ फौज महालै भक्ति निसान चलावै। पुण्य नगारा नौबत बाजै दुर्जन सकल हलावैं।। पाप जलाय करै चौगाना हिंसा कुबुधि नसावै। मोह मुकद्दम काढ़ि मुलुक सों ला वैराग बसावै।। साधन नायव जित तित भेजै दै दै संजम साथा। राम दुहाई सगरे फेरे कोइ न उठावै माथा।। निर्भय राज करै निश्चल ह्वै गुरु शुकदेव सुनावै। चरनदास निश्चै करि जानौ बिरला जन कोउ पावै।।'' जब तक हृदय में किसी भी प्रकार की चाहना रहेगी, तब तक प्रेम का अभ्युदय नहीं हो सकता। यथा-''भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते। तावद् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयोभवेत्।।'' (भ०र०सि०) अर्थ-जब तक भक्ति-भोगों की एवं मुक्ति की लालसारूपी पिशाचिनी हृदय में बनी रहती है तब तक वहाँ भक्ति सुख का उदय कैसे हो सकता है? सत्य तो यह है कि हृदय में चाहना करने वाला भक्त कहा ही नहीं जा सकता। श्रीप्रहलादजी कहते हैं-''यस्त आशिष आशास्ते न सभृत्यः स वै वाणिक्।।'' (भा० ७-१०-४) अर्थ-हे प्रभो! जो सेवक अपनी कामना को पूर्ण करने के लिये आपको भजता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करने वाला बनियां है। विशेष देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-५६४। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं-''तुलसी अद्भुत देवता आशा देवी नाम। सेए सोक समर्पई विमुख भए अभिराम। जे लोलुप भये दास आसके ते सबही के चेरे। प्रभु विश्वास आस जिन जीती ते सेवक हरि केरे।।'' (वि०) अतः भगवान से प्रार्थना करते हैं कि-''नरक परौं फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ। तुलसीराम सनेह कों जो फल सो जारि जाउ।।'' (दो०) अतः श्रीराँका-श्रीबाँकाजी यद्यपि लोक दृष्टि से बड़े रंक थे, और दरिद्र थे और दरिद्र को यद्यपि सदा धन की चाह रहती है, परन्तु इनके हृदय में किंचित् भी चाह नहीं थी।

रीति कछु न्यारिये—प्रेम का पन्थ सबसे न्यारा होता है। यथा-''प्रेम को पन्थ हमारो, सब जगते न्यारो।।'' (रसिया) श्रीराँका-बाँकाजी प्रेमपथ के ही पथिक थे, अतः ''रीति कछु न्यारियै'' कहा। ''जीविका नवीन करैं'''-भाव यह है कि केवल एक दिन के लिये श्रम करते, दूसरे दिन

के लिये कुछ भी संग्रह नहीं करते। नित्य नवीन श्रम द्वारा अर्थोपार्जन करते और उदर पोषण करते। रोज कमाना रोज खाना, रोज कुआँ खोदना-रोज पानी पीना "धरैं हरिरूप...जियारियै"- श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-"भगवान को नित्य हृदय में धारण करने वाले परम अकिंचन भक्तों के समक्ष इन्द्र भी कोई चीज नहीं हैं। यथा-"आठ गाँठ कौपीन में, औ भाजी बिनु लोन। तुलसी रघुवर उर बसैं इन्द्र वापुरो कौन।।" पुनः-"राम अमल माते रहैं पीवैं प्रेम निसंक। आठ गाँठ कौपीन में कहैं इन्द्रसों रंक।।" "विनती करत नामदेव"-प्रथम तो श्रीनामदेवजी ने भगवान को प्रेम उपालम्भ दिया। यथा-"कहूं कहूं गोपाल की गई सिटल्ली नाहिं। काबुल में मेवा किये ब्रज में टेंटी खाहिं।। कहूं कहूं गोपाल की गई सिटल्ली नाहिं। विमुख लोग घोड़ा चढ़े काठ बेचि जन खाहिं।।" पुनः- "कहा भयो जल में जल वर्षत, बर्षत नाहिं खेत जहँ सूखा। अघाये आगे बहुत परोसत परसत नाहिं मरत जहँ भूखा।।" तत्पश्चात् श्रीनामदेवजी ने इनका दारिद्रय दूर करने की प्रार्थना की-"मेरी मति हारियै" श्रीभगवान ने कहा-"नामदेवजी मैं क्या करुँ, ये कुछ लेते ही नहीं? श्रीनामदेवजी ने झुँझलाकर कहा-"आप देते ही नहीं, वह बेचारे लें तो क्या लें?" भगवान ने कहा-

बात कदापि नहीं, मैं तो इन्हें देते-देते हार गया हूँ, ये कुछ भी स्वीकार ही नहीं करते।" श्रीनामदेवजी को विश्वास नहीं हो रहा था, कि इतना गरीब आदमी देने पर लेगा क्यों नहीं, फिर देने वाला भी कोई संसारी नहीं, स्वयं भगवान हैं, तब क्यों नहीं लेते? मुझे बहकाने के लिए प्रभु ऐसा कह रहे हैं। तब श्रीठाकुरजी ने कहा कि-"चलो, प्रत्यक्ष दिखा दूँ, इनका अद्भुत त्याग।"

आये दोऊ तिया पति पाछे बधू आगे स्वामी औचक ही मग मांझ सम्पति निहारियै।
जानी यों जुबति जाति कभूँ मन चलि जात याते बेगि संभ्रम सों धूरि वापै डारियै।।
पूछी अजू कहा कियौ भूमिमें निहुरि तुम कही वही बात बोली धनहूं विचारियै।
कहैं मोसों रांका ऐपै बांका आज देखी तुही सुनि प्रभु बोले बात सांची है हमारियै।।४०२।।

शब्दार्थ—संभ्रमसों=भय से उत्पन्न व्याकुलता से, आतुरता से।

भावार्थ—इतने में श्रीराँका-बाँकाजी पति-पत्नी सहित दोनों ही उसी मार्ग से आये। आगे-आगे पति श्रीराँकाजी थे और पीछे-पीछे इनकी पत्नी श्रीबाँकाजी थीं। एकाएक श्रीराँकाजी ने मार्ग में पड़ी हुई सम्पत्ति अर्थात् मुहरों से भरी हुई थैली देखी। देखकर विचार किया कि मेरी पत्नी स्त्री जाति है, वैसे यद्यपि निष्काम है, फिर भी कभी-कभी दृष्टि पथ

में आने पर लौकिक वस्तुओं में भी मन चलायमान हो ही जाता है, अतः बड़ी शीघ्रतापूर्वक उस थैली पर धूलि डाल दिया। श्रीबाँकाजी ने पति से पूछा-''अजी, आपने यहाँ पृथ्वी पर झुककर क्या किया है?'' तब श्रीराँकाजी ने सत्य बात बता दी। तब श्रीबाँकाजी ने कहा-''अभी आपके मन में धन का ज्ञान बना ही है?'' यह सुनकर श्रीराँकाजी बोले-''लोग मुझे राँका और तुमको बाँका कहते हैं सो सत्य ही मैं राँका अर्थात् रंक ही हूँ और तुम बाँका अर्थात् श्रेष्ठ, मुझसे बढ़कर हो। यह बात मैंने आज देख ली।'' इनकी ये बातें सुनकर भगवान श्रीनामदेवजी से बोले-''देखो, हमारी बात सत्य हुई न। ये दोनों धन के प्रति कितने निस्पृह हैं।।४०२।।

व्याख्या—पाछे बधू आगे स्वामी—इससे जनाया कि ये दोनों पति-पत्नी आगे-पीछे अलग-अलग चलते थे। इसके दो कारण-१. संग-संग चलने से कुछ वार्तालाप हो ही जाता है। जिससे भजन में अन्तराय पड़ता है। अतः अलग-अलग चल रहे थे। २. लोक-लज्जा को विचार कर। समाज के शील-संकोच तथा लज्जावश श्रीबाँकाजी पति राँका से दबकर पीछे-पीछे चल रही थीं। यही हमारी प्राचीन संस्कृति है। पति-पत्नी का खुले बाजार में निर्लज्जतापूर्वक हाथ में हाथ मिलाकर चलना आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव है। ''मन चलि जात''-इस पर दृष्टान्त श्रीकबीरदासजी की माता का। देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-५७४।

धनहू विचारियै—भाव यह है कि विवेक का उदय होने पर धनादि में महत्व बुद्धि नहीं रह जाती है। ज्ञानी के लिये मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना एक-सा है। यथा-''सम दुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्य प्रियाप्रियौ धीरस्तुल्य निन्दात्मसंस्तुतिः।।'' (गी० १४-२४) अर्थ- विवेकवान् त्रिगुणातीत पुरुष निरन्तर आत्मभाव में स्थित रहने वाला, दुःख-सुख को समान समझने वाला, मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण में समान भाव वाला, प्रिय और अप्रिय को बराबर समझने वाला, परम धैर्यवान् तथा अपनी निन्दा-स्तुति में भी समान भाव वाला होता है। पुनश्च-''मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्। आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।।'' (नीतौ), अर्थ-जो परस्त्रियों को मातृभाव से देखता है, परद्रव्य को मिट्टी के ढेले के समान देखता है, सभी प्राणियों को आत्म भाव से देखता है, वह ज्ञानी है। श्रीबांकाजी ने कहा-''यदि आपका इस प्रकार का दृढ़ विवेक होता तो आप धूल पर धूल डालने का प्रयत्न नहीं करते।'' श्रीबाँकाजी के इन वचनों से श्रीराँकाजी को यह अनुभव हुआ कि जैसा मेरा नाम राँका है वैसे ही वस्तुतस्तु मैं ज्ञानरंक हूँ भी, और यह अपने नाम को चरितार्थ

करती हुई मुझसे बढ़कर बाँका ही हैं। कहते हैं कि उस दिन रांका-बांका ने उपवास किया। उनको स्वर्ण मुद्राओं के दर्शन से बड़ी ग्लानि हुई कि भगवान का दर्शन न होकर भगवान की माया का क्यों दर्शन हुआ? फिर उपवास के अनन्तर दोनों ने यह सीख ली कि देखो, माया का दर्शन मात्र करने से उपवास करना पड़ा, यदि कहीं स्पर्श कर लेते तो न जाने कौन सी गति होती और ले लेने पर तो उद्धार ही असम्भव हो जाता। अतः भूलकर भी माया की ओर नहीं देखना चाहिये।

नामदेव हारे हरिदेव कही और बात जो पै दाह गात चलौ लकरी सकेरियै।
आये दोऊ बीनिबेको देखी इक ठौरी ढेरी द्वै हूँ मिली पावैं तऊ हाथ नाहिं छेरियै।।
तब तौ प्रगट स्याम ल्याये यों लिवाय घर देखि मूँड फोरौ कह्यौ ऐसे प्रभु फेरियै।
विनती करत कर जोरि अङ्ग पट धारौ भारौ बोझ पर्यौ लियौ चीरमात्र हेरियै।।४०३।।

शब्दार्थ—सकेरियै=इकट्ठा कीजिये। छेरियै=छेड़िये, लगाइये। मूँड़फोरौ=सिरधुना, शोक किया, अपना सिर फोड़ने की धमकी देकर किसी को प्रभावित करने वाला।

भावार्थ—भगवान की जीत हुई, श्रीनामदेवजी हार गये। फिर भगवान ने एक और बात कही कि-"यदि तुम्हारे मन में विशेष परिताप है कि श्रीराँका-बाँकाजी की सहायता करनी ही चाहिये तो चलो इनके लिये लकड़ी बटोरें। फिर श्रीभगवान और श्रीनामदेवजी ने लकड़ियाँ बटोरीं। तदुपरान्त श्रीराँका और बाँकाजी लकड़ी बीनने आये तो जहाँ-तहाँ लकडियों का ढ़ेर देखा, तो विचार किये कि हमसे पहले ही कोई बटोर गया है। फिर तो इनका मन ऐसा भयभीत हुआ कि दो लकड़ियाँ भी एक जगह होतीं तो उन्हें हाथ से नहीं छूते। तब तो भगवान श्यामसुन्दर ने प्रकट होकर इन्हें दर्शन दिया। श्रीराँका-बाँकाजी श्रीठाकुरजी को घर लिवा लाये। भगवान के संग श्रीनामदेवजी को देखकर श्रीरांकाजी ने झुंझलाकर कहा कि-"अरे मूँडफोरा! श्रीप्रभु को इस प्रकार वन-वन भटकाया जाता है?" भगवान ने रांकाजी से कुछ माँगने का अनुरोध किया। तब वे हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे कि-"मुझे आपकी कृपा के सिवा और कुछ नहीं चाहिये।" तब श्रीनामदेवजी ने हाथ जोड़कर इनसे कहा कि-"अच्छा और कुछ नहीं तो, प्रभु का रुख रखते हुये प्रभु का एक प्रसादी वस्त्र ही शरीर पर धारण कर लीजिये।" यद्यपि इतने से भी श्रीरांका-बांकाजी को लगा कि मेरे सिर पर भारी बोझ पड़ गया, परन्तु उन्होंने भक्त (नामदेव) और भगवान की रुचि रखने के लिए वस्त्र मात्र स्वीकार कर लिया।।४०३।।

व्याख्या—हाथ नाहिं छेरियै—श्रीरांकाजी ने अपनी पत्नी से कहा कि ऐसा लगता है कि आज कोई बहुत बड़ा दरिद्री और असन्तोषी जंगल में लकड़ी बटोरने आया था। वह जहाँ

तक बना वहाँ तक लकड़ी ले तो गया ही, रही-सही सारे जंगल की लकड़ी बटोरकर रख गया। यह सुनकर भगवान ने मुस्कुराकर श्रीनामदेवजी से कहा-''देखो, रांका-बांका ने लकड़ी तो लिया नहीं, इससे हम लोगों का परिश्रम तो व्यर्थ गया ही, उल्टे हम दरिद्री, कंगाल, असन्तोषी और बने। सच है-''लोभी को छोटा भी बड़ा दिखाई देता है और सन्तोषी को बड़ा भी छोटा दिखाई देता है। यथा-''घर घर डोलत दीन ह्वै जन जन जाचत जाइ। दिये लोभ चसमा चखनि लघुहू बड़ो लखाइ।।'' ''देखि मूँड़ फोरौ कह्यौ''-श्रीनामदेवजी का यह नाम श्रीरांकाजी की बेटी का रखा हुआ है। वह प्रसंग इस प्रकार है-''एक दिन श्रीरांका भक्त की बेटी और श्रीनामदेवजी की बेटी-दोनों कुएँ पर जल भरने गई थीं।'' श्रीरांकाजी की पुत्री ने श्रीनामदेवजी की पुत्री से कहा-''देखो हमको छूना मत।'' तब श्रीनामदेवजी की पुत्री ने कहा-''हममें ऐसा क्या दोष है, जो तुम हमें छूने में भी डरती हो। तब उसने कहा, तू मूँड़फोरा की बेटी है, तेरे बाप ने भगवान को जबरदस्ती मूँड़ फोरकर (गला काटकर मर जाने की धमकी देकर) दूध पिवाया है। फिर भी भक्ति की ठसक रखते हैं, अतः तुम छूने योग्य नहीं हो।'' इन बातों को सुनकर श्रीनामदेवजी की बेटी अत्यन्त रिस में भरी हुई आकर पिताजी से सब बातें ज्यों की त्यों सुनाईं। तब श्रीनामदेवजी ने कहा-''बेटी! उसने यह बात तो सत्य ही कही है। परन्तु इतना जरूर है कि जैसे हल्दी जितनी अधिक पिसती है, उतना ही रंग अधिक देती है, उसी प्रकार भक्ति भी निष्ठा की कसौटी पर चढ़ने पर ही निखरती है। अतः यदि मैंने मरने की धमकी देकर श्रीठाकुरजी को दूध पिलाया तो वह कोई भक्ति में अपराध नहीं है।'' उसी दिन की वार्ता को लक्ष्य करके श्रीरांकाजी ने श्रीनामदेवजी को मूँड़फोरा कहा। ''ऐसे प्रभु फेरिए''-श्रीरांकाजी ने भगवान से पूछा-''प्रभो! आपने ऐसा क्यों किया?'' तब भगवान ने श्रीनामदेवजी की ओर इशारा करते हुए कहा कि-''इन्होंने जैसा कहा, वैसा मैंने किया।'' तब श्रीरांकाजी ने झुँझलाकर श्रीनामदेवजी से कहा कि-''जैसे तुमने अपने स्वार्थवश गले पर छुरी रखकर भगवान को प्रकट होने के लिये विवश किया, वैसा ही सबको समझते हो। भला मुझ तुच्छ प्राणी के लिये प्रभु को इस प्रकार वन-वन भटकाना चाहिये। श्रीप्रभु के परम सुकोमल श्रीचरणकमल वन की कठोर भूमि में कष्ट पाये होंगे। तुमने बड़ा गलत काम किया।'' यहाँ ''ऐसे प्रभु'' के दो अर्थ होंगे-१. ऐसे कोमल प्रभु को। २. इस प्रकार काष्ठ बटोरने के लिये वन-वन।

अंग पटधारौ—भगवान् ने श्रीरांकाजी से अत्यन्त प्रेमानुरोधपूर्वक कहा कि हमसे कुछ वरदान माँग लो। तब श्रीरांकाजी ने कहा-''जै जै, जिस स्नेह भरी दृष्टि से आप इस समय मुझे देख

रहे हैं, उसी दृष्टि से क्या आप वरदान देने पर भी देखेंगे? तब भगवान ने मुस्कुराकर कहा-"लेन-देन का व्यापार करने वालों की ओर नेह भरी दृष्टि से नहीं देखा जाता।।" इस पर-

दृष्टान्त—फकीर की बेटी का—एक सिद्ध फकीर थे। एकबार वे अपनी बेटी के घर गये और उससे बोले-"मैं दिन भर का भूखा हूँ, मुझे कुछ खिलाओ।" बेटी ने कहा-"घर में तो कुछ खाने को है नहीं, तीन दिन से हम स्वयं भूखे हैं फिर मैं आपको क्या खिलाऊँ?" फकीर ने पूछा-"चूल्हे पर हण्डी में क्या चढ़ा है?" उसने कहा-"केवल जल रखा है, बालक अभी भूखें आवेंगे तो उन्हें फुसलाने के लिए ऐसा कर रखा है। वे आवेंगे तो कह दूँगी कि थोड़ी देर तक और खेल आओ, तब तक खिचड़ी तैयार हो जायेगी।" बेटी की यह बात सुनकर फकीर की आँखें भर आयीं। उन्हें इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि हमारी बेटी धेवते इतना कष्ट पा रहे हैं। अरे, सुख-सुपास की तो बात ही क्या, ये पेट भर भोजन के भी मोहताज हो रहे हैं। सिद्ध फकीर के चित्त में चिन्ता देखकर उनके खुदा का भेजा हुआ एक फरिश्ता आया और फकीर से बोला-"साहब ने कहा है कि फकीर जो वरदान माँगना चाहें उनको वह दिया जाय।" फकीर को स्वयं के लिए तो कुछ चाहिए नहीं था, उन्होंने बेटी से फरिश्ते की बात कही। तब उनकी बेटी ने हँसकर फरिश्ते से कहा-"पहले साहब से यह पूछ आओ कि जैसी कृपादृष्टि अब है वैसी वरदान देने पर भी रखें, तब तो मैं वरदान माँगू।" फरिश्ते ने जाकर साहब से कहा तो साहब ने कहा कि-"उससे जाकर कह दो कि चाहे कृपादृष्टि ही चाहें, चाहे वरदान ही माँग लें। दोनों में से एक ही मिल सकता है।" फरिश्ते ने आकर यह बात कही तो फकीर की बेटी ने कहा-"जाकर साहब से यह कह दो कि जिसके कारण हमें साहब की कृपादृष्टि से वंचित होना पड़े, उस वरदान की हम त्रिकाल में चाहना नहीं करते।" इसी प्रकार श्रीरांका-बांका ने भी भगवान से भी कुछ नहीं चाहा। तभी तो व्यासजी कहते हैं-"अनन्यनि कौनकी परवाहि। कुंजविहारी की आशा करि लै कमरी कर वाहि।। कोटि मुक्ति सुख होय गोखरू गड़ै जबै तरवाहि। श्रीवृन्दावन देखत भाजै नैनन की हरवाहि।। जमुना कूल मूल फल फूलन गोरसकी भरवाहि। निसि दिन श्याम काम वस सेवत राधा की घरवाहि।। जब-जब घेरे आनि राजसी मारे पाथरवाहि। धनकी आस व्यास तजि भजिये गुदी बांधि सरवाहि।।" तब भगवान और श्रीनामदेवजी ने आग्रहपूर्वक प्रसादी वस्त्र ही लेने को कहा। श्रीरांका-बांकाजी सहर्ष स्वीकार कर लिया। (एक सौ एक वर्ष तक इस धराधाम पर रहकर श्रीरांकाजी वैशाख शुक्ल पूर्णिमा सं० १४५२ वि० को अपनी पत्नी बांकाजी के साथ परम धाम को पधारे। (भक्त चरिताङ्क)

छप्पय-९७ में आये अन्य सन्तों का संक्षिप्त चरित्र-

श्रीयतीरामजी—ये पहले सेवरा थे। वैष्णवों से वाद-विवाद करना इनका सहज स्वभाव था। एकबार ये स्वामी श्रीसुखानन्दजी से वाद-विवाद में उलझ गये। श्रीस्वामीजी की वैष्णवी शक्ति के समक्ष इनका समस्त युक्तिवाद असफल रहा। अन्ततोगत्वा ये श्रीस्वामीजी की भक्ति से प्रभावित होकर उनके शिष्य हो गये। ये उन्मत्त की भाँति अकेले विचरते रहते थे और निरन्तर भगवान के नाम-गुण गान में मग्न रहा करते थे। कहते हैं कि एकबार बादशाह की सवारी कहीं जा रही थी। लाव-लश्कर साथ था। सामान का एक बहुत बड़ा गट्ठर ले चलने वाले किसी नौकर की आवश्यकता थी। श्रीयतीरामजी अपनी मस्ती में उधर ही जा निकले। बादशाह के यवन सिपाहियों ने इन्हें ही पकड़कर इनके सिर पर वह गठ्ठर रख दिया। ये तो कुछ ही दूर चले थे कि गठरी बहुत भारी होने के कारण सँभाल में न आने से गिर पड़ी। यवन सिपाहियों ने इनकी बेबसी तो समझी नहीं, उल्टे इन्हें मारने लगे। दुष्टों का यह अत्याचार भगवान से सहा नहीं गया। श्रीहरि इच्छा से उसी समय बहुत बड़े-बड़े असंख्यों गिरगिट प्रकट हो गये और उन दुष्ट यवनों को काटने लगे। यवन अल्लाह-तोबा कहते हुए रोते, चिल्लाते, बिलखते भागे। परन्तु वे जहाँ-जहाँ भागते वहीं-वहीं उन्हें गिरगिट काटने लगते। सेना-सिपाहियों की यह दुर्दशा देखकर बादशाह समझ गया कि यह इन्हीं हिन्दू फकीर की करामात है। अतः वह तुरन्त रथ से उतरकर श्रीयतीरामजी के चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना करने लगा। श्रीयतीरामजी ने बड़ी शान्तिपूर्वक कहा-"भैया! विनय तो तुम उसकी करो जो तुम पर रूठा है और दण्ड दे रहा है। मैं तो न रुष्ट ही हूँ न मैंने दण्ड ही दिया है। बादशाह बहुत-सी अशर्फियाँ इनके चरणों में रखते हुए बोला-"आप अपने राम की सेवा के लिये यह मेरी तुच्छ भेंट स्वीकार करें और हमें उनके कोप से बचावें।" श्रीयतीरामजी ने कहा कि-"मुझ अकिंचनों को इन अशर्फियों से क्या प्रयोजन? यदि तुम अपना कल्याण चाहो हो तो भगवान को भजो और आज से प्रतिज्ञा करो कि मैं कभी किसी भी साधु को नहीं सताऊँगा।" बादशाह ने कसम खाई कि आज से मैं अथवा मेरे कर्मचारी भूलकर भी किसी साधु को नहीं छेड़ेंगे। तब सब लोग संकट से मुक्त हुये।

श्रीरामरावलजी—आप भगवान श्रीरामजी के परम भक्त थे। सदा एकान्त स्थान में रहते हुये निरन्तर भगवच्चिन्तन में मग्न रहा करते थे। लोग इनका बड़ा सम्मान करते थे। एक चेटकी को इनकी प्रतिष्ठा असह्य हो गई। वह इनको भगाने के लिये नाना प्रकार के विघ्न करने लगा। वह कभी सर्प बनकर तो कभी व्याघ्र बनकर इनको डराता। कभी-कभी

तो माया से चारों ओर अग्नि की लपटें उत्पन्न कर देता, जिससे ये डरकर भाग जायें। परन्तु श्रीरामजी के भरोसे ये सर्वथा निर्भर अपने आसन से डिगे नहीं। अन्ततोगत्वा वह चेटकी हारकर इनका अनुगत हो गया और चेटक चमत्कार छोड़कर श्रीभगवद्भजन करने लगा (श्रीश्यामजी का कोई चरित्र नहीं प्राप्त है।)

श्रीसीहाजी—भक्त सीहाजी बड़े नामनिष्ठ सन्त थे। ये स्वयं तो निरन्तर नाम-संकीर्तन करते ही रहते थे, गांव के बालकों को भी बुलाकर कीर्तन करवाते और सबको प्रसाद देते थे। एकबार ऐसा संयोग बना कि इनके पास बालकों को प्रसाद देने के लिए कुछ भी नहीं था। तीन दिन तक लगातार बालक कीर्तन करके बिना प्रसाद के ही घर चले गये। इनको चिन्तित देखकर चौथे दिन स्वयं भगवान एक बालक का रूप धारण करके आये और कीर्तन करने वाले बालकों को खूब लड्डू बाँटे। उसी दिन स्वप्न में भगवान ने इनसे कहा कि-"चिन्ता मत किया करो, जिस दिन कुछ नहीं रहेगा उस दिन मैं स्वयं प्रसाद बाँट जाया करुँगा।" इनका कीर्तन सुनने के लिये भगवान नित्य किसी न किसी रूप में इनके यहाँ आते थे। एक दिन एक वैश्य के पुत्र का रूप धारणकर भगवान कीर्तन सुन रहे थे। उसी दिन वैश्य भी कीर्तन सुनने आया। वह अपने पुत्र को घर छोड़ आया था। परन्तु यहाँ आया तो यहाँ भी पुत्र को कीर्तन मण्डली में बैठा देखा। तब तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह अपने चित्त का समाधान करने के लिये घर गया तो घर पर भी पुत्र को बैठा देखा। फिर यहाँ आया तो यहाँ भी पुत्र को देखा। बीसों बार वह घर गया और यहाँ आया। दोनों स्थानों पर अपने पुत्र को उपस्थित देखकर वह भ्रमित-सा हो गया। उसने अन्त में श्रीसीहाजी को अपने मन का भ्रम सुनाया। तब श्रीसीहाजी ने कहा कि-"तुम अपने लड़के को यहीं लिवा लाओ। जब वह वैश्य अपने पुत्र को लिवा आया तो कीर्तन मण्डली में बैठा हुआ पुत्र अदृश्य हो गया। श्रीसीहाजी समझ गये कि यह सब भगवान की ही लीला थी। इस प्रकार से भक्तवत्सल भगवान सदैव श्रीसीहाजी के संग रहकर नामामृत का आस्वादन करते रहते थे।

श्रीदलहासिंहजी—आप खीची बाड़ा ग्राम के रहने वाले थे। जाति के राजपूत थे। आपने सन्त-सेवा का व्रत लिया था। जब घर का सारा धन सन्त सेवा में व्यय हो गया, तब आभूषण और वस्त्र तक बेंचकर सन्त-सेवा में लगा दिये। स्थिति ऐसी गम्भीर हो गई कि सेवा की तो बात ही क्या स्वयं का पेट पालना मुश्किल हो गया। उधर सेवा की प्रसिद्धि होने से सन्तों का आना-जाना लगा ही रहता था। इसी बीच एक रिश्तेदारी से भात भरने का निमन्त्रण भी आ गया। अब तो ये बड़े सोच में पड़े कि-"किं करोमि, क्व गच्छामि।" मारे

सोच के रात्रि में नींद नहीं आई। तनिक-सी झपकी लगी तो स्वप्न देखे कि भगवान कह रहे हैं कि घर के समीप जो टीला है उसमें अपार सम्पत्ति गड़ी है, उसे निकालकर खूब संत-सेवा करो और भात भरो। इनकी निद्रा खुली तो भगवत्कृपा विचारकर गद्‌गद हो गये। प्रातःकाल भगवान के संकेतानुसार इन्होंने वह टीला खोदा तो सचमुच अपार धन मिला। फिर तो थोड़े धन से भात भरा और शेष धन सन्त-सेवा में लगाया। इस प्रकार भगवान ने आपका व्रत पूर्ण किया।

श्रीपद्मजी—"पद्मपत्रमिवाम्भसा" के ज्वलन्त उदाहरण श्रीपद्‌मजी भगवान विष्णु के अनन्य भक्त थे। इनके पास भगवान विष्णु की स्वर्ण की एक प्रतिमा थी। उसी का पूजन-आराधन करते रहते थे। एकदिन मूर्ति को हृदय से लगाये एकाकी एकान्त में विचर रहे थे। एक यवन चोर ने कैसेहूँ भांप लिया कि इनके पास स्वर्ण की प्रतिमा और मणि-रत्न जटित स्वर्ण के आभूषण हैं। उसने सुनसान देखकर बलपूर्वक इनसे प्रतिमा और आभूषणादि छीन लिये और अपने घर की ओर भाग चला। इनका तो सर्वस्व लुट गया था अतः ये अत्यन्त आर्त होकर भगवान को पुकारने लगे-"हा प्रभु! आय बेगि सुख दीजै। करिये कृपा विलम्ब न कीजै।।" भक्त का दुःख देखकर भक्तवत्सल भगवान ने ऐसी लीला की कि उस यवन चोर का जूता उसके पांव से निकलकर अपने आप उसके सिर पर पड़ने लगा। इस संकट से बचने के लिये उसने बहुत भाग-दौड़ की, परन्तु जहाँ-जहाँ भागा, वहाँ-वहाँ जूते सिर पर पड़ते ही रहे। तब वह लाचार होकर मूर्ति और आभूषण लाकर इनको सौंपकर चरणों में पड़कर प्राण रक्षा के लिये हा-हा खाने लगा। सन्त श्रीपद्‌मजी ने उसके अपराध को क्षमा कर दिया, तब जूतों का प्रहार बन्द हुआ।

श्रीमनोरथजी—आप जाति के ब्राह्मण थे। सन्त-भगवन्त सेवा में बड़ी रुचि रखते थे। आपके एक कन्या थी। जब वह विवाह योग्य हुई तो आपने एक भगवद्‌भक्त ब्राह्मण से उसका विवाह निश्चित किया। परन्तु वह चूंकि गरीब था, अतः कन्या की माता एवं मामा-ये दोनों वहाँ विवाह करने के पक्ष में नहीं थे। उन दोनों ने एक धनी परन्तु अभक्त ब्राह्मण के साथ उस कन्या का विवाह तय किया। वह अभक्त ब्राह्मण विवाह के दिन जबर्दस्ती इनकी कन्या को अपने घर ले गया। ये कदापि अभक्त से सम्बन्ध नहीं चाहते थे, अतः इनको इस बात का बड़ा दुःख कष्ट हुआ कि मेरी कन्या विमुख के घर ब्याही जायेगी। ये रात्रि में भगवान के सामने बैठकर रोने लगे। भक्त मनोरथ का मनोरथ पूर्ण करने के लिये भगवान ने तुरन्त इनकी कन्या को विमुख के घर से लाकर इनके सम्मुख उपस्थित कर

दिया। इन्होंने झट उस ब्राह्मण के साथ कन्या का ब्याह कर दिया। इस चमत्कार से विपक्षी लोगों ने प्रभावित होकर श्रीमनोरथजी के चरणों में पड़कर अपराध के लिये क्षमा-याचना की और स्वयं भी भगवद्-भागवत सेवा में लग गये।

श्रीद्यौगूजी—उद्योग प्रिय होने के कारण आपको लोग उद्योगीजी कहते थे। जन साधारण के बीच द्यौगूजी के नाम से प्रसिद्ध थे। कठिन परिश्रम करके अन्नोपार्जन करते और उससे सन्तों की सेवा करते। आप बड़े ही भोले-भाले स्वभाव के थे। कहते हैं कि इनके पिताजी बिना किसी बीमारी के अकस्मात् मृत्यु को प्राप्त हो गये। ये पिता के शव को श्रीठाकुरजी के सामने रखकर श्रीठाकुरजी से पूछने लगे कि-"बिना किसी आधि-व्याधि के मेरे पिता क्यों मरे?" पूछते-पूछते तीन प्रहर व्यतीत हो गये, कोई उत्तर नहीं मिला। इतने में सन्तों की जमात आ गई। ये सन्तों के स्वागत-सत्कार में लग गये। उन्हें सीधा-सामान देने लगे, तो सन्तों ने कहा-"आपके मन में पिता मरण का महान् दु:ख है, अत: हम आपका सीधा-सामान नहीं लेंगे।" इन्होंने कहा-"ऐसी बात नहीं है। मेरे मन में पिता मरण का किंचित् दु:ख नहीं है।" सन्तों ने कहा-"यदि दु:ख नहीं है तो पिता के शव के पास क्यों बैठे हो?" इन्होंने कहा-"हमें तो भगवान से केवल यह पूछना है कि मेरे पिताजी बिना किसी रोग के क्यों मरे? परन्तु यदि इस कारण से आप लोग सीधा-सामान नहीं ले रहे हैं तो कहिये तो मैं अभी पिताजी के शव को जला दूँ। परन्तु आप लोगों को भूखा नहीं जाने दूँगा। सच कहता हूँ, मरने को सारा परिवार मर जाय, मुझे इसकी परवाह नहीं है। मुझे तो एक मात्र सन्त-सेवा की चिन्ता रहती है कि कोई भी सन्त हमारे यहाँ से विमुख न जाय। इस प्रकार की इनकी भोली-भाली बातें सुनकर सभी सन्त हँस गये। भगवान से भी रहा नहीं गया। वे भी मुस्कुरा पड़े। भगवद्-भागवत कृपा से इनके पिता जीवित हो उठे। सर्वत्र जै-जैकार की ध्वनि छा गयी। श्रीद्यौगूजी की सरलता, सन्त-सेवानिष्ठा एवं दृढ़ श्रीभगवद्विश्वास ने मरे हुये को भी जीवनदान किया, भक्ति का यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर पूरे गांव के लोग भजन परायण हो गये।

श्रीचाचागुरु—वस्तुतस्तु इनका श्रीगुरुजी का दिया हुआ नाम क्षेमदासजी था। "चाचागुरु" नाम पड़ने के सम्बन्ध में कथा इस प्रकार है-"एक बार इनके स्थान पर सन्तों की जमात आई। उनके भोजनादि की व्यवस्था करने के लिए समीप के गांव में गये और सबसे बोले-"भैयाओ! मेरे चाचा गुरु आये हैं। साथ में और भी सन्तों की जमात है। उनके लिये सीधा-सामान की आवश्यकता है।" गांव वाले श्रीक्षेमदासजी में बड़ी श्रद्धा रखते थे। जब उन्होंने सुना कि महाराज के चाचागुरु आये हैं, तो सभी ग्रामवासी बड़ी श्रद्धापूर्वक यथा-

शक्ति सीधा-सामान, भेंट-पूजा लेकर उनका दर्शन करने आये। खूब सन्त-सेवा हुई। बाद में रहस्योद्घाटन हुआ कि ये तो सभी सन्तों को चाचागुरु कहते हैं, फिर तो इनका ''चाचागुरु'' नाम ही पड़ गया। सेवा की प्रसिद्धि होने से इनके यहाँ सन्तों का जमघट बना ही रहता था। कुछ दिन तक तो गांव वाले सेवा में सहयोग देते रहे। परन्तु अन्त में सबने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी कि-''आपके यहाँ तो रोज चाचागुरु आते ही रहते हैं, हम लोग कहाँ तक उनकी सेवा करेंगे?'' तब इनको चिन्ता हुई कि अब साधु-सेवा कैसे होगी? उसी समय इनको भगवान की दिव्य वाणी सुनायी पड़ी कि ''तुम्हारे पास जो धरोहर रूप में किसी का चाँदी का पात्र रखा है, उसे ही बेंचकर सन्त-सेवा करो, समय आने पर मैं सब सुधार लूँगा।'' अन्धे को मानो आँखें मिल गई हो। ये झट उस रजतपात्र को बेंचकर उससे सीधा-सामान ले आए और निश्चिन्त होकर साधु-सेवा करने लगे।

कुछ दिन बाद जिसने अपना रजतपात्र इनके यहाँ धरोहर रखा था, उसको पता चला कि उन्होंने उसे बेंचकर सन्तों को खिला दिया, तो वह इनसे अपना पात्र माँगने लगा। इन्होंने टालमटोल किया तो उसने पंचायत बटोरी। सन्त-सेवा से अवकाश न मिलने के कारण श्रीचाचागुरु पंचायत में नहीं आ पाये तो इनका रूप धारण कर स्वयं भगवान आ गये और पंचों के पूछने पर बोले कि-''इनका पात्र तो ज्यों का त्यों मन्दिर में सुरक्षित रखा है, यदि न मानो तो चलो देख लो।'' पंचायत में वह वैश्य भी बैठा था, जिसके यहाँ श्रीचाचागुरु ने चाँदी का पात्र बेंचा था। उसने पंचों के सामने चाचागुरु को झूठा बताते हुए कहा कि-''ये असत्य कह रहे हैं, पात्र तो इन्होंने हमारे यहाँ बेंच दिया है।'' चाचागुरु ने भी अपनी बात पर बल देते हुए कहा कि तुम खुद मन्दिर में जाकर देख लो, अमुक स्थान पर पात्र रखा है। पंचों के कहने पर वैश्य मन्दिर में गया तो सचमुच पात्र निर्दिष्ट स्थान पर रखा पाया। परन्तु अब यदि यह बात प्रकट होती है तो वैश्य झूठा पड़ता है, अतः उसने अपनी बात रखने के लिए उस पात्र को कहीं छिपा दिया और आकर झूठ बोल दिया कि वहाँ पात्र नहीं है। तब श्रीचाचागुरु ने सभी पंचों से अनुरोध किया कि आप सब लोग चलकर देखें, पात्र है कि नहीं। फिर तो सभी लोग उठकर मन्दिर को गए तो वहाँ एक पात्र की तो बात ही क्या, वैसे ही अनेकों रजत पात्र रखे देखे। देखकर लोग दंग रह गये। उस वैश्य ने जहाँ पात्र छिपा रखा था, वहाँ जाकर देखा तो पात्र नदारत था। वैश्य का कपट खुल गया। श्रीचाचागुरु की बात सत्य निकली। भगवान ने भक्त की लज्जा रख दी। जिसका पात्र था, उसने भक्ति का यह चमत्कार देखकर वह पात्र भगवान की सेवा में अर्पित कर दिया। यह सब

हो जाने के बाद श्रीचाचागुरु को पंचायत विवरण सुनने को मिला तो वे बड़े चकित हुए कि मैं तो गया ही नहीं, फिर पंचायत किसने की। परन्तु आप तत्क्षण ही समझ गये कि यह सब भक्तवत्सल भगवान की ही लीला थी। श्रीचाचागुरु प्रभु कृपा विचारकर प्रेममग्न हो गये।

श्रीसवाईसिंहजी—ये जाति के राजपूत थे एवं बड़े ही सन्तसेवी तथा परोपकारी थे। श्रीगीताजी में वर्णित शौर्य, तेज, धैर्य, चातुर्य, युद्ध में न भागने का स्वभाव, दान और स्वामी भाव अर्थात् निःस्वार्थ भाव से सबका हित सोचकर शास्त्राज्ञानुसार शासन द्वारा प्रेम के सहित पुत्र तुल्य प्रजा का पालन करने का भाव-ये सब क्षत्रियों के गुण इनमें कूट-कूटकर भरे थे। कहते हैं कि एकबार एक भक्त दम्पति वनमार्ग से कहीं जा रहे थे। उनके पास धन द्रव्य देखकर उन्हें लुटेरों ने लूट लिया। उन भक्त दम्पति ने पास के गांव में जाकर दुहाई दी। डाकुओं का नाम सुनते ही गांव के अन्य लोग तो सन्न रह गये, परन्तु उसी गांव में रहने वाले भक्त सवाई सिंहजी ने तुरन्त अपना घोड़ा कसा और अपने आयुध लेकर अकेले ही घोड़े पर चढ़कर डाकुओं के पीछे घोड़ा दौड़ा दिया। डाकुओं को देखते ही इन्होंने ललकार कर कहा कि धन छोड़कर भाग जाओ अन्यथा मारे जाओगे। सन्तों को दुःख देने वाला कभी सुखी नहीं रह सकता है। डाकू संख्या में तेरह थे और ये अकेले। अतः वे इन्हें चारों ओर से घेर लिये और इन पर अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार करने लगे। परन्तु आश्चर्य यह हुआ कि उनके अस्त्र-शस्त्र इनके शरीर से लगकर खण्ड-खण्ड हो जाते और इनका एक वार भी खाली नहीं जाता। अब तो डाकू हृदय से हारकर इनके शरणागत हो गये और सब धन सौंपकर स्वयं भी भक्त बन गये।

श्रीनापाजी—आपके यहाँ पर बड़े भावपूर्वक सन्तों की सेवा होती थी। फलस्वरूप नित्यप्रति पांच जाते तो दस सन्त आते। घर में दिनभर कथा-कीर्तन-सत्संग की धूम मची रहती थी। लोग आश्चर्य करते कि श्रीनापाजी के पास इतना धन आता कहाँ से है? गांव के राजा के मन में सन्देह हुआ कि इनके पास अपार धन है। उसे छिपाने के लिये इन्होंने गरीबों का-सा वेष बना रखा है। नहीं तो सामान्य खेती-बारी से तो परिवार का पालन-पोषण ही मुश्किल है, सन्त-सेवा तो बहुत दूर रही। अतः उसने इन्हें दरबार में बुलवाया और राज-कर के रूप में प्रचुर धनराशि माँगी। परम अकिञ्चन श्रीनापाजी इतना धन कहाँ से लाते। इन्होंने ग्रामाधिपति को बहुत प्रकार से समझाया कि हमारे पास एक पैसा भी धन का संग्रह नहीं है, भगवत्-भागवत कृपा से सन्त-सेवा होती है। पर उसने एक नहीं मानी। इनके इन्कार करने पर उसने इन्हें कारागार में डाल दिया। उधर घर पर सन्तों

की जमात आई। बेचारी पत्नी घबड़ाई कि मैं कैसे सन्तों का सत्कार करूँ? उसने किसी खास आदमी से इनके पास सन्देश भेजा कि सन्त पधारे हैं, इनका सत्कार कैसे होगा? घर में न तो एक आना है, न एक दाना। इन्होंने कहला भेजा कि घर के लोटा-थाली आदि पात्र बेंचकर सन्तों की सेवा करो। आगे फिर देखा जायेगा। पत्नी ने ऐसा ही किया। लेकिन भला लोटा-थाली बेंचकर कितने दिन तक सन्त-सेवा होती। आखिर एक दिन ऐसा आ गया कि घर में कुछ भी नहीं रह गया। इनकी पत्नी खुद भूखी मरने लगी। इसी बीच उसके मायके के कुछ लोग आ गये। बेचारी अबला किं कर्तव्य विमूढ़ हो गई। वह ऐसी आपदा में आर्त होकर भगवान को पुकारने लगी। भक्त की टेर भगवान तक पहुँची। भगवान तुरन्त ही श्रीनापाजी का रूप धारण कर जितने भी बर्तन बेचे गये थे। उन सबको छुड़ा लाये साथ ही और भी बहुत सी भोजन की सामग्री लाकर घर भर दिये। प्रभु कृपा का प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर पत्नी बहुत प्रसन्न हुई। उसने खूब सन्तों एवं मेहमानों का सत्कार किया। उधर ग्रामाधिपति ने अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करके समझ लिया कि वस्तुतस्तु श्रीनापाजी गरीब ही हैं अतः इन्हें छोड़ दिया। जब ये घर आये तो देखे कि घर तो धन-धान्य से भरपूर हो रहा है। पत्नी से पूछे कि-"यह सब सामान कहाँ से आया है?" उसने कहा कि आप कैसी बात कर रहे हैं? अरे आप ही तो कल सायंकाल को सब लाये हैं। श्रीनापाजी समझ गये कि यह सब प्रभु की कृपा का वैभव है।

श्रीनापाजी कुछ खेती भी करते थे। खेत में जल देने की आवश्यकता थी। परन्तु दिन में सन्त-सेवा से फुरसत नहीं मिलती थी, अतः रात्रि में ही खेती सींचने लगे। लेकिन पूरी रात जल भरते रहे, सारा का सारा जल बह गया, खेत सूखा ही रह गया। इससे श्रीनापाजी कुछ उदास हुए तो भगवान इनके पुत्र का रूप धारणकर बोले-"पिताजी! आप दिनभर सन्त-सेवा में लगे रहने से थक जाते हैं, अतः खेत में जल मैं भर दूँगा।" अब श्रीनापाजी खेत की ओर से निश्चिन्त हो गये और भगवान जल भरने लगे। एक दिन श्रीनापाजी खेत पर गए तो इन्होंने पुत्र को जल भरते देखा। परन्तु थोड़ी देर बाद जब घर पर लौटे तो अपने पुत्र को सोता देखा। तब तो इन्हें महान् आश्चर्य हुआ। दो-चार बार घर और खेत दोनों स्थलों पर पुत्र को देखकर ये समझ गए कि मेरा संकट दूर करने के लिए स्वयं भगवान मेरे पुत्र का रूप धारणकर जल भर रहे हैं। अतः ये समीप जाकर पुत्र रूपधारी भगवान का हाथ पड़क लिए और बोले-"प्रभो! मैं आपको पहचान गया, आप मेरे पुत्र नहीं हैं, आप तो भगवान हैं।" श्रीभगवान ने बहुत कहा कि-"पिताजी! आप क्या कह रहे हैं? मैं तो आपका

पुत्र ही हूँ।'' परन्तु जब ये एक नहीं माने, तब तो विवश होकर भगवान को अपने स्वरूप का दर्शन कराना पड़ा। श्रीनापाजी ने विनयपूर्वक पूछा-''जै जै! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं?'' तब भगवान ने कहा-''नापाजी! आप नित्यप्रति हमारी और हमारे भक्तों की सेवा करते हैं तो यदि हमने आपकी थोड़ी सी सहायता कर दी, तो इसमें मैंने कौन-सा बड़ा उपकार कर दिया? अरे, अभी तो मैं आपकी सेवारूपी ऋण का ब्याज भी नहीं चुका पाया हूँ।'' श्रीप्रभु की यह भक्तवत्सलता सुनकर श्रीनापाजी की आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये। भगवान ने भक्त को हृदय से लगा लिया।

श्रीकीताजी—यद्यपि इनका जन्म जंगल में रहने वाली अहेरी (व्याध) जाति में हुआ था, परन्तु पूर्वजन्म के किसी शुभ संस्कारवश इनकी सन्तों में अत्यन्त प्रीति थी। ये सन्त-सेवार्थ विमुखों को लूट लेने में भी संकोच नहीं करते थे। किसी भी प्रकार से धन-संग्रह कर सन्त-सेवा करना इनकी दृष्टि में परम पुण्यावह था। एकबार तो ये सन्त-सेवा निमित्त धन-प्राप्ति का कोई अन्य उपाय न देखकर अपनी युवती कन्या को राजा के यहाँ रहन रखकर धन ले आए और उससे सन्त-सेवा की। जब राजा की दृष्टि कन्या पर पड़ी तो उसके मन में कुत्सित भाव जागे। कन्या को राजा की दुर्वृत्ति का पता चला तो उसने अपने पिता के पास सन्देश भेजा। श्रीकीता भक्त ने भगवान की शरण ली। उधर कन्या ने भी भगवान से अपनी लाज बचाने की प्रार्थना की। प्रभु ने भक्त की लाज रख ली। राजा जब श्रीकीताजी की कन्या के पास गया तो वह उसे सिंहिनी रूप दिखाई पड़ी। तब राजा की आँखें खुलीं। उसने मन ही मन कन्या को प्रणाम कर, फिर श्रीकीताजी के पास जाकर चरणों में पड़कर अपने अपराध के लिये बहुत-बहुत क्षमा-याचना की। इन्होंने अपने साधु-स्वभाव का स्मरण कर राजा को क्षमा कर दिया।

श्रीकीताजी के साथ भी एक ऐसी घटना घटी जो कि श्रीघाटमजी के साथ घटी घटना से मेल खाती है। कहते हैं कि एकबार इन्होंने अनेकों पहरों के बीच फौज की छावनी से घोड़ा चुराया और जब किसी पहरेदार ने पूछा तो सच-सच बता दिया कि मैं चोर हूँ, मेरा नाम कीता है। परन्तु पहरेदार ने इसे इनका विनोद मात्र समझा, उसने सोचा कि फौज के कोई अफसर हैं। जब प्रातःकाल हुआ, तो पता चला कि वह रात्रि को घोड़ा ले जाने वाला व्यक्ति चोर ही था, वह फौज का कोई अफसर नहीं था। फिर तो नाम के अनुसार खोज प्रारम्भ हुई तो शीघ्र ही फौज के सिपाही पता लगाते-लगाते श्रीकीताजी के घर पहुँच गये। वहाँ एक घोड़ा भी बरामद हुआ, घोड़े की रूपरेखा भी वैसी ही थी, परन्तु

रंग बदला हुआ था। छावनी वाले घोड़े का रंग लाल था, इसका श्वेत। पूछताछ करने पर श्रीकीताजी ने पुन: सब बात सही-सही बता दी। साथ ही घोड़े का रंग बदलने में प्रभु की इच्छा को ही मुख्य बताया। श्रीकीताजी की भक्ति तथा सन्त-सेवा-निष्ठा का यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर फौज का सरदार बड़ा प्रभावित हुआ और वह समस्त सेना सहित श्रीकीताजी का शिष्य हो गया तथा सन्त-सेवा निमित्त बहुत-सा द्रव्य भेंट किया। श्रीजाड़ाजी, श्रीचाँदाजी, श्रीपुरुषोत्तमजी और श्रीचतुरजी का कोई चरित्र नहीं प्राप्त है।

पर अर्थ परायन भक्त ये कामधेनु कलिजुग्ग के।
लक्ष्मण, लफरा लड्डू सन्त जोधपुर त्यागी।।
सूरज, कुम्भनदास, बिमानी, खेम विरागी।।
भांवन, बिरही भरत, नफर हरिकेस, लटेरा।
हरिदास, अयोध्या, चक्रपानि, (दियो) सरजू तट डेरा।।
तिलोक, पुखरदी, बिज्जुली, उद्धव बनचर बंसके।
पर अर्थ परायन भक्त ये कामधेनु कलि जुग्गके।।९८।।

शब्दार्थ—पर अर्थ परायन=परोपकार में लगे। कामधेनु=मनोरथ पूर्ण करने वाले।

भावार्थ—ये भक्त जन इस कलियुग में बड़े ही परोपकारी तथा आश्रितजनों का मनोरथ पूर्ण करने के लिये कामधेनु के समान हुये। इनके नाम ये हैं-श्रीलक्ष्मणजी, श्रीलफराजी, श्रीलड्डूजी, जोधपुर के त्यागी सन्तजी, श्रीसूरजजी, श्रीकुम्भनदासजी, श्रीविमानीजी, श्रीखेम वैरागीजी, श्रीभावनजी, श्रीविरही भरतजी, श्रीनफरजी, श्रीहरिकेशजी लटेरा, श्रीहरिदासजी, श्रीअयोध्या सरयू तटवासी श्रीचक्रपाणिजी, श्रीत्रिलोक सुनारजी, श्रीपुखरदीजी, श्रीविज्जुलीजी, वनचर (श्रीहनुमान) वंश में उत्पन्न श्रीउद्धवजी।

श्रीलड्डूजी

लड्डू नाम भक्त जाय निकसे विमुख देश लेसहूं न सन्तभाव जानै पाप पागे हैं।
देवी कौं प्रसन्न करैं मानुस को मारि धरैं लै गये पकरि तहाँ मारिबे कों लागे हैं।।
प्रतिमाको फारि बिकरार रूपधारि आई लै कै तरवार मूँड काटे भीजे बागे हैं।
आगे नृत्य करैं, दृग भरैं साधु पांव धरै ऐसे रखवारे जानि जन अनुरागे हैं।।४०४।।

शब्दार्थ—बिकरार=विकराल, भयंकर। बागे=बागा, जामा, वस्त्र।

भावार्थ—श्रीलड्डूजी नाम के भक्त विचरते-विरचते एक ऐसे विमुखों के देश में जा पहुँचे, जहाँ के लोग लेशमात्र भी सन्तों के प्रति सद्भाव करना नहीं जानते थे। एकदम पाप में पगे हुये थे। वहाँ की ऐसी कुप्रथा थी कि मनुष्य की बलि देकर देवी को प्रसन्न करते थे। वे लोग श्रीलड्डूजी को भी पकड़कर ले गये और देवी के सामने इनकी बलि देने लगे। उस समय मूर्ति को फाड़कर, भयंकर रूप धारणकर देवी साक्षात् प्रकट हो गयीं और उन दुष्टों की ही तलवार अपने हाथ में लेकर उन दुष्टों के सिर काट डाले। रक्त के छीटों से देवी का वस्त्र भीग गया। तत्पश्चात् देवीजी श्रीलड्डू भक्त के आगे नृत्य करने लगीं। भक्त का दर्शन कर वे बार-बार अपने नेत्रों में प्रेमाश्रु भर-भर लेती थीं। वे बारम्बार भक्त के चरण पकड़ती थीं। भगवान अपने भक्तों की इस प्रकार रक्षा करते हैं, श्रीलड्डूजी के प्रसंग से यह बात जानकर सभी लोग श्रीहरिचरणानुरागी हो गये।।४०४।।

व्याख्या—जाय निकसे विमुख देस—श्रीभक्तमालजी के ''भक्तिसुधास्वाद तिलक'' कर्ता श्रीसीतारामशरणजी भगवानप्रसाद (श्रीरूपकलाजी) ने उस विमुख देश को बंगाल प्रान्त का एक गाँव लिखा है। वहाँ जाने का हेतु यह कहा जाता है कि श्रीलड्डूजी से पूर्व सन्तों की एक जमात वहाँ जा चुकी थी। वे लोग तीन दिन तक वहाँ भूखे पड़े रहे, किसी ने कुछ पूछा ही नहीं। उन्हीं सन्तों ने श्रीलड्डूजी से वहाँ की रहन-सहन बताई। तब ये उन लोगों को वैष्णवता का उपदेश देने के लिये घूमते-फिरते वहीं जा पहुँचे। ''लेसहूँ न सन्त भाव जानैं'' -पूर्व जो कहा गया था कि-''निकसे विमुख देस'' तो यहाँ विमुख की व्याख्या करते हैं कि-''वे लोग सन्त-भगवन्त को कुछ जानते ही नहीं थे, फिर मानना तो बहुत दूर रहा। विशेष देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-३९९ ''कैसे होत सन्त'' की व्याख्या। ''पाप पागे हैं''-ये लोग जीवों की हिंसा करके देवी को प्रसन्न करते थे। जिनका हिंसा के प्रति आग्रह है उनके पाप की कोई सीमा नहीं है। यथा-''हिंसा पर अति प्रीति तिनके पापहिं कवन मिति।।'' (रामा०)

महाभारत में वर्णन आया है कि पशु की बलि देने वाले, पशु के शरीर में जितने रोम होते हैं उतने हजार वर्ष तक नरक का कष्ट भोगते हैं। यथा-''यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत। तावत्वर्ष सहस्राणि पच्यन्ते नरके नराः।।'' फिर साधनधाम, मोक्ष के द्वारभूत नर शरीर की बलि देना तो पापों की पराकाष्ठा ही है; क्योंकि देवता भी इस शरीर की प्राप्ति के लिये लालायित रहते हैं। ''लै गये पकरि''-कहते हैं कि वहाँ का राजा देवी को बलि देने के लिये किसी मनुष्य को पकड़ लाने को अपने कर्मचारियों को भेजा था। राजकर्मचारी एक गरीब ब्राह्मण के बालक को पकड़कर ले जा रहे थे। उसके माता-पिता करुण-क्रन्दन

कर रहे थे। उसी समय श्रीलड्डूजी वहाँ पहुँच गये। दीन ब्राह्मण दम्पति अपने पुत्र की रक्षा के लिये सन्त श्रीलड्डूजी की शरण गये। परहितैकव्रती श्रीलड्डूजी ने राजकर्मचारियों से कहकर ब्राह्मण बालक को मुक्त करा दिया और उसकी जगह पर स्वयं बलिदान होने के लिये तैयार हो गये। राजकर्मचारी इन्हें पकड़कर देवी के सम्मुख ले गये। देवी वैष्णव तेज को सह न सकीं, उन्होंने कुपित होकर बलि देने वालों को ही मार डाला और श्रीलड्डू भक्तजी को प्रसन्न करने के लिये उनके चरणों में पड़कर क्षमा माँगी तथा नृत्य किया। इस पर दृष्टान्त श्रीजड़भरतजी का। देखिये पूर्वार्द्ध-४५७।

श्रीसन्तजी

सदा साधु सेवा अनुराग रंग पागि रह्यौ गह्यौ नेम भिक्षा व्रत गांव-गांव जाय कै।
आये घर सन्त पूछैं तिया सौं यों सन्त कहाँ? 'सन्त चूल्हे माँझ' कही ऐसे अलसाय कै।।
बानी सुनि जानी, चले मग सुखदानी मिले कही कित हुते? सो बखानी उर आय कै।
बोली वह साँच, वही आँच ही कौ ध्यान मेरे आनिगृह फेरि किये मगन जिंवाय कै।।४०५।।

शब्दार्थ—अलसायकै=सुस्त, उदास, अनुत्साहित होकर।

भावार्थ—भक्त श्रीसन्तजी का साधु-सेवा में बड़ा प्रेम था। ये हमेशा सन्त-सेवा प्रेम रूपी रंग में रँगे रहते थे, उसी में पगे रहते थे। इन्होंने गांव-गांव से जाकर भिक्षा ला-लाकर सन्त-सेवा करने का नियम ले रखा था। एकबार ये किसी गांव में भिक्षा लेने गये थे। इसी बीच घर पर सन्तों की जमात आ गयी। सन्तों ने इनकी पत्नी से पूछा कि-"सन्तजी कहाँ हैं?" तो पत्नी ने प्रमादपूर्वक कहा कि वे चूल्हे में गये हैं।" पत्नी की वाणी सुनकर ही सन्त जान गये कि इसका साधु-सन्तों में भाव नहीं है, अत: वहाँ से चल दिये। संयोग से मार्ग में सन्तों को सुख देने वाले श्रीसन्तजी मिल गये। सन्तों ने पूछा-"आप कहाँ रहे?" उस समय सन्तजी के हृदय में साक्षात् भगवान ही बैठकर बोले-"हमारी पत्नी ने जो कहा है, वह सत्य कहा है। सचमुच मेरे मन में चूल्हे की आंच का ध्यान हो रहा था। फिर सन्तजी सन्तों को पुनः घर लौटा लाये और श्रीभगवत्प्रसाद पवाकर उन्हें आनन्द में मग्न कर दिया।।४०५।।

व्याख्या—सन्त चूल्हे मांझ—यह स्त्रियों की एक गाली है। इससे जनाया गया कि सन्तजी की पत्नी कर्कशा थी। सन्त-वैष्णवों में उसका किंचित् भी भाव नहीं था। ऐसी स्थिति में धर्म निर्वाह बड़ा कठिन हो जाता है। इस पर दृष्टान्त अवैष्णवी नारी का देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-७२६। "चले"-सन्तजी की पत्नी की जली-कटी बात सुनकर

सन्तजन चल दिये। कहा भी है-"आवत ही हरषै नहीं नैंनन नहीं सनेह। तुलसी तहाँ न जाइये कञ्चन बरषै मेह।। हरषि उठैं आदर करैं आवत जानि अतीत। तुलसी तबही जानिये परमेश्वरसों प्रीति।।" "सो बखानी उर आय के"-"उर प्रेरक रघुवंश विभूषण" ने प्रेरणा करके श्रीसन्तजी को स्थिति से अवगत करा दिया, अतः इन्होंने बिगड़ती बात सुधार ली। "बोली वह साँच"-सन्तजी ने पत्नी के कथन का समर्थन करते हुए सन्तों को समझाया कि वह आप लोगों की सेवा करते-करते सिद्ध हो गयी है। वाणी अवश्य थोड़ी तेज है लेकिन उसका हृदय शुद्ध है। उसने यही न कहा कि वे चूल्हे में गये। तो सचमुच मैं यही चिन्तन करते हुये चला आ रहा था कि कब घर पहुँचू, और कब चूल्हा चेताऊँ, कब रसोई तैयार होकर भगवान को भोग लगे और साधुजन प्रसाद पावै? पुनः मैं भिक्षार्थ गया था। भिक्षा आये बिना चूल्हा जल नहीं सकता, अतः भिक्षार्थ जाना चूल्हे में ही जाना है। इसमें आप लोगों को कोई खेद नहीं मानना चाहिये। यह सुनकर सब सन्त अपनी ही भूल माने और सन्तजी की पत्नी की बड़ी सराहना किये। इस प्रकार सन्तजी ने बिगड़ी बात को सुधार ली। इस पर-

दृष्टान्त—एक दूसरे सन्त सेवी का—इन महानुभाव की पत्नी भी बड़ी कर्कशा थी। सन्तों को देखकर आग-बबूला हो जाया करती थी। एक दिन घर पर सन्त आये। सन्तों के सामने ही उसने पति से बहुत झगड़ा किया, जिससे सन्त चले जायँ। परन्तु उसके पति बड़े धीर-गम्भीर एवं सन्त-सेवानिष्ठ थे, अतः जैसे-तैसे पत्नी को समझा-बुझाकर शान्त कर लिये। रसोई बनी, भगवान को भोग लगा, सन्त प्रसाद पाने बैठे तो फिर जरी-बरी सी बड़बड़ करने लगी। पति ने बहुतेरा समझाना चाहा परन्तु उसने एक नहीं मानी। बात यहाँ तक बढ़ गई कि उसने यह कह दिया कि-"जो खाय सो गाय खाय"। इतना सुनते ही सन्तों ने भोजन करना बन्द कर दिया। उन सज्जन ने सन्तों से पूछा कि-"आप लोग भोजन क्यों नहीं कर रहे हैं?" तब सन्तों ने बताया कि तुम्हारी पत्नी कह रही है कि-"जो खाय सो गाय खाय।" तो भला हम लोग वैष्णव होकर गाय कैसे खा सकते हैं? गाय तो हमारी माता हैं, पूज्या हैं। उक्त सज्जन ने सोचा कि बात तो एकदम बिगड़ गई। सन्त भूखे रह जायेंगे, सब सामान बर्बाद होगा, अतः उन्होंने हरि स्मरण करके बात को सुधारा। वे बोले-"महाराज! आप लोगों ने मेरी पत्नी की बात समझी नहीं। उसके कहने का तात्पर्य यह है कि सन्त भोजन करते समय पदों को गा-गाकर प्रसाद पाते हैं और आप लोग चुपचाप पा रहे हैं, अतः वह कह रही है कि खाइये तो पद गा-गाकर खाइये।" सन्तों ने कहा-"अच्छा, यह बात है तो लीजिये हम गाते हैं-"सिय हरिनारायण गोविन्दे। रामा कृष्णा गोविन्दे।।"

फिर तो बड़े ठाठ से पंक्ति हुई। विशेष देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड पृष्ठ-४२२, में दृष्टान्त श्रीनिम्बार्क कोट के बाबाजी महाराज का।

श्रीतिलोकजी सुनार

पूरबमें ओकसो तिलोक हो सुनार जाति पायो भक्तिसार साधुसेवा उर धारियै। भूपके विवाह सुता जोरौ एक जेहरिकौ गढ़िबेकौ दियौ कह्यौ नीके कै सँवारियै।। आवत अनन्त संत औसर न पावै किहूँ रहे दिन दोय भूप रोष यों संभारियै। ल्यावो रे पकरि, ल्याये, छाड़िये मकर, कही नेकु रह्यो काम आवै नातो मारि डारियै।।४०६।।

शब्दार्थ—ओक=स्थान। भक्तिसार=भक्तिरस-तत्त्व। जेहरि=स्त्रियों के पैर का गहना, पायजेब। गढ़िबेको=बनाने के लिए। मकर=छल, कपट, फरेब।

भावार्थ—श्रीत्रिलोक भक्तजी पूर्व देश के रहने वाले थे और जाति के सोनार थे। सन्त-भगवन्त कृपा से इन्हें "भक्तिसार सर्वस्व" प्राप्त था। इन्होंने हृदय में सन्त-सेवा का व्रत धारण कर रखा था। एकबार वहाँ के राजा की लड़की का विवाह था। उस अवसर पर राजा ने इन्हें एक जोड़ा पायजेब बनाने के लिये सोना दिया और कहा कि अच्छी तरह से बनाना। परन्तु इनके यहाँ पर तो नित्यप्रति अनेकों सन्त-महात्मा आया करते थे, उनकी सेवा से इन्हें किंचित्मात्र भी अवकाश नहीं मिलता था, अतः आभूषण नहीं बना पाये। जब विवाह के दो दिन ही रह गये, और आभूषण बनकर नहीं आया तो राजा को क्रोध हुआ और सिपाहियों को आदेश दिया कि त्रिलोक सुनार को पकड़ लाओ। सिपाही तुरन्त ही इन्हें पकड़कर लाकर राजा के सम्मुख कर दिये। राजा ने इन्हें डाटकर कहा कि-"तुम बड़े धूर्त हो। समय पर आभूषण बनाकर लाने को कहकर भी नहीं लाये। यह बात ठीक नहीं है। अब तुम यह मक्कारी छोड़ दो।" इन्होंने कहा-"महाराज! अब थोड़ा ही काम शेष रह गया है, अभी आपकी पुत्री के विवाह के दो दिन शेष हैं। यदि मैं ठीक समय पर न लाऊँ तो आप मुझे मरवा डालना।।४०६।।

व्याख्या—तिलोक हो सुना जाति—यहाँ श्रीत्रिलोकजी की जाति का निर्देश करने का भाव यह है कि प्रायः सोनार जाति भक्त बहुत कम होती है। ये भगवान को भेंट-पूजा देना तो बहुत दूर रहा भगवान के आभूषणों में से भी कुछ न कुछ काट-छाँट लेते हैं।

दृष्टान्त—एक बुढ़िया का—एक वृद्धा माताजी बड़े प्रेम से श्रीलालजी की सेवा करती थीं। यद्यपि वह बड़ी गरीब थीं। चर्खा कातकर अपनी जीविका चलाती थीं। उसी

में से कुछ पैसे बचाकर श्रीलालजी के साज-शृङ्गार, भोग-राग की व्यवस्था करतीं। इस प्रकार कुछ दिन बचत करते-करते उनके पास कुछ पैसे इकट्ठे हो गये, तो उन्होंने सोचा कि इस पैसे से श्रीलालजी के लिये कोई आभूषण बनवा दूँ। फिर तो वह उन पैसों से सोना खरीदकर एक सोनार के पास पहुँचीं और उससे अपना अभीष्ट कह सुनाया तथा प्रार्थना किया कि-''भैया! लालजी की वस्तु है, इसमें चालाकी नहीं करना।'' सोनार ने बहुत-बहुत सौगन्धें खाईं कि-''बाईजी! आप क्या कह रही हैं? अरे, कमाने-खाने के लिये तो सारा संसार पड़ा है। भला मैं आपकी और उसमें भी श्रीठाकुरजी की वस्तु चुराऊँगा तो हमारी कौन-सी गति होगी।'' बुढ़िया विश्वस्त होकर चली गयी। हजार सौगन्धें खाने पर भी सोनार ने कुछ सोना चुरा ही लिया और जब बुढ़िया आभूषण लेने आई तो युक्ति से तौल ठीक दिखा दी। परन्तु बुढ़िया ने जब घर जाकर तौला तो आभूषण कम पड़ा। लेकिन समस्या यह थी कि चूंकि सोनार ने तौल ठीक दिखला दी थी, अत: उससे तो कुछ कहा जा नहीं सकता था, बुढ़िया अपने लालजी पर ही बिगड़ पड़ी। बोलीं-''बताओ, सोना क्या हुआ? नहीं बताओगे तो मैं तुम्हें मारूँगी।'' बस, इसी चिन्ता से बुढ़िया सो गयी, स्वप्न में श्रीलालजी ने बताया कि-''सोनार ने ही सोना चुराया है और उसने उसे अंगीठी में छिपा रखा है। तुम दो-चार प्रतिष्ठित व्यक्तियों को लेकर जाओ, उसके सामने देखो। सोना मिल जायेगा। बुढ़िया ने ऐसा ही किया। सोना मिल गया। कहने का तात्पर्य यह है कि सोनार ऐसे ठग होते हैं, भला ये भजन क्या करेंगे?

दूसरा दृष्टान्त—एक सुनार से उसकी माँ ने कहा कि मेरे लिये इतने सोने की नथ बना दो। सोनार ने ईमानदारी से नथ बनाकर माँ को दे दिया। परन्तु इस बात की उसे बड़ी चिन्ता हुई कि मैंने कुछ सोना चुराया नहीं। सोनार इस चिन्ता से दिनोंदिन दुर्बल होने लगा। उसकी माँ समझ गई कि यह दुर्बल क्यों हो रहा है, अत: उसने उसके इलाज के लिये कहा-''लाला! मेरी यह नथ अभी ठीक नहीं बनी है, इसे फिर से गलाकर बना दो।'' अबकी बार उस सोनार ने नथ में से कुछ सोना निकाल ही लिया। इसके बाद से उसकी चिन्ता दूर हो गयी और वह स्वस्थ हो गया।

तीसरा दृष्टान्त—एक राजा ने सुना कि चाहे कितनी ही सावधानी क्यों न रखी जाय, सोनार सोना चुरा ही लेते हैं। परन्तु यह बात उसकी समझ में नहीं आयी कि देख-रेख रखने पर भला कैसे सोना चुरा सकता है। परीक्षा के लिए राजा ने एक सोनार को बुलाकर निश्चित तौल का एक सोने का हाथी बनाने को कहा। सोनार बनाने लगे।

राजा ने उन सब पर कड़ी निगरानी रखी। सोनार जितनी तौल का जैसा हाथी यहाँ बनाते उतनी ही तौल का वैसा ही घर पर जाकर पीतल का हाथी बनाते। जिस दिन काम पूरा होने वाला था, उस दिन एक सोनार ने अपनी पत्नी को सिखा दिया कि तुम चौड़े मुँह के मटके में दही लेकर बेचने के लिये निकलना, उसी में यह पीतल वाला हाथी डाल रखना। मैं सोने का हाथी साफ करने के बहाने से मटके में रखूँगा और पीतल वाला निकाल लूँगा। उसकी पत्नी ने ऐसा ही किया। उधर सोनारों ने राजा से कहा कि–''हुजूर! हाथी बनकर तैयार है, अब उसकी सफाई के लिये थोड़े दही की आवश्यकता है।'' इतने में सोनारिन 'दही, दही' कहती हुई उधर ही जा पहुँची। सोनार उसे बुलाकर दही का सौदा करने लगे। सोनारिन ने बड़ी नम्रतापूर्वक कहा–''हमारे महाराज का हाथी है, उसे साफ करने के लिये मैं दही का दाम नहीं लूँगी। आप तो इसी मटके में डालकर साफ कर लीजिये।'' सोनार राजी हो गये। राजा ने भी अनुमति दे दी। बस, उसने सोने का हाथी उसमें छोड़ दिया और पीतल वाला निकाल लिया। सफाई करके तौलकर पूरा का पूरा माल राजा को वापिस कर दिया। राजा ने अभिमान-पूर्वक कहा–''बताओ, इसमें तुमने कितना सोना चुराया?'' सोनारों ने हाथ जोड़कर कहा–''हुजूर! अन्यत्र तो हम लोग थोड़ा-बहुत ही चुराते हैं, परन्तु यहाँ तो आप हमारी परीक्षा लेने बैठे थे अतः कड़ी निगरानी रखे, तो मैंने भी इसमें सबका सब ले लिया। रत्तीभर भी आपका सच्चा माल इस हाथी में नहीं है।'' राजा अवाक् रह गया। सोनारों ने सब बात समझायी। ऐसे पक्के लोक चतुर-चालाक होते हैं सोनार। अतः इनमें प्रायः भक्त कम होते हैं। यदि कोई भक्त हो जाय तो उस पर विशेष भगवत्-भागवत कृपा समझनी चाहिये।

पायौ भक्तिसार—यहाँ भक्ति सार के दो अर्थ होंगे–१. समस्त साधनों में सारस्वरूपा भक्ति। यथा–''जहँ लगि साधन वेद बखानी। सबकर फल हरिभक्ति भवानी।।'' (रामा०) २. भक्ति का सार—क्या है, तो इस पर कहते हैं कि–''साधु सेवा उर धारिये।'' अर्थात् सन्तों की सेवा ही भक्ति का सार है। इसी से श्रीनाभाजी ने विशेषकर सन्त-सेवी भक्तों का ही स्मरण किया है। एक बात और वह यह है कि श्रीभगवत्कृपा का चमत्कार भी विशेषकर सन्त-सेवियों के यहाँ ही हुआ है। अतः सिद्ध होता है कि सन्त-सेवा ही ''भक्तिसार'' है। ''भूप के विवाह सुता०''-राजा ने अपनी कन्या के लिये आभूषण बनवाने के लिये राज्यभर के सोनारों को बेगार में बुलवाया। तब सभी सोनारों ने कहा–''हुजूर! हमारी जाति में तिलोकजी बहुत बढ़िया आभूषण बनाने का काम जानते हैं। हम लोग तो जैसा-तैसा बनाकर केवल पेटभर पालते हैं। कोई कलाकार नहीं हैं।'' तब राजा ने त्रिलोकजी को बुलवाया और आभूषण बनाने का काम इन्हें ही सौंपा।

आयो वही दिन कर छुयौ हूँ न इन नृप कौ प्रान विन बन मांझ छिप्यौ जायकै।
आये नर चारि पांच जानी प्रभु आंच गढ़ि लियौ सोदिखायौ सांच चले भक्तभायकै।।
भूपको सलाम कियो जेहरिकौ जोरौ दियौ लियोकर देखि नैन छोड़ैं न अघायकै।
भई रीझि भारी सब चूक मेटि डारी धन पायौ लै मुरारी ऐसे बैठे घर आयकै।।४०७।।

शब्दार्थ—गढ़ि=बनाकर। चूक=गलती। मेटि डारी=क्षमा कर दी।

भावार्थ—राजा की कन्या के विवाह का वह दिन भी आ गया, परन्तु इन्होंने आभूषण बनाने के लिये जो सोना आया था, उसे हाथ से स्पर्श भी नहीं किया। फिर इन्होंने सोचा कि समय पर आभूषण न मिलने से अब राजा मुझे जरूर मार डालेगा, अत: डर के मारे जंगल में जाकर छिप गये। यथा समय राजा के चार-पाँच कर्मचारी आभूषण लेने के लिये श्रीत्रिलोकजी के घर आये। भक्त के ऊपर संकट आया जानकर, उसके निवारण के लिये भगवान ने श्रीत्रिलोक भक्त का रूप धारण कर अपने संकल्प मात्र से आभूषण बनाकर राजकर्मचारियों को दिखाकर अपने वचन को सत्य कर दिया और फिर भक्त के प्रति प्रीतिमान् होने के कारण आभूषण को लेकर राजा के पास पहुँचे। वहाँ जाकर राजा को सलाम किये और पायजेब का जोड़ा दिये। राजा ने उसे हाथ में ले लिया। आभूषण को देखते ही राजा के नेत्र ऐसे लुभाये कि देखने से तृप्त ही नहीं होते थे, अत: आभूषण को छोड़ना ही नहीं चाहते थे। राजा श्रीत्रिलोकजी पर बहुत ही प्रसन्न हुआ। उनकी पहले की सब भूल-चूक माफ कर दी और उन्हें बहुत-सा धन पुरस्कार में दिया। श्रीत्रिलोक रूपधारी भगवान मुरारी इस प्रकार धन लेकर श्रीत्रिलोक भक्त के घर आकर विराजमान हुये।।४०७।।

व्याख्या—सो दिखायो सांच—इसके दो भाव-१. श्रीत्रिलोकजी ने जैसा कहा था, उसके अनुसार सचमुच आभूषण दिखा दिये। २. भक्त के वचन को सत्य किये। यह भगवान का विरद है। यथा-''चारों युग चतुर्भुज सदा भक्त गिरा साँची करन।।'' भगवान ने भक्त की बात सत्य करने के साथ-साथ अपने विरद को भी सत्य कर दिखाया। ''भूपको सलाम कियो'' -जैसे तिलोक भक्त राजा को सलाम करते, उसी अदब से भगवान ने राजा को सलाम किया। यही भगवान की भक्तवश्यता है। यथा-''वही भगवन्त सन्त प्रीति को विचार करै धरै दूरि ईशताहू पाण्डुन सों करी है।।'' (क०-९), दृष्टान्त-सेन भक्त का इनके लिये भगवान ने नाई का रूप धारण कर राजा को तेल लगाया था। (देखिये छ०-६३, क०-३०९, ३१०), ''भई रीझि भारी''-राजा ने आभूषण के बनावट की बड़ी बड़ाई की। तब श्रीत्रिलोक रूपीधारी भगवान बोले-''हुजूर! तभी तो देर लगी। लोग इस बात को समझते

नहीं हैं, झूठ-मूठ की शिकायत करते हैं।'' ''सब चूक मेटि डारी''-इनकी सब चूक यह थी कि जो कोई इनको गहना बनाने के लिये सोना-चाँदी देता, तो पहले तो ये किसी को समय पर तैयार करके नहीं देते थे, दूसरे कितनों का सोना-चाँदी बेंचकर सन्त-सेवा में लगा देते थे। तो जो लोग स्वयं भी भावुक होते, सन्तों में प्रीति रखते वे तो इनके इस व्यवहार से प्रसन्न होते, परन्तु अन्य लोग तो इन पर बहुत नाराज होते और जा-जाकर राजा के पास शिकायत करते। इस प्रकार राज-दरबार में इनकी बहुत शिकायतें पहुँची थीं। परन्तु राजा ने सब माफ कर दिया।

भोरही महोछौ कियौ, जोई मांगै सोई दियौ नाना पकवान रसखान स्वाद लागे हैं।
संतकौ सरूप धरि लै प्रसाद गोदभरि गये तहां 'पावै जू तिलोक गृह पागे हैं।।'
कौनसो तिलोक? अरे दूसरो तिलोक मैं न बैन सुनि चैन भयौ आये निसि रागे हैं।
चहल पहल धन भर्‌यौ घर देखि ढर्‌यौ प्रभुपद कंज जानौ मेरे भाग जागे हैं।।४०८।।

शब्दार्थ—रागे=प्रसन्न, प्रेमयुक्त हुए।

भावार्थ—श्रीत्रिलोकरूपधारी भगवान ने दूसरे दिन प्रात:काल ही महान् उत्सव किया। महोत्सव में जिसने जो माँगा उसे वही दिया। अत्यन्त रसमय, परम स्वादिष्ट अनेकों प्रकार के व्यंजन बने थे। साधु-ब्राह्मणों ने खूब पाया फिर भगवान एक सन्त का स्वरूप धारणकर झोली भर प्रसाद लिये हुए वहाँ गये, जहाँ श्रीत्रिलोक भक्त छिपे बैठे थे। श्रीत्रिलोकजी को प्रसाद देकर सन्त रूपधारी भगवान ने कहा-''श्रीत्रिलोक भक्त के घर गया था। उन्होंने ही खूब प्रसाद पवाया भी और झोली भी भर दी।'' श्रीत्रिलोक भक्त ने पूछा-''कौन त्रिलोक?'' भगवान ने कहा-''जिसके समान त्रैलोक्य में दूसरा कोई नहीं है।'' फिर भगवान ने पूरा विवरण बताया। सन्त रूपधारी भगवान के वचन सुनकर श्रीत्रिलोकजी के मन को शान्ति मिली। फिर श्रीभगवत्प्रेम में मग्न श्रीत्रिलोकजी रात्रि के समय घर आये। घर पर साधु-सन्तों की चहल-पहल तथा घर को धन-धान्य से भरा हुआ देखकर श्रीत्रिलोक जी का श्रीप्रभु के श्रीचरण-कमलों की ओर और भी अधिक झुकाव हो गया। वे समझ गये कि श्रीप्रभु ने मेरे ऊपर महान् कृपा की है, निश्चय ही मेरे किसी महान् भाग्य का उदय हुआ है।।४०८।।

व्याख्या—लै प्रसाद—इसके दो भाव हैं-१. श्रीठाकुरजी का प्रसाद लेकर। २. सन्तों की सीथ-प्रसादी लेकर। श्रीठाकुरजी श्रीत्रिलोक भक्त का रूप धारण किए हैं और श्रीत्रिलोकजी का यह नियम था कि वह सन्तों की सीथ-प्रसादी लेते थे। यदि आज

त्रिलोक रूपधारी भगवान सन्तों की सीथ-प्रसादी नहीं लेते, तो सन्तों को सन्देह होता कि भक्तजी की तो सीथ-प्रसादी में बड़ी निष्ठा थी, परन्तु आज नहीं ले रहे हैं। मालूम होता है राजा के द्वारा सम्मानित होने से अब सन्तों में भाव कुछ कम हो गया है, आदि। अत: भगवान ने श्री सन्तों की सीथ-प्रसादी ली। पुन: सन्तों की सीथ-प्रसादी की महिमा भी बहुत है। (देखिये पूर्वार्द्ध पृष्ठ-९९, ''सन्त-सीथ'' की व्याख्या) अत: भगवान भी उसके लिये ललचाते रहते हैं। आज मौका मिला है अत: सीथ-प्रसादी लेने से चूके नहीं। ''बैन सुनि चैन भयो''-इससे जनाया गया कि राजा के भय से श्रीत्रिलोकजी का मन बेचैन था। परन्तु जब सन्त रूपधारी भगवान ने बताया कि श्रीत्रिलोकजी पर राजा बहुत प्रसन्न हुआ आदि, तब इसे श्रीभगवत्कृपा विचारकर इन्हें चैन हुआ। छप्पय-९८ में आये हुये अन्य भक्तों के चरित्र-

श्रीलक्ष्मणजी—परम सन्त-सेवी श्रीलक्ष्मणजी सन्तों के रहने के लिये स्थान बनवा रहे थे। छत्त का पटाव हो गया था, परन्तु वह अभी परिपक्व नहीं हुआ था कि छत्त की आधारभूता एक बल्ली टूट गयी। लोगों को बड़ी चिन्ता हुई कि अब तो छत्त गिर जायेगी अथवा नीचे को धँस जायेगी। अब तो इसे फिर से बनवाना पड़ेगा आदि। श्रीलक्ष्मणजी ने सबको समझाया कि आप लोग चिन्ता नहीं करें, श्रीहरिकृपा से कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। सचमुच प्रात:काल जब सबने देखा तो बल्ली में टूटने का निशान भी नहीं था, छत्त ज्यों की त्यों दुरुस्त थी। सब लोग भगवान की इस प्रत्यक्ष कृपा पर आश्चर्य करने लगे।

श्रीलफराजी (श्रीलफरा श्रीगोपालदेवाचार्यजी)—आप श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीस्वामी हरिव्यासदेवाचार्यजी के कृपापात्र थे। आपका वास्तविक नाम तो श्रीगोपालदेवजी ही था किन्तु एकबार आपकी अत्यन्त लापरवाही देखकर श्रीगुरुदेवजी ने ''लफरा'' कहा था तो आगे चलकर वही नाम ही पड़ गया। वह प्रसंग इस प्रकार है-''आप स्वभाव से बड़े विरक्त एवं अलमस्त थे। एकबार श्रीगुरुदेवजी ने आपको एक आश्रम की देख-रेख का भार सौंपा। यद्यपि इस कार्य में आपकी अभिरुचि बिल्कुल नहीं थी फिर भी श्रीगुरुदेवजी के संकोचवश आप इन्कार नहीं कर सके। अत: कुछ दिन तक तो जैसे-तैसे आश्रम का कार्य सँभाले, फिर दस दिन के लिये तीर्थ यात्रा का बहाना बनाकर श्रीगुरुजी से आज्ञा लेकर आप आश्रम से निकले तो फिर लौटकर आश्रम पर गये ही नहीं। श्रीगुरुजी ने कुछ दिन तक तो इनकी प्रतीक्षा की परन्तु जब नहीं आये तो उन्होंने प्रसंग चलने पर इन्हें ''लफरा'' कहा। वही नाम पड़ गया।

एकबार ये घूमते-फिरते एक सन्त के स्थान में पहुँचे। वे सन्तजी सन्तों की खूब सेवा करते थे। परन्तु उस दिन वे बड़े उदास थे। श्रीलफराजी ने उदासी का कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि यहाँ का राजा एक दुष्ट यवन है, वह आश्रम को हड़पना चाहता है, इसीलिये मैं बहुत चिन्तित हूँ। श्रीलफराजी ने उन सन्तजी से कहा कि आप आश्रमवासी सभी सन्तों को लेकर कहीं अन्यत्र चले जाइये, मैं अकेले उस दुष्ट को देख लूँगा। आपकी बात मानकर वे सन्त आश्रम छोड़कर कहीं चले गये। आप अकेले वहाँ रह गये। उसी दिन यवनराज ने आश्रम के सभी सन्तों को गिरफ्तार करने के लिये सिपाहियों को भेजा। आश्रम में और कोई तो मिला नहीं, सिपाहियों ने श्रीलफराजी को ही पकड़कर नजरबन्द कर कारागार में डाल दिया। उसी रात को यवनराज को स्वप्न में मुहम्मद साहब ने आदेश दिया कि-"तुम शीघ्राति-शीघ्र भक्तराज श्रीलफराजी को कारागार से मुक्त कर दो अन्यथा तुम्हारा सर्वनाश हो जायेगा।" फिर क्या था, प्रात:काल होते ही वह दुष्ट यवनराज नंगे पाँव दौड़ा हुआ आपके पास गया और चरणों में पड़कर अपराध के लिये बहुत-बहुत क्षमा-याचना की। श्रीलफराजी ने क्षमा प्रदान करते हुए उसे साधु-सेवा का उपदेश दिया। आपके उपदेश से प्रभावित होकर यवनराज ने बहुत-सी जमीन साधु-सेवा निमित्त आश्रम को दिया।

श्रीकुम्भनदासजी—आपका प्रादुर्भाव श्रीगोवर्धन के निकट जमुनावते ग्राम में वि०सं०१५२५ में कार्तिक कृष्ण एकादशी को हुआ था। आप जाति के गौरवा क्षत्रिय थे। जनश्रुति के अनुसार कुम्भ संक्रान्ति के पुण्य पर्व पर तीर्थयात्रा के समय एक महात्मा ने इनके पिता को पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद दिया था। उसी के संस्मरण में इनका "कुम्भनदास" नाम रखा गया। बचपन से ही इनकी सात्विक प्रवृत्ति थी। कृषि के द्वारा कुटुम्ब का निर्वाह होता था। 'जैत गांव' के पास 'बहुलावन' में इनकी ससुराल थी। पत्नी स्वभावानुकूल थी अत: गृहस्थाश्रम इनके भजन-साधन में प्रतिबन्धक नहीं था। वि० १५५० के लगभग श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी ब्रज की परिक्रमा करते हुए जब श्रीगिरिराज पधारे तो इनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बहुत से लोग शिष्य बन गये। यतीपुरा में श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीगोवर्धननाथजी की प्रतिष्ठा की और उनकी सेवा का विस्तार किया। श्रीमहाप्रभुजी के प्रभाव से आकर्षित होकर श्रीकुम्भनदासजी भी पत्नी सहित शिष्य हो गये। कहते हैं कि शरणागत होने पर श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीकुम्भनदासजी एवं इनकी पत्नी से अभीप्सित वर माँगने को कहा। सरल हृदया पत्नी ने पुत्र की याचना की। श्रीमहाप्रभुजी ने मुस्कुराकर कहा-"धैर्य धरो, तुम्हारे सात पुत्र होंगे। पत्नी बड़ी प्रसन्न हुई। परन्तु श्रीकुम्भनदासजी पत्नी पर नाराज हुये

कि "तुमने भगवद्भक्ति न माँगकर आचार्य महाप्रभुजी से लौकिक वस्तु क्यों माँगा?" उसने कहा कि-"हमें जो रुचा वह हमने माँगा, अब आपको जो रुचे वह आप माँग लीजिये।" तब श्रीकुम्भनदासजी ने इस पद द्वारा अपनी अभिलाषा प्रकट की है-"श्रीवल्लभ की बलिहारी। सबहिन को वचनामृत सींचत कहि अन्तर दुःखहारी।। नवनिकुंज मन्दिर की लीला विहरत नित्य विहारी। कुम्भनदास प्रभु गोवरधन धर ह्वैहों दासी तिहारी।।" श्रीआचार्य महाप्रभुजी के अनुग्रह से श्रीकुम्भनदासजी को भगवल्लीलाओं की स्फूर्ति होने लगी। कवि हृदय श्रीकुम्भनदासजी संगीत विद्या में बड़े प्रवीण थे और कण्ठ भी बड़ा मधुर था, अतः श्रीमहाप्रभुजी ने इन्हें श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा सौंपी। ये नित्य नई पद रचना और गायन के द्वारा श्रीप्रभु को रिझाते और उनके सुमधुर मुखारविन्द का दर्शन कर अपने को परम कृतार्थ मानते।

एकबार एक दुष्ट यवन ने पश्चिम दिशा से आकर ब्रज क्षेत्र में बहुत उपद्रव मचाया। वह खासकर मन्दिरों को लूटता और मूर्तियों को तोड़ता-फोड़ता था। इस प्रकार लूटपाट करता हुआ वह यवन बढ़ते-बढ़ते श्रीगिरिराजजी के समीप तक आ गया। पाँच कोस दूर उसका पड़ाव पड़ा हुआ था। उस समय श्रीनाथजी की सेवा में श्रीसद्दू पाण्डे, श्रीमानिकचन्दजी श्रीरामदासजी भितरिया और श्रीकुम्भनदासजी रहते थे। ये लोग आपस में विचार ही कर रहे थे कि क्या किया जाय, इतने में श्रीनाथजी स्वयं बोले पड़े कि-"टोंड़ को घनो" बहुत अच्छा एकान्त स्थल है, सद्दू पाण्डे के भैंसे पर चढ़कर वहीं भाग चलेंगे। वहाँ कोई पहुँच नहीं पायेगा। यह बात तै हो गई। श्रीठाकुरजी भैंसे पर चढ़कर चले। चारों सेवक सँभालते हुए चल रहे थे। मार्ग में जाते समय सबको श्रीनाथजी का दर्शन नहीं होता था। केवल भक्तों के दृष्टिपथ में ही आते थे। भैंसे पर सवार होने से श्रीनाथजी को तो मार्ग की कोई कठिनाई नहीं जान पड़ी, परन्तु सेवकों को बहुत काँटे लगे, झाड़ियों में उलझकर वस्त्र फट गये, शरीर छिल गया। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने पर एक चबूतरे पर श्रीनाथजी को विराजमान कराया गया। थोड़ा सा भोग रखा गया तो श्रीठाकुरजी ने आज्ञा दी कि सम्पूर्ण सामग्री भोग में धर दो। इन लोगों ने संकेत भी किया कि जै-जै सामग्री तो बालभोग, राजभोग, व्यालू-तीनों समय के लिये है। यदि एक ही बार सबका भोग लग जायेगा तो फिर क्या भोग लगेगा? श्रीठाकुरजी ने कहा-"अभी तो सब लगा दो फिर बाद में देखा जायेगा। ऐसा ही किया गया। फिर श्रीठाकुरजी ने कहा-"अब आप सब लोग यहाँ से थोड़ी देर के लिये हट जाइये। भक्त लोग समझ गये कि श्रीठाकुरजी कुछ लीला करने वाले हैं। अतः कुछ दूर जाकर एक झाड़ी में छिपकर बैठ गये, तो क्या देखते हैं कि साक्षात् श्रीजी पधारती हैं, साथ में विविध दिव्य व्यंजन लिए। श्रीजी

अपने श्रीकर-कमल से श्रीठाकुरजी को भोग पवाया। भक्तजन ओट से दर्शन कर निहाल हो गये। श्रीठाकुरजी ने श्रीकुम्भनदासजी को पद गान की आज्ञा दी, तो इन्होंने झुँझलाकर यह पद गाया-''लाल तोहिं भावत टोंड़ को घनौ। काँटे बहुत गोखरू लागे फाटत है सब तनौ।। आवत जावत बेलि निवारै बैठत है जहाँ एक जनौ। सिंहै कहा लोखरी को डरु तै छाड़ि दियौ भौन अपनौ।। तब बूडत ते राखि लिये हैं सुरपति तो तृनहूं नगन्यौ। कुम्भनदास प्रभु गोवरधनधर वह कौन ढेढिनी रांड को जन्यो।।'' यह पद सुनकर श्रीठाकुरजी हँस गये। इसके बाद श्रीकुम्भनदासजी ने और भी बहुत से पद गाये। इसके बाद श्रीठाकुरजी ने आज्ञा दी कि अब उपद्रव शान्त हो गया है, अतः चलो वहीं चलें। फिर पूर्ववत् ही भैंसे पर चढ़कर आये और मन्दिर में आ विराजे।

एकबार एक गुनी गायक ने अकबर के दरबार में श्रीकुम्भनदासजी का एक पद गाया। बादशाह मुग्ध हो गया पद सुनकर और ललक उठा उसका मन श्रीकुम्भनदासजी के श्रीमुख से सुनने को। फिर क्या था, तत्काल शाही आदेश हुआ कि जैसे हो तैसे उन महागायक को दरबार में लाया जाय। बादशाह के संकेत पर रथ, घोड़ा, पालकी आदि विविध सवारियाँ इन्हें लेने के लिये भेजी गयीं, परन्तु ये तो अपने स्वाभाविक स्वरूप में वह फटी पाग, पुरानी अङ्गरखी, जीर्ण-शीर्ण अंगोछी, घुटने के ऊपर तक ही कटि में लपेटी धोती, टूटी पनहियाँ और टेढ़ी लकुट लिए हुये पैदल ही प्रस्थान कर दिये फतेहपुर सीकरी के लिये। सम्बल था श्रीहरि स्मरण। यद्यपि अकबर ने दरबार को सजाने में कोई कसर नहीं रखी थी, परन्तु श्रीनाथजी की सभा के सभासद श्रीकुम्भनदासजी को उसका दरबार तृणवत् तुच्छ लगा। बादशाह ने यथोचित् स्वागत करने में भी अपनी ओर से पूरी कोशिश की, परन्तु भक्तराज के मन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। गायकों के विविध गान के बाद श्रीकुम्भन दासजी से गाने का अनुरोध किया गया। लेकिन वही समय चूंकि श्रीगोवर्धननाथजी की सेवा का था, अतः इनके भावुक मन में बादशाह को संगीत सुनाने में कोई उल्लास नहीं हुआ बल्कि झुँझलाहट हद दर्जे की हुई और वही झुँझलाहट तानपूरे के स्वर में झंकृत हो उठी और मुँह से पद निकला-''भगत को कहा सीकरी काम। आवत जात पन्हैयां टूटी विसरि गयो हरिनाम।। जाको मुख देखत दुख उपजै ताकों करन परी परनाम। कुम्भनदास लालगिरिधर बिनु सब झूठौ धनधाम।। संगीत की स्वर लहरी में तो बादशाह का मन निश्चय ही तरंगायित हो उठा, परन्तु जब बादशाह ने पद के तात्पर्य की ओर ध्यान दिया तो मानो वह कठोर चट्टान से जा टकराया हो। लेकिन बादशाह होकर भी वह विवश था इस परम अकिंचन के आगे। क्योंकि

छ० ९८, क० ४०८)

इन्हें न तो मान-सम्मान, धन-दौलत का लोभ ही था और न तो प्राण जाने का भय ही था। अत: उसने सादर इन्हें सिर झुकाया और ससम्मान विदा कर दिया।

श्रीकुम्भनदासजी का परिवार बड़ा था। सात पुत्र, उनकी सात पत्नियाँ, एक विधवा भतीजी तथा स्वयं दम्पति कुल सत्रह प्राणी थे, मामूली सी खेती थी। अत: गरीबी हमेशा बनी ही रहती थी। श्रीठाकुरजी से इनकी गरीबी देखी नहीं जाती थी। भक्त रांका-बांका की तरह इनसे भी भगवान हार गये। ये प्रभु से कुछ भी लेना नहीं चाहते थे। तब श्रीठाकुरजी ने राजा मानसिंह को प्रेरित किया। राजा मानसिंहजी श्रीनाथजी का दर्शन करने आये। उस समय श्रीकुम्भनदासजी श्रीनाथजी को पद सुना रहे थे। सुनकर राजा मानसिंहजी भी बहुत प्रसन्न हुये। श्रीकुम्भनदासजी की बाह्य दशा देखकर मानसिंहजी को समझते देर नहीं लगी कि ये बहुत गरीब हैं। इनकी आत्मतुष्टि का तो उन्हें पता नहीं था। उन्होंने निश्चय किया कि कल इनके घर पर जाकर कुछ सेवा करूँगा। दूसरे दिन प्रात:काल जब श्रीकुम्भनदासजी स्नान करके तिलक-स्वरूप करने जा रहे थे, उसी समय श्रीठाकुरजी आये और उनकी गोद में बैठकर बोले-"कुम्भनदासजी! हम आपसे एक बहुत बढ़िया बात कहेंगे।" इन्होंने कहा-"प्रभो! कहिये, क्या बात कहनी है?" इतने में राजा मानसिंह आ गये। ठाकुरजी अन्तर्धान हो गये। श्रीकुम्भनदासजी मन ही मन बहुत झुँझलाये कि यह कहाँ से आ गये, श्रीठाकुरजी चले गये "न जाने का कहतो।" इनको यह धुन सवार हो गयी। बात-बात में बीच में बोल पड़ते-"न जाने का कहतो।" फिर सोचे कि अब तिलक-स्वरूप ही कर लूँ। अत: भतीजी से बोले-"बेटी! जरा आसन और दर्पण तो लाना।" उसने इधर-उधर ढूँढ़कर कहा -"पिताजी! आसन तो पड़िया खा गयी और दर्पण पी गयी। आप नेक रुकें तो मैं अभी हाल नये आसन और दूसरे दर्पण की व्यवस्था किये देती हूँ।" राजा मानसिंह ने चाचा-भतीजी का यह संवाद सुना तो अवश्य, परन्तु अर्थ कुछ भी समझ में नहीं आया। थोड़ी देर बाद भतीजी तृण का आसन और मिट्टी की एक कुण्डी में जल भरकर ले आयी। श्रीकुम्भनदासजी ने उस तृणासन पर बैठकर जल में ही मुँह देखकर तिलक किया। मानसिंह ने अब कुछ-कुछ आसन खाने और आरसी पीने का अर्थ समझा और पूर्ण स्पष्टीकरण के लिये श्रीकुम्भनदासजी से पूछा भी, तो इन्होंने बताया कि ऐसा ही तृण का आसन था, अत: उसे पड़िया खा गयी और इसी प्रकार कुण्डी में भरा हुआ जल था, जिसमें मुँह देखकर तिलक करता था, उसे वह पी गयी।

अब राजा मानसिंहजी को इनकी गरीबी का पूर्ण पता चला। राजा ने तुरन्त मणिजटित आरसी भेंट किया। परन्तु श्रीकुम्भनदासजी ने यह कहते हुये उसे स्वीकार नहीं किया कि-

"मैं इसको रखूँगा कहाँ? फूस की झोपड़ी में मणिजटित दर्पण शोभा नहीं देता है, यह तो महलों में ही शोभा देता है। पुनः हमें दर्पण की रखवाली की चिन्ता लग जायेगी तो भगवान का भजन छूट जायेगा।" राजा मानसिंह एक हजार मुहरें देने लगे, उन्हें भी नहीं लिये और बोले-"खेती से ही गुजर हो जाता है।" जमुनावतो गांव का पट्टा लिखने लगे, वह भी अस्वीकार कर दिये। बोले-"किसी ब्राह्मण को दे दो, मैं दान लेने का अधिकारी नहीं हूँ।" राजा ने कहा-"आप जहाँ से सौदा लेते हैं, वह दुकान बता दीजिये, मैं उसे लिखित आदेश दे दूँगा कि वह आपको सब सामान बिना मूल्य दिया करे। दाम सरकारी कोष से चुका दिया जायेगा।" श्रीकुम्भनदासजी बोले-"जैसा मैं हूँ वैसे ही मेरे दुकानदार भी हैं।" राजा ने बहुत आग्रह किया तो बताये कि-"ये करील और बेर ही हमारे मोदी हैं। गर्मी के दिनों में करील पर्याप्त टेंटी (करील का फल) देते हैं और ठण्ड के दिनों में बेर अपने फलों से हमें समृद्ध बना देते हैं।" राजा मानसिंहजी इनकी इस अकिंचनता से दङ्ग रह गये। बोले-"आखिर कुछ सेवा तो मुझे बताइये।" इन्होंने कहा कि-"अब फिर कभी मेरे यहाँ मत आना।" मानसिंह मन ही मन इन महाभागवत का पद-वन्दन करते हुए सोचने लगे कि मैंने विरक्त त्यागी तो बहुत देखे, परन्तु गृहस्थ त्यागी तो आज ही देखा है। पुनः माया के भक्त तो हमने बहुत देखे, पर श्रीहरि के सच्चे भक्त तो आज ही देखे। श्रीकुम्भनदासजी के चरणों में माथा टेककर राजा मानसिंह चले गये। श्रीकुम्भनदासजी को पुनः श्रीठाकुरजी की बात याद आ गयी कि-"न जाने का कहतो।" इतने में श्रीठाकुरजी भी आ गये। इन्होंने आते ही पूछा-जै-जै, आप कौन-सी बढ़िया बात कह रहे थे? श्रीठाकुरजी ने झुंझलाकर कहा-कहना क्या था, यही कहता कि-"राजा मानसिंह जो भेंट दें उसे स्वीकार कर लेना। सो तो आपने कुछ लिया ही नहीं।" श्रीकुम्भनदासजी ने कहा-"जै-जै, आपको पा लेने के बाद भी फिर क्या कुछ लेना-देना शेष रह जाता है?" श्रीठाकुरजी प्रेम में भरकर श्रीकुम्भनदासजी की गोद में विराजमान हो गये।

एकबार श्रीकुम्भनदासजी की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी ने निश्चय किया कि जब ये भगवान से कुछ नहीं लेते तो भला गुरु का द्रव्य कब स्वीकार करने लगे? अतः तीर्थयात्रा के ब्याज से धनी-मानी वैष्णवों के द्वारा इनकी सहायता कराना चाहिये। अतः सं० १६३१ में श्रीद्वारिका यात्रा में साथ चलने को कहा। श्रीकुम्भनदासजी श्रीगुसाईंजी की आज्ञा टाल नहीं सके। राजभोग करके प्रस्थान हुआ। श्रीगिरिराजजी के समीप में ही अप्सराकुण्ड पर सायंकालीन विश्राम हुआ। अभी श्रीनाथजी के यहाँ से चले एक पहर भी नहीं हुआ कि इतने

में ही श्रीकुम्भनदासजी को वियोग व्याप गया। हृदय भी व्याकुल हो गया, आँखों से झर-झर अश्रुपात होने लगा और व्यथित वाणी बोल उठी-

कितेक दिन ह्वै जु गए बिनु देखें।
तरुन किशोर रसिक नन्दनन्दन कछुक उठति मुख रेखें।।
वह चितवनि वह हास मनोहर वह नटवर वपु भेखें।
वह सोभा वह कांति वदन की कोटिक चन्द विशेषें।।
स्यामसुन्दर संग मिलि खेलन की आवति जियरा अपेखें।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु जीवन जनम अलेखें।।

इनकी इस विरह-व्यथा से द्रवित होकर श्रीविट्ठलनाथजी ने यह सोचकर कि प्रभु विरह में जैसी इनकी दशा हो रही है, वैसी ही दशा इनके विरह में प्रभु की होगी। पुनः श्रीनाथजी की सेवा में लौट जाने की आज्ञा दी। श्रीकुम्भनदासजी अत्यन्त आनन्द में भरे हुए आकर श्रीप्रभु-चरणों में प्रणाम किये और यह पद गाये-

जो पै चोंप मिलनकी होइ।
तौ कत रह्यो परैं सुनि सजनी लाख करै जो कोइ।।
जो पै विरह परस्पर व्यापै तौ इह बात बनै।
डर अरु लोकलाज अपकीरति एकौ चित न गनै।।
कुंभनदास जो मन मानै तौकत जिय और सुहाइ।
गिरिधरलाल रसिक बिनु देखें छिनु भर कलप विहाइ।।

एकबार श्रीवृन्दावन के रसिक महानुभाव जब यह सुने कि श्रीकुम्भनदासजी से श्रीठाकुरजी की नित्य अपरोक्ष वार्ता होती है तो वे लोग इनसे मिलने के लिये जमुनावते गये। बड़ा ही आनन्ददायक था वह रसिकों का सम्मिलन। श्रीवृन्दावन के रसिक समाज ने इनसे श्रीस्वामिनी राधाजी का सुयश गान करने को कहा तो इन्होंने यह पद गाया-

कुँवरि राधिका! तू सकल सौभाग्य सींव, या बदन पर कोटि-सत चन्द्र वारौं।
खंजन कुरंग-सत कोटि नैंननि-ऊपर वार नें करत जिय में न विचारौं।।
कदलि सत-कोटि जंघनि-ऊपर, सिंह सत-कोटि कटि पर न्यौछावरि उतारौं।
मत्त गज कोटि-सत चाल पर, कुंभ सत-कोटि इनि कुचनि पर वारि डारौं।।
कीर सत-कोटि नासा ऊपर, कुंद सत-कोटि दसननि ऊपर कहि न पारौं।

पक्व किंदूर बंधूक सत-कोटि अधरनि-ऊपर बारि रुचि गर्व टारौं।।
नाग सत-कोटि बेनि ऊपर, कपोत सत-कोटि ग्रीव पर वारि दूरि सारौं।
कमल सत-कोटि कर-युगल पर वारने, नाहिन कोउ लोक उपमा जुधारौं।।
'दास कुम्भन' स्वामिनी-सुनख सिख अङ्ग अद्भुत सुठान कहाँ लगि संभारौं।
लाल गिरिवर धरन कहत मोहि तौलों सुख, जौलौं-उह रूप छिनु-छिनु निहारौं।।

श्रीकुम्भनदासजी के सात पुत्रों में छठे पुत्र श्रीकृष्णदासजी थे। वे श्रीठाकुरजी की गायों की सेवा किया करते थे। वे गायों की रक्षा करते हुए सिंह के द्वारा आहत होकर भगवान की नित्य लीला में सम्मिलित हो गये। जब यह समाचार श्रीकुम्भनदासजी को मिला तो मूर्च्छित हो गये। विविध उपचार करने पर भी होश में नहीं आये। तब लोग आपस में चबाव करने लगे कि ये तो बहुत बड़े भक्त हैं, फिर भी इनको इतना पुत्र शोक व्याप गया है कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। सबने यह समाचार गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी से कहा। चबाव की बात सुनकर श्रीगोसाईं ने कहा कि यह बात नहीं, उन्हें और ही शोक है, देखो अभी समाधान हुआ जाता है। यह कहकर श्रीगोसाँईंजी श्रीकुम्भनदासजी के समीप जाकर कान में कहे- "कुम्भनदासजी! कल सबेरे श्रीनाथजी का दर्शन करने आना, हम आपको दर्शन करा देंगे।" बस इतना सुनते ही ये उठ बैठे और श्रीगोसाँईंजी को साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम कर बोले- "महाराज! आपके बिना मेरे अन्तःकरण को कौन समझ सकता है।" मूर्च्छा का हेतु पूछने पर बताये कि-"मुझे इस बात का महान दुःख था कि हमारे घर मरणाशौच हो गया है, अब हम मन्दिर में कैसे जायेंगे और श्रीठाकुरजी का दर्शन कैसे करेंगे?" श्रीगोसाईंजी ने कहा- "आपका दर्शन करके तो औरों का सूतक छूट जाता है, शोक-मोह दूर हो जाता है। वे भगवदीय हो जाते हैं, फिर भला आपको क्या सूतक लग सकता है? और क्या पुत्र मोह हो सकता है?" तब सबकी आँखें खुलीं।

एकबार गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी के पुत्र श्रीगोकुलनाथजी एवं श्रीबालकृष्णजी ने इनसे ठाकुर श्रीनवनीत प्रियजी का दर्शन करने के लिये श्रीगोकुल चलने का अनुरोध किया। ये संकोचवश उनका अनुरोध टाल तो नहीं सके परन्तु प्रातःकाल से लेकर शयन पर्यन्त तक की श्रीनाथजी की सेवा के उपरान्त रात्रि में चलने को राजी हुये। तदनुसार रात्रि के समय ही भगवच्चर्चा करते हुये चले। श्रीयमुना तट पर पहुँचते-पहुँचते सबेरा हो गया। संयोग की बात उस दिन श्रीविट्ठलनाथजी सबेरे नाव से श्रीगोकुल से श्रीयमुना के इस पार आये हुये थे। प्रातःकाल श्रीगुसाईंजी का दर्शन पाकर ये बड़े आनन्दित हुये। फिर अचानक

इनको याद आई कि इस समय तो मैं श्रीठाकुरजी के जागरण के पद गाता हूँ तब वे जागते हैं। बस, तुरन्त वहाँ से श्रीगोवर्धन के लिये भाग खड़े हुये। संग के लोगों ने कुछ दूर तक पीछा किया परन्तु कोई भी इन्हें उस प्रेमावेश में पकड़ने में समर्थ नहीं हो सका। ये भागे-भागे श्रीगोवर्धन आये। आकर देखे तो श्रीठाकुरजी अभी शयन ही कर रहे थे, जबकि रोज की अपेक्षा आज बहुत देर हो गई थी। इन्होंने जागरण के पद गाये तब श्रीठाकुरजी जागे। इतने में श्रीगुसाईंजी घोड़े पर चढ़कर श्रीगोकुल से श्रीगोवर्धन आ गये। पूजा में देर देखकर कारण पूछे तो पुजारी ने बताया कि-''महाराज! आज ऐसी कुछ लीला हुई कि जब हम स्नान करके अपरस में सेवा में जाने लगते तो किसी न किसी से छू जाते। इस प्रकार चार बार हमें लौट-लौटकर स्नान करना पड़ा। इसी से देर हो गयी। श्रीगुसाईंजी समझ गये कि यह सब श्रीकुम्भनदासजी के भाव की रक्षा करने के लिये श्रीठाकुरजी ने ही लीला की है।

एकबार श्रीकुम्भनदासजी पारासौली में अपने खेत पर थे। श्रीठाकुरजी इनके आगे ही विविध क्रीड़ा कर रहे थे। इतने में उत्थापन का समय हो गया। तब श्रीकुम्भनदासजी वहाँ से उठकर श्रीगिरिराजजी को चलने को प्रस्तुत हुये। श्रीठाकुरजी ने पूछा-''कहाँ जा रहे हो?'' इन्होंने कहा-''उत्थापन का दर्शन करने।'' श्रीठाकुरजी ने कहा-''मैं तो यहीं हूँ, फिर वहाँ किसका दर्शन करने जाते हो?'' ये बोले-''जै-जै, यह तो आपकी महान कृपा है जो दर्शन दे रहे हैं, परन्तु आपका क्या ठिकाना? अभी हैं, अभी भाग जायें, तो हमारा क्या वश?'' और मन्दिर में आप श्रीआचार्य महाप्रभुजी के द्वारा पधराये गये हैं, अतः वहाँ से तो आप टस से मस हो नहीं सकते हैं, अतः वहाँ जाने पर तो दर्शन होकर ही रहेगा। यहाँ दर्शन आपकी मर्जी के अधीन है, और वहाँ श्रीआचार्य कृपाश्रित है। मुझे तो आपसे अधिक श्रीआचार्य कृपा का भरोसा है। श्रीआचार्य कृपा करें तो आपकी मजाल नहीं कि दर्शन न दें। दूसरी बात यह है कि मन्दिर में विराजमान आपके दर्शन के प्रताप से ही आप खेलते हुये दर्शन दे रहे हैं। चौथी बात यह कि वहाँ सभी वैष्णव गुरुजनों के दर्शन, सम्भाषण का लाभ होता है। अतः मैं तो अवश्य उत्थापन का दर्शन करने जाऊँगा।'' इनके इस अगाध प्रेम को देखकर श्रीठाकुरजी इनके हृदय से लग गये।

श्रीकुम्भनदासजी से प्रसङ्ग वशात् यदि कोई पूछता कि-''आपके कितने पुत्र हैं? तो ये उत्तर देते कि मेरे डेढ़ पुत्र हैं और इसका हिसाब यों देते कि कृष्णदास मेरा आधा बेटा है, क्योंकि वह केवल श्रीठाकुरजी की स्वरूप-सेवा (गोचारण) मात्र करता है। चतुर्भुजदास मेरा पूरा बेटा है क्योंकि वह प्रभु की नाम-सेवा और स्वरूप-सेवा (कैंकर्य) दोनों में निष्ठा

रखता है। इस प्रकार मेरे डेढ़ पुत्र हुये। शेष पाँच को तो श्रीभगवद्विमुख होने से मैं पुत्र मानता ही नहीं। एकबार की बात है, गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी का जन्मदिन था। वे श्रीगोकुल गये हुये थे। श्रीठाकुरजी ने भक्तों से कहा कि कल गुसाईंजी का जन्मदिन है, जन्मोत्सव मनाना चाहिये। वे जब हमारा प्राकट्य उत्सव मनाते हैं तो हमें भी उनका मनाना अनिवार्य है। भक्तों ने पूछा–''जै–जै, तो कल क्या भोग लगना चाहिये?'' श्रीठाकुरजी ने कहा–''जलेबी का भोग लगना चाहिये।'' फिर तो भक्तों ने गोष्ठी की। चन्दा हुया। श्रीसद्दू पाण्डेजी ने कहा–''हम घी, मैदा देंगे।'' शेष भक्तों ने कहा–''शक्कर का इन्तजाम हम लोग करेंगे। श्रीकुम्भनदासजी ने घर जाकर दो पड़िया और दो पड़वा बेंचे। पाँच रुपया मिला, लाकर सद्दू पाण्डे के हवाले कर दिये और लोगों ने भी एक–एक, दो–दो रुपया दिया। खूब जलेबी बनीं। प्रातःकाल तोरण–बन्दनवार से मन्दिर सजाया गया। राजभोग में जलेबी का भोग लगा। श्रीठाकुरजी की आज्ञा से श्रीकुम्भनदासजी ने श्रीगुसाईंजी की बधाई का पद गाया। खूब आनन्द हुआ। दोपहर को गोकुल से श्रीगुसाईंजी आये, द्वार पर बँधा हुआ तोरन–बन्दनवार देखकर तथा भोग में जलेबी का भरा टोकना देखकर पूछे–''आज कौन–सा उत्सव है?'' सेवकों ने बताया। तत्पश्चात् सबने प्रसाद ग्रहण किया। फिर श्रीगुसाईंजी ने सभी सेवकों को बुलाकर पूछा कि–''सामान कहाँ से आया था?'' तब श्रीसद्दूजी पाण्डे ने सब विवरण सुनाया। श्रीकुम्भनदासजी का योगदान सुनकर एवं इनकी आर्थिक स्थिति विचारकर श्रीगुसाईंजी का हृदय भर आया।

सं० १६०२ के लगभग जब श्रीविट्ठलनाथजी ने ब्रजभाषा के अष्टछाप की स्थापना की, तब उसमें श्रीकुम्भनदासजी एवं इनके पुत्र श्रीचतुर्भुजदासजी को भी सम्मिलित किया गया। अष्टछाप के कवियों में श्रीकुम्भनदासजी सबसे अधिक दीर्घजीवी थे। जीवन के ११५ वर्ष श्रीहरिसेवा में व्यतीत कर सं० १६४० के लगभग एकदिन नित्यसेवा का लाभ लेते हुए ये भौतिक शरीर का परित्याग कर श्रीप्रभु की नित्यलीला में लीन हो गये। अन्त समय में इन्होंने यह पद गाया था–''रसिकनी रसमें रहति गढ़ी। कनक बेलि वृषभानुनन्दिनी स्याम तमाल चढ़ी।। विहरतलाल संगराधा के कौने भाँति गढ़ी। कुम्भनदास लाल गिरिधर संग रति रस केलि बढ़ी।।''

श्रीखेमदासजी—प्राणिमात्र का क्षेम–कुशल चाहते हुये श्रीखेमदासजी बड़े भाव से सन्त–सेवा करते थे। एकबार सन्तों के आने पर एक वैश्य के यहाँ से सीधा–सामान लेकर आ रहे थे, तो मार्ग में एक ब्राह्मण ने व्यंग्य किया–''माला पहन लिये, तिलक लगा लिये, बस, बाबाजी बन गये। कुछ करना न धरना, फोकट का माल खाते हैं और मटरगश्ती

करते हैं। अरे, सच्चे साधु तो ये बैल हैं। इन्हें जो देवो, जितना देवो, उतना ही खाते हैं और खूब हल खींचते हैं, भार ढोते हैं।'' श्रीखेमदासजी ने मुस्कुराकर कहा-''तुम ठीक कहते हो। देखो, तुम्हारा एक बैल चोरी चला गया है, यदि मैं उसके बदले तुम्हारे हल में चलूँ तो तुम मुझे सच्चा साधु मानोगे।'' उसने कहा-''हाँ, यदि आप भी बैल का सा परोपकार करें तो मैं मान लूँगा कि आप भी सच्चे सन्त हैं।'' श्रीखेमदासजी सन्तों की व्यवस्था करके उस ब्राह्मण के हल में जुतकर बैल के साथ हल खींचने लगे। भगवान से भक्त का यह महाश्रम देखा नहीं गया। तुरन्त प्रभु प्रेरणा से उस ब्राह्मण का चोरी गया बैल वहाँ आ खड़ा हुआ। ब्राह्मण प्रसन्न होकर उस बैल को पकड़ने गया तो उसने उसे सींग पर उठाकर दूर फेंक दिया और श्रीखेमदासजी के पास जाकर इनका चरण चाटने लगा। यह देखकर ब्राह्मण समझ गया कि श्रीखेमदासजी सच्चे साधु हैं। वह इनके चरणों में पड़कर बार-बार क्षमा-याचना करने लगा। श्रीखेमदासजी ब्राह्मण को क्षमा-दान देते हुए सन्त-सेवा का उपदेश दिये। ब्राह्मण भी भक्त हो गया।

श्रीहरिदासजी—आप श्रीअयोध्या धाम में निवास करते थे। भगवान श्रीराम के अनन्य भक्त थे। ''यथा लाभ सन्तोष'' की वृत्ति को अपनाये हुये श्रीहरि इच्छा से जो कुछ भी अपने आप सहज रूप से प्राप्त हो जाता, उसी से सन्त-सेवा करते थे। एकबार सन्तों की बहुत बड़ी जमात इनके स्थान पर आयी। कुटी में एक छटांक भी सीधा-सामान नहीं था। ये बड़े चिन्तित हुये। तब इनकी चिन्ता दूर करने के लिये प्रभु ने अपने श्रीचरणकमल से पाँच मुहरें प्रकट कर दीं। घबड़ाये हुए जब ये प्रभु के समक्ष चिन्ता निवारणार्थ प्रार्थना करने गये तो देखे वहाँ मुहरें पड़ी थीं। ये बड़े प्रसन्न हुये। उन्हीं मुहरों से सन्तों की खूब सेवा किये। उसी दिन से नित्य प्रति पाँच मुहरें प्रकट होने लगीं। परन्तु ये नित्य उन मुहरों को लेने में डरते थे। इन्हें भय लगता कि कहीं मेरी धन में आसक्ति न हो जाय, मेरे भजन में कोई बाधा न पड़ जाय। तब रात्रि में भगवान ने स्वप्न में आदेश दिया कि-''डरो मत। यह द्रव्य मैं सन्त-सेवा के निमित्त दे रहा हूँ। इससे खूब सन्तों की सेवा करो, कोई बाधा नहीं होगी।'' तब ये उन मुहरों को लेने लगे। ये मुहरों को रोज की रोज खर्च कर देते। कल के लिये एक पैसा भी नहीं रखते। ये अपने उपदेश में श्रीअवध सरयू का बहुत माहात्म्य वर्णन करते-

यथा—

अयोध्या च परं ब्रह्म सरयू सगुणः पुमान्।
तन्निवासी जगन्नाथः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्।।
अयोध्या दर्शनाद् देवि दिव्य देहमवाप्नुयात्।
न दुर्गति मवाप्नोति सिद्धिं प्राप्नोति चोत्तमाम्।।

अर्थ—श्रीअयोध्या परब्रह्म हैं और श्रीसरयूजी सगुण ब्रह्म हैं। अयोध्यावासी श्रीजगन्नाथ स्वरूप हैं, यह बात हम सत्य-सत्य कहते हैं। हे देवि! श्रीअयोध्याजी के दर्शनमात्र से सभी प्राणी दिव्य देह को प्राप्त कर लेते हैं तथा सभी सर्वोत्तम सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं, उनकी दुर्गति नहीं होती है।

मन्वन्तर सहस्त्रैस्तु काशीवासेषु यत्फलं। तत्फलं समवाप्नोति सरयू दर्शने कृते।।
मथुरायां कल्पमेकं मानवो वसते यदि। तत्फलं समवाप्नोति सरयू दर्शने कृते।।
षष्ठि वर्ष सहस्त्राणि भागीरथ्यवगाहजम्। तत्फलं निमिषार्द्धेन कलौदाशरथीं पुरीम्।।

(स्कन्दपुराण)

अर्थ—हजार मन्वन्तर तक काशीवास करने का जो फल है, वह श्रीसरयू के दर्शन मात्र से ही प्राप्त हो जाता है। मथुरापुरी में एक कल्प तक वास करने का फल सरयू दर्शन मात्र से प्राप्त हो जाता है। साठ हजार वर्ष तक गंगाजी में स्नान करने का जो फल है, वह इस कलिकाल में श्रीरामजी की पुरी श्रीअयोध्याजी में आधे पल भर में प्राप्त हो जाता है।'' श्रीतुलसीदासजी श्रीरामचरितमानस में श्रीअवध सरयू का माहात्म्य वर्णन करते हैं-''बन्दौं अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि कलुष नसावनि।। देखतपुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन वापिका तड़ागा।। जद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना।। अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ।।'' आदि।।

श्रीउद्धवजी—अनन्य श्रीरामभक्त श्रीउद्धवजी स्वयं श्रीहरि और हरिजन दोनों की सेवा में सदा तत्पर रहते ही थे, दूसरों को भी यही उपदेश देते थे। इनके उपदेश से प्रभावित होकर एक राजा ने सन्त-सेवा का व्रत लिया था। वेषमात्र में उसकी अपार निष्ठा हो गई थी। एक दुष्ट ने राजा की इस निष्ठा का अनुचित लाभ उठाना चाहा। वह साधु का भेष धारणकर राजा के यहाँ आया। राजा ने सम्मानपूर्वक उसे महल में वास दिया। परन्तु वह एक दिन मौका देखकर रात्रि के समय राजमहल की एक युवती को ले भागा। इससे राजा को बड़ा रोष हुआ। उसने श्रीउद्धवजी को उपालम्भ दिया कि आपके कथने से मैंने सन्त-सेवा प्रारम्भ की थी और देखिये ये वेषधारी ऐसे-ऐसे घृणित कार्य करते हैं। श्रीउद्धवजी ने राजा को धैर्य बँधाया। निष्ठा पर दृढ़ रहने के लिये जोर दिया और उस युवती का आकर्षण किया। श्रीहरिकृपा से वह युवती आकाश मार्ग से राजमहल में सन्त-कृपा का लाभ करके आ गयी। अब तो राजा की सन्त-सेवा में और भी दृढ़ निष्ठा हो गयी तथा श्रीउद्धवजी के प्रति भी उसकी श्रद्धा बढ़ गयी।

छ० ९९)

अभिलाष अधिक पूरन करन ये चिन्तामनि चतुरदास।।
सोम, भीम, सोमनाथ, विको, विशाखा, लमध्याना।
महदा, मुकुन्द, गनेस, त्रिविक्रम, रघु जगजाना।।
बाल्मीकि, वृद्धव्यास, जगन, झांझू, बीठल आचारज।
हरिभू लाला, हरिदास, बाहबल, राघव आरज।।
लाखा, छीतर, उद्धव, कपूर, घाटम, घूरी कियौ प्रकास।
अभिलाष अधिक पूरन करन ये चिन्तामनि चतुरदास।।९९।।

शब्दार्थ—अभिलाष=मनोरथ। चिन्तामनि=एक रत्न, जो सब मनोरथों को पूर्ण करता है। जगजाना=जगत् में प्रसिद्ध अथवा जगत् को (नश्वर) जानने वाले। आरज= आर्य, श्रेष्ठ।

भावार्थ—ये श्रीभगवद्दास अपने भजन-साधन में बड़े चतुर थे तथा दूसरों की अधिकाधिक अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये चिन्तामणि के समान थे। इनके नाम ये हैं-श्रीसोमजी, श्रीभीमजी, श्रीसोमनाथजी, श्रीबिकोजी, श्रीविशाखाजी, श्रीलमध्यानजी, श्रीमहदाजी, श्रीमुकुन्दजी, श्रीगणेशजी, श्रीत्रिविक्रमजी, श्रीरघुजी, श्रीबालमीकिजी, श्रीवृद्धव्यासजी, श्रीजगतजी, श्रीझांझूजी, श्रीबीठलआचार्यजी, श्रीहरिभूजी, श्रीलालाजी, श्रीहरिदासजी, श्रीबाहबलजी, आर्य श्रीराघवजी, श्रीलाखाजी, श्रीछीतरजी, श्रीउद्धवजी, श्रीकपूरजी, श्रीघाटमजी, श्रीघूरीजी-ये सभी भक्त जगत् में प्रसिद्ध हुये और इन सभी ने अपने सुयश से जगत् को प्रकाशित किया।।९९।।

व्याख्या—अभिलाष—भक्तों की भव्य अभिलाषायें देखते ही बनती हैं। यथा-"मानुष हौं तो वहीं 'रसखानि' बसौं व्रजगोकुल गाँव के ग्वारन। जो पशु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।। पाहन हौं तो वही गिरि कौ जो धर्यौ कर छत्र पुरन्दर कारन। जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।।" पुनः-"जमुना पुलिन कुंज गहवर की कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ। पद पंकज प्रियालाल मधुप ह्वै, मधुरे मधुरे गुंज सुनाऊँ।। कूकर ह्वै वन बीथिन डोलौं बचे सीथ सन्तन के खाऊँ। "ललितकिशोरी" आस यही मम व्रजरज तजि छिन अनत न जाऊँ।।" श्रीतुलसीदासजी की अभिलाषा देखिये- "खेलिबे को खग मृग तरु कंकर ह्वै रावरो राय हौं रहिहौं। यहि नाते नरकहुं सचु या बिनु परम पदहुँ दुख दहिहौं।। इतनी जिय लालसादास के कहत पानही महिहौं। दीजै वचन कि

हिये आनिये तुलसीको पन निर्वहिहौं।।'' (वि०)। ''चिन्तामनि''-इसके द्वारा चिन्तित पदार्थ प्राप्त होते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि-''तुलसो चित चिन्ता न मिटै बिनु चिन्तामनि पहिचाने।।'' (वि०), तो ये भक्तजन चिन्तामणि के समान है। ''चतुरदास''-समस्त आशा-भरोसाओं को छोड़कर भगवान को भजने वाला ही वास्तविक चतुर है। यथा-''परिहरि सकल भरोस रामहिं भजहिं ते चतुर नर। तुलसी सोई चतुर नर राम चरन लौ लीन। पर धन पर मन हरन को वेश्या परम प्रवीन।।'' आदि।

श्रीसोमजी—आप बड़े ही समृद्धिशाली सन्त थे। आपके यहाँ सन्त-सेवा, कथा-कीर्तन-सत्संग की धूम मची रहती थी। आपके उत्कर्ष को देखकर आपका ही एक गुरुभाई आपसे अत्यन्त द्वेष करता था। उसने आपका अनिष्ट करने के लिये छल-बल तो बहुत किया, परन्तु सफल नहीं हो सका। तब अन्ततोगत्वा उसने आपके श्रीगोपालजी को चुराकर गहरे जलाशय में फेंक दिया। परन्तु श्रीगोपालजी स्वयं जलाशय से निकलकर सिंहासन पर आ विराजे। उसने फिर फेंका तो श्रीगोपालजी फिर आ गये। श्रीसोमजी को इसका कुछ भी रहस्य मालूम नहीं था। उसने पुनः तीसरी बार भी श्रीगोपालजी को चुराकर फेंकने का निश्चय किया तो श्रीगोपालजी ने स्वप्न में भय दिया कि मैंने दो बार तो तुम्हारा अपराध क्षमा कर दिया है, परन्तु यदि तीसरी बार फिर वही कुकृत्य करोगे तो मैं क्षमा नहीं कर सकता। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीसोमजी की शरण ग्रहण करो अन्यथा सर्वनाश हो जायेगा। यह सुनकर वह गुरुभाई बहुत घबराया और तत्काल ही श्रीसोमजी के पास आकर अपनी समस्त काली करतूति कह सुनायी तथा क्षमा-याचना की। श्रीसोमजी ने तो उसका कोई अपराध न तो जाना ही था, न माना ही था, फिर भी उसकी प्रार्थना पर उसे क्षमादान देते हुये सन्त-भगवन्त सेवा का आदेश दिया।

श्रीभीमजी—ये श्रीरामजी की उपासना करते थे। जूनागढ़ के पास निवास स्थान था। ''रामते अधिक रामकर दासा।'' की भव्य भावना से भावित होकर अत्यन्त अनुराग-पूर्वक सन्तों की सेवा करते थे। एकबार इनकी सेवा निष्ठा की परीक्षा के लिये स्वयं भगवान पाँच सन्तों का वेष धारण कर इनके यहाँ आये। इन्होंने बड़ी सेवा-शुश्रुषा की, फिर हाथ जोड़कर पूछा कि-''मैं आप लोगों का कौन सा प्रिय कार्य करूँ?'' सन्तों में से एक ने तो इनकी पत्नी माँगी, दो ने दोनों पुत्रियों को तथा अन्य दो ने दोनों पुत्रों को माँगा। इन्होंने सहर्ष सन्तों को पत्नी, पुत्री तथा पुत्र प्रदान कर दिये। सन्तों के चले जाने पर इनको तो बड़ा सन्तोष हुआ कि मेरे पूरे कुटुम्ब को सन्तों ने स्वीकार कर लिया, परन्तु पड़ोसियों ने

इन्हें बहुत उल्टा-सीधा सुनाया। श्रीभीमजी शान्त चित्त से सबके व्यङ्ग-बौछार को सहते रहे। सन्तों के प्रति इनके मन में किंचित् भी अभाव नहीं हुआ। परीक्षा में प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण हुये। प्रातःकाल सबके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब सब लोगों ने श्रीभीमजी की पत्नी तथा पुत्रों को घर पर ही पूर्ववत् पाया। मानो कोई कहीं गया ही नहीं था। तब सबने आपकी महिमा जानी। चरणों में पड़कर क्षमा माँगी। इस प्रसङ्ग को सुनकर एक दुष्ट ने साधु वेष धारणकर इनकी पत्नी माँग लिया। परन्तु इनकी पत्नी को लेकर ज्यों ही वह अपने घर में घुसा तो उसके घर में सर्प ही सर्प भर गये। उसको ऐसा प्रतीत होने लगा कि श्रीभीमजी की पत्नी के शरीर से सर्प निकलकर मेरे घर में भर रहे हैं। फिर तो वह उल्टे पांव श्रीभीमजी के पास लौट आया और उनकी पत्नी उनको सौंपते हुये पुनः-पुनः क्षमा-याचना किया।

श्रीध्यानदासजी—आप सदा भगवद्ध्यान में मग्न रहते थे। वाणी से कभी भी असद्वाक्य नहीं बोलते थे, अतः इनके मुख से जो भी वचन निकल जाता, वह सत्य होकर रहता। एकदिन एक वणिक दम्पति इनकी शरण में आये। वे रोकर अपना दुखड़ा सुनाने लगे कि-''महाराज! न जाने किस पाप से मेरी सन्तान जन्मते ही मर जाती है। इससे हम लोग बहुत दुखी रहते हैं। ऐसी कृपा कीजिये जिसमें हम लोग इस दुःख से मुक्त हो जायँ।'' श्रीध्यानदासजी ने उपदेश दिया-''कबहू असत न भाषिये, सेइअ अतिथि सप्रेम। इहाँ उहाँ तेहिं सकल सुख, सत संगति करि प्रेम।।'' आपका उपदेश मानकर वणिक दम्पति तदनुकूल आचरण परायण हो गये। फलस्वरूप थोड़े ही दिनों में घर में नाती-पोतों का छगन-मगन छा गया।

श्रीमुकुन्दजी—ये श्रीप्रबोधानन्दजी के शिष्य के शिष्य थे। बड़ा बढ़िया आश्रम बनाये थे। खूब सन्त-सेवा करते थे। एकबार एक सन्त ने इनसे कहा-''मुकुन्द! तुम अपना आश्रम हमें दे दो और अपने लिये दूसरा आश्रम बनवा लेना। इन्होंने सहर्ष वह आश्रम ही सन्त को दे दिया और स्वयं जंगल की राह ली। वनपथ में एक राजा का घोड़ा सहसा मर गया था, जिससे राजा बड़ा दुःखित था। इन्होंने कृपा करके राजा का घोड़ा जीवित कर दिया। इनकी महिमा जानकर राजा ने इनके लिये पहले से भी बढ़िया आश्रम बनवा दिया। सन्त-सेवा का प्रबन्ध किया।

श्रीवृद्धव्यासजी—इनकी सद्गुरु एवं सन्तों में बड़ी निष्ठा थी। घर में एक ब्याह योग्य कन्या थी। उसके विवाह के लिये इन्होंने सामग्री एकत्रित की थी। इसी बीच इन्हें पता चला कि श्रीगुरुदेवजी के यहाँ पर उत्सव मनाया जा रहा है, तो इन्होंने वह सब सामग्री श्रीगुरुदेवजी

को अर्पित कर दी। इन्होंने यह परवाह नही की कि कन्या का विवाह कैसे होगा? भगवान ने एक वैश्य को प्रेरणा की। वह विवाह का सब सामान इनके घर दे गया। कन्या का विवाह यथा समय सानन्द सम्पन्न हो गया।

श्रीजगनजी—आप बड़े गो-सन्तसेवी थे। एकबार आपकी एक गाय को चोर चुरा ले गये। गायों की सेवा में रहने वाला आपका शिष्य बहुत दुःखी हुआ कि अब श्रीठाकुरजी को दूध का भोग कैसे लगेगा। यही तो एक दूध देने वाली गाय थी वह भी चोरी चली गयी। फिर वह अपने गुरुदेव श्रीजगनजी पर नाराज होने लगा कि एक सन्त तो श्रीनामदेवजी थे, जिन्होंने मरी हुयी गाय को जीवित कर दिया था और एक आप हैं, जो जीवित को भी गवां दिये। श्रीजगनजी ने मुस्कुराकर कहा-''तुम मुझसे लड़ाई क्यों कर रहे हो। पहले गोशाला में जाकर तो देखो।'' शिष्य ने गोशाला में जाकर देखा तो गाय अपने स्थान पर बँधी मिली। श्रीगुरुदेव की यह महिमा देखकर उसकी श्रद्धा और भी अधिक हो गयी श्रीगुरु चरणों में।

श्रीबाहुबलजी—आप श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्रीहरिव्यासदेवजी के प्रमुख शिष्यों में से थे। आपका बाहुबल नाम पड़ने का कारण यह कहा जाता है कि एकबार एक राजा पर उसके शत्रुओं ने चढ़ाई कर दी। राजा ने प्रथम तो शत्रुओं का डटकर मुकाबला किया, परन्तु जब देखा कि शत्रु सैन्य अति प्रबल है तो वह राजमहल छोड़कर, भागकर श्रीबाहुबलजी की शरण में चला गया। श्रीबाहुबलजी ने भयभीत राजा को अभय प्रदान करते हुये अपने हाथ के संकेत मात्र से ही शत्रुदल को स्तम्भित कर दिया। विपक्षी दल इस प्रकार का चमत्कार देखकर श्रीबाहुबलजी के चरणों में पड़कर क्षमा माँगकर अपने स्थान को लौट गया। सन्त कृपा से राजा का बाल भी बाँका नहीं हुआ। इससे प्रजा समेत उसकी श्रीबाहुबलजी में तथा सन्तमात्र में अत्यन्त श्रद्धा हो गयी। बाहु के संकेत से सेना को जड़ीभूत करने से इनका नाम ही ''बाहुबल'' पड़ गया।

श्रीकपूरजी—आप बड़े दयालु हृदय सन्त थे। एकबार आपने एक सन्त के पांव में बिवाई फटी देखी तो उनसे पूछा-''महाराज! आप जूता क्यों नहीं पहनते?'' सन्त ने कहा-''मैंने एक दृढ़ नियम ले रखा है कि एक हजार सन्तों को भोजन कराकर, तब पांव में जूता पहनूँगा। इसी फिराक में मैं बहुत दिन से घूम रहा हूँ। परन्तु न तो हमारे पास इतना धन ही हुआ कि एक हजार सन्तों को भोजन करा सकूँ और न मैंने जूता पहना। ''न नौ मन तेल हुआ, न राधा नाचीं।'' श्रीकपूरजी को दया आयी। उन्होंने घर की बहुत सी सम्पत्ति बेंचकर अकेले ही एक हजार सन्तों के भोजन की व्यवस्था कर दी। सन्त का नियम पूर्ण हुआ। उसी दिन से वे अपने पांव में पदत्राण धारण करने लगे।

श्रीघाटमजी—आप जाति के मीना थे। जयपुर राज्यान्तर्गत खेड़ी ग्राम के निवासी थे। चोरी, डाका, लूटपाट इनका पुश्तैनी पेशा था। एकबार ये जंगल में किसी को लूटने की तलाश में घूम रहे थे। संयोग से एक महात्मा का दर्शन हुआ। इन्होंने सहज भाव से प्रणाम किया तो सन्त ने समीप आकर उपदेश दिया-''बेटा! यह चोरी डाका अत्यन्त निन्द्य काम है। इसे तुम छोड़ दो। इससे लोक और परलोक दोंनो ही नष्ट हो जाते हैं।'' इन्होंने हाथ जोड़कर कहा-''महाराज! यह तो हमारी जीविका है और वह भी आज से नहीं, मेरी कई पीढ़ियों से चली आ रही है, अतः यह तो हमसे छूट नहीं सकती। हमारे पिताजी ने भी कहा है-''बेटा! अपना पेशा छोड़ना नहीं। अतः आप और जो उपदेश दें वह हम सहर्ष मानने के लिये तैयार हैं। सन्तजी ने कहा-''अच्छा तो हमारी चार बातें तुम मानोगे तो तुम्हारा अवश्य कल्याण हो जायेगा। (१) सत्य बोलना, (२) साधु-सेवा करना। (३) भगवान को अर्पण करके प्रसाद पाना। (४) भगवान की आरती का दर्शन करना।'' श्रीघाटमजी ने चारों बातें मान लीं। अब तो यह लूट मारकर धन लाते तो प्रथम सन्तों की सेवा करते, फिर बचे-खुचे धन से परिवार का पालन करते। एकदिन सन्तों की जमात घर पर आई। इन्होंने तुरन्त उठकर सन्तों को दण्डवत्-प्रणाम किया, सबका आसन लगवाया। फिर घर में सीधा-सामान लेने गये तो पता चला कि घर में एक छटांग भी अन्न नहीं है। इन्होंने गांव वालों से माँगा परन्तु किसी ने नहीं दिया। तब चोरी का निश्चय किये। गांव के बाहर लोगों के खलिहान थे। ये गये और एक की राशि में से पर्याप्त गेहूँ बाँधकर उठा लाये। सन्त-सेवा तो हो गई पर एक भय मन में बना रहा कि यदि प्रातःकाल कोई पद चिन्हों के आधार पर पता लगाना चाहेगा तो मेरी चोरी पकड़ी जायेगी। लेकिन भगवान की इच्छा से थोड़ी ही देर में बड़े जोर का आँधी-पानी आया। निशान का नामोनिशान नहीं रह गया। ये निश्चिन्त हो गये। सन्त-सेवा में और अधिक भाव हो गया।

ऐसे ही एकबार इनके श्रीगुरुदेवजी के यहाँ कोई उत्सव था। सुनकर इनका मन बहुत प्रसन्न हुआ। जी में आया कि श्रीगुरुजी की सेवा में पहुँचना चाहिये। परन्तु बेवशी यह थी कि इनके पास पैसे के नाम पर एक छदाम भी गांठ में नहीं था। अतः इन्होंने पुनः चोरी का विचार किया। ये फौजी सिपाही का भेष बनाकर एक राजा के अस्तबल में घुसे। पहरेदारों ने टोका भी कि तुम कौन को? तो इन्होंने गुरु की बात यादकर सत्य ही कहा कि-''मैं चोर हूँ।'' परन्तु इनकी वेष-भूषा को देखकर पहरेदारों ने इन्हें कोई फौज का सरदार समझा। ये निर्भय अस्तबल में प्रवेश कर राजा की सवारी का एक बढ़िया घोड़ा खोले और उस पर आरूढ़ होकर सेनापति की भाँति बड़े शान से बाहर निकले। किसी ने कुछ भी नहीं कहा।

कुछ दूर जाने पर इन्हें एक मन्दिर में भगवान की मंगला आरती होती दिखायी पड़ी। ये घोड़े को एक पेड़ से बाँधकर आरती का दर्शन करने लगे। उधर जब सबेरा हुआ तो पता चला कि घोड़ा चोरी चला गया। अब पहरेदारों को मालूम हुआ कि वह सचमुच चोर ही था। घोड़े का पता लगाने के लिये घुड़सवार चारों दिशाओं में दौड़े। पता लगाते-लगाते वहाँ पहुँच गये जहाँ घोड़ा बँधा था। देखने पर मालूम हुआ कि घोड़ा तो वही है परन्तु रंग बदल गया है, श्याम से श्वेत हो गया है। इतने में आरती का दर्शन, स्तुति, दण्डवत्प्रणाम करके तथा चरणामृत लेकर श्रीघाटमजी बाहर आये। पूछने पर पुन इन्होंने सब बात सही-सही कह दी कि घोड़ा वही है और चुराने वाला चोर मैं वही हूँ। परन्तु श्रीहरि कृपा से घोड़े का रंग वह नहीं रहा। भगवान ने मेरी रक्षा करने के लिये अभी-अभी घोड़े का रंग बदल दिया है। यह देख सुनकर राजा के घुड़सवार दङ्ग रह गये। वे श्रीघाटमजी को भी साथ लेकर राजा के पास आये। श्रीघाटमजी की सत्यवादिता और हरि कृपा से घोड़े के रंग में परिवर्तन से राजा बड़ा प्रभावित हुआ। उसने श्रीघाटमजी के चरणों में पड़कर प्रणाम किया और श्रीगुरुसेवा एवं जीविका के निमित्त बहुत सा द्रव्य एवं भूमि भेंट किया। श्रीघाटमजी की गुरु वचनों में और अधिक आस्था हो गयी। ये सहर्ष श्रीगुरु उत्सव में सम्मिलित हुये। इन्होंने सदा सर्वदा के लिये चोरी-डाका छोड़ दिया।

एकबार श्रीघाटमजी के मन में इस बात की बड़ी ग्लानि हुई कि मुझे इतने दिन श्रीगुरुदेवजी के बताये पथ पर चलते हो गया, परन्तु भगवान के दर्शन नहीं हुये, उस समय इन्होंने अत्यन्त आर्त होकर यह पद गाया-''पहले तो मैं यूँ ही खाता अब तो न्हाकर खावाँछाँ। गल में माला, माथे तिलक थारे निमित लगावा छाँ।। म्हाने तो एता करि दीना थाने कीना काईं। घाटमदास जाति कौ मीना तारोगे की नाईं।।'' इनके इस प्रेम भरे उपालम्भ को सुनकर तत्काल भगवान प्रकट हो गये। श्रीघाटमजी भगवान का दर्शन कर निहाल हो गये। सत्संग के प्रभाव से श्रीघाटमजी के जीवन में कैसा परिवर्तन हुआ, एक पद में इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। यथा-''प्रथम यह विचारैं आजु कहँ घात मारैं। अब यह उर धारैं साधुजन कब पधारैं।। प्रथम वन फिराते लुटि कै माल खाते। अब जनन्ह कहँ बुलाते छीनि कै जूंठ खाते।। तब फिरत नृप सिपाही हथकड़ी को पिन्हाऊँ। अब फिरत जन घनेरे पदरज सिर चढ़ाऊँ।। कसि विविध गति दुरंगी तब रहे दुष्ट संगी। अब सुमति यों उमंगी है गये साधु संगी।।'' (भ०व०टि०)

श्रीघाटमजी का उपदेश—जे नर रसना नाम उचारैं। केतिक बात आपु तरिबेकी कोटि पतित निस्तारैं।। काम क्रोध मद लोभ तजैं अरु जीव दशा प्रतिपालैं। बसुधा पर तीरथ

हैं जेतिक तिनहूँके घट टालैं।। मीना जाति जदपि कुल नीचो सतगुरु शब्द विचारैं। घाटमदास राम को परिचै तीनहुँ लोक उधारै।।''

भक्तपाल दिग्गज भगत ये थाना इत सूर धीर।।
देवानन्द, नरहरिया, नन्द, मुकुन्द, महीपति, संतराम तम्मोरी।
खेम, श्रीरंग, नन्द, विस्नु बीदा, बाजू सुत जोरी।।
छीतम द्वारिकादास, माधव, मांडन, रूपा दामोदर।
भल नरहरि, भगवान, बाल, कान्हर, केसौ सोहैं घर।।
दास प्रयाग, लोहंग गुपाल नागू सुत गृह भक्त भीर।
भक्तपाल दिग्गज भगत ए थाना इत सूर धीर।।१००।।

शब्दार्थ—भक्तपाल=भक्तों की सेवा-रक्षा करने वाले। थानाइत=थानापति, स्थान के स्वामी, महन्त। तम्मोरी=तमोली।

भावार्थ—ये स्थानाधिपति (महन्त) सन्त भक्तों का पालन-पोषण करने वाले, बड़े शूर, धीर तथा दिग्गज भक्त हुये। इनके नाम ये हैं-श्रीदेवानन्दजी, श्रीनरहरियानन्दजी, श्रीमुकुन्दजी, श्रीमहीपतिजी, श्रीसन्तरामजी तमोली, श्रीखेमजी, श्रीरंगजी, श्रीनन्दजी, श्रीविष्णुजी, श्रीबीदाजी, श्रीबाजूजी तथा श्रीबाजूजी के पुत्र दोनों, श्रीछीतमजी, श्रीद्वारिका दासजी, श्रीमाधवजी, श्रीमांडनजी, श्रीरूपाजी, श्रीदामोदरजी, परमसाधु श्रीनरहरिजी, श्रीभगवानजी, श्रीबालजी, श्रीकान्हरजी, श्रीकेशवजी, श्रीप्रयागदासजी, श्रीलोहंगजी, श्रीगोपाल जी, श्रीनागूजी एवं इनके पुत्र। ये भक्त अपने स्थान पर बड़े सुशोभित हुये। इनके यहाँ भक्तों की भीड़ लगी रहती थी।।१००।।

व्याख्या—भक्तपाल—स्थानधारी के लिये शास्त्रों ने चार प्रकार की सेवा का आदेश दिया है-(१) श्रीठाकुर सेवा, (२) गुरु सेवा, (३) साधु सेवा, (४) शास्त्र सेवा (कथा-सत्संग, अध्ययन-अध्यापन द्वारा) अत: ये स्थानाधिपति निजधर्म का पालन करते हुये बड़े भाव से सन्तों की सेवा करते थे। ''दिग्गज''-इसकी व्याख्या के लिये देखिये उत्तरार्द्ध प्रथम खण्ड छप्पय-३२ में ''चतुर महन्त दिग्गज चतुर भक्ति भूमि दाबे रहैं।।'' की व्याख्या। ''सूर''-इसकी व्याख्या के लिये देखिये उ०प्र०छ०-४०। ''धीर''-श्रीतुलसीदासजी

के मत से धीर वे पुरुष हैं जो विकारों का हेतु उपस्थित होने पर भी मन को वश में किये रहते हैं। यथा-''ते धीर अछत विकार हेतु जे रहत मनसिज बस किये।।''

श्रीदेवानन्दजी—आप बड़े सन्त-सेवी थे। स्थान में कोई स्थायी जमीन नहीं थी। अत: आकाशवृत्ति पर ही सन्त-सेवा आधारित थी। फलस्वरूप कभी तो खूब घुटती थी और कभी फाकेमस्ती भी होती। एकबार सन्तों की जमात स्थान पर पधारी। धन के अभाव में एक वणिक के यहाँ उधार सीधा-सामान लेने गये। वणिक ने टका सा जवाब दिया-''महाराज! नौ नगद न तेरह उधार। हमारे यहाँ उधार का खाता ही नहीं है।'' तब ये श्रीठाकुरजी की पूजा का पात्र वणिक के यहाँ पर गिरवी रखकर सीधा-सामान लाये और सन्त-सेवा की। श्रीदेवानन्दजी के मन में इस बात का बड़ा क्षोभ था कि श्रीठाकुरजी की सेवा का एक पार्षद कम हो गया। परन्तु जब वह पूजा में गये तो सभी पार्षद वर्तमान पाये। जो पात्र वणिक के यहाँ गिरवी रख आये थे वह भी मौजूद मिला। तब तो श्रीप्रभु कृपा विचारकर बड़े हर्षित हुये। कुछ दिन बाद जब पैसा हाथ में आया तो उस वणिक से जाकर बोले कि-''अपना पैसा ले लो और मेरे श्रीठाकुरजी की सेवा का पात्र दे दो।'' उस वणिक ने सारा घर छान डाला परन्तु उसे पात्र नहीं मिला। तब तो वह घबड़ाया हुआ इनके चरणों में पड़कर बोला-''महाराज! पात्र तो मिल नहीं रहा है, उसके बदले में कुछ सीधा-सामान ले जाइये।'' श्रीदेवानन्दजी ने कहा-''भैया! वह तो श्रीठाकुरजी की सेवा का पार्षद था, भला वह कहीं धन के बदले में मिल सकता है? उसके बदले तो अब तुमको ही पात्र बनना होगा।'' वणिक ने पूछा-''महाराज! मैं पात्र कैसे बन सकता हूँ?'' आपने कहा-''आज से तुम भी श्रीराम की भक्ति करो और सन्तों की सेवा करो, तब पात्र बन सकते हो, अन्यथा दण्ड के भागी बनोगे। वणिक राजी हो गया। तब श्रीदेवानन्दजी ने वह पात्र ले जाकर उस वणिक को दिखलाये कि देखो, वह पात्र यह है। श्रीठाकुरजी अपने पार्षदों को अपने से पृथक् नहीं करते। इसी प्रकार यदि तुम भी पात्र बन जाओगे तो श्रीठाकुरजी तुम्हें भी सदा समीप रखेंगे। वणिक भक्ति का यह चमत्कार देखकर तुरन्त श्रीदेवानन्दजी का शिष्य हो गया।

श्रीखेमजी—ये जाति के वैश्य एवं जैन मतावलम्बी थे। एकबार इन्होंने मन्दिर में भगवान की झाँकी देखी वह झाँकी इनके हृदय में गड़ गई। बस, विवश होकर इन्हें वैष्णव होना पड़ा। अब तो रात-दिन ये भगवान की सेवा-पूजा, कथा-वार्ता में ही अपना सारा समय बिताने लगे। सन्तों को बुला-बुलाकर सेवा करते और कथा-कीर्तन करवाते। इनकी यह रहनी इनकी जाति वालों को अच्छी नहीं लगी। अत: सबने मिलकर पंचायत की और सौगन्ध

दिलाया कि तुम यह सब सेवा-पूजा, कथा-कीर्तन छोड़कर अपने पुराने धर्म पर आरूढ़ हो जाओ। इन्होंने दो टूक जवाब दिया कि-''मैं अपने प्राण, धन, धाम को छोड़ सकता हूँ, करोड़ों दण्ड और अपमान सहर्ष सह सकता हूँ परन्तु श्रीहरि और हरिजनों को नहीं छोड़ सकता।'' जब ये किसी भी प्रकार मानने को राजी नहीं हुये तो जैनियों ने राजा से जाकर इनकी शिकायत की। राजा ने इनको कारागार में बन्द दिया। इसी बीच घर पर सन्त पधारे। श्रीखेमजी की पत्नी के द्वारा सब समाचार सुनकर सन्तों को बड़ा दुःख हुआ। सभी सन्त भगवान के सामने अनशन करके बैठ गये कि जब तक भक्तजी नहीं आवेंगे, तब तक हम लोग अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं करेंगे। उधर श्रीखेमजी को भी सन्तों के आगमन तथा अनशन का पता चला तो मन में बहुत ही दुःखी हुये। भला जहाँ इतने सन्त-भक्त दुःखी होंगे वहाँ भगवान कैसे सुखी रह सकते हैं? अतः प्रभु ने अपनी लीला का विस्तार किया। श्रीखेमजी की हथकड़ी-बेड़ी अपने आप टूट गयीं, कारागार के ताले भी टूट गये, फाटक खुल गये, पहरेदार सो गये। श्रीखेमजी सन्त दर्शन के लिये अत्यन्त आतुर हो दौड़ पड़े, आकर सन्तों के चरणों में लोट-पोट हो गये। सभी सन्तों ने प्रसाद पाया। भक्ति का यह चमत्कार देखकर सभी विरोधी नतमस्तक हो गये। सबने श्रीखेमजी के चरणों में पड़कर क्षमा-याचना की और स्वयं भी सन्त-सेवा का व्रत लिया।

श्रीरूपाजी (श्रीरूपरसिकदेवाचार्यजी)—आप दक्षिण देश के रहने वाले थे। जाति के ब्राह्मण थे तथा परिवार पोषण के लिये खेती करते थे। सन्त-सेवा में आपकी बड़ी निष्ठा थी। बहुत काल तक आपके यहाँ सन्त-सेवा सुचारु रूप से चलती रही। एक साल वर्षा के अभाव में खेती में अन्न की उपज कुछ भी नहीं हुई। ऐसी स्थिति में परिवार का ही भरण-पोषण कठिन हो जाता है। फिर अतिथि-अभ्यागत, साधु-महात्मा की सेवा तो बहुत दूर की बात है। परन्तु श्रीरूपाजी धैर्यपूर्वक परिवार पोषण के साथ-साथ सन्त-सेवा भी करते रहे। धीरे-धीरे घर के सभी बर्तन-आभूषण बिक गये। जरूरत पड़ने पर मकान भी बेच दिया। अन्त में तो खेत भी बेच दिये। परन्तु सन्त-सेवा पर आँच नहीं आने दी। लेकिन इतने पर भी अकाल का अन्त नहीं हुआ। फलस्वरूप घर में उपवास की स्थिति आ गयी। बाल-बच्चे भूखे मरने लगे। श्रीरूपाजी अन्न की तलाश में कहीं जा रहे थे। मार्ग में सन्त मिल गये तो उन्हें अनुनय-विनय कर घर लिवा लाये। ये तो सन्तों के आने से बड़े प्रसन्न हो रहे थे, परन्तु इनकी पत्नी घबड़ाई कि इतने सन्तों का सत्कार कैसे होगा? इन्होंने पत्नी से कहा कि-''यदि कोई आभूषण शेष हो तो दो, उसे बेचकर सन्तों की सेवा में लगा दूँ।'' इन सन्तों के आशीर्वाद से ही दुःखों की निवृत्ति होगी। पत्नी ने झल्लाकर कहा-''यदि कोई आभूषण होता तो बच्चे क्यों भूख के कारण मारे-मारे फिरते?'' श्रीरूपाजी ने बड़े विश्वास-पूर्वक कहा

कि-"यदि तुमने कुछ छिपाया न होता तो विश्वम्भर भगवान हमें कदापि भूखे नहीं रखते। वे निश्चय ही अब तक कोई न कोई उपाय कर दिये होते।" यह सुनकर पत्नी कुछ लज्जित सी हुयी और उसने अपनी नथ लाकर पति को दी। श्रीरूपाजी ने उसे ही बेचकर आज सन्तों की सेवा की। सन्तों के पीछे सबने सीथ-प्रसादी पायी। उसी रात को भगवान ने स्वप्न में कहा कि-"घर में अमुक जगह अपार सम्पत्ति गड़ी पड़ी है, उसे खोदकर आनन्दपूर्वक सन्त-सेवा करो। श्रीरूपाजी ने वह स्थान खोदा तो सचमुच इन्हें अपार धन प्राप्त हुआ। फिर तो बड़े आनन्द से दिन बीतने लगे। सन्तों के मुख से श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी की महिमा सुनकर आपने निश्चय किया कि मैं इन्हीं से मंत्र-दीक्षा लूँगा। अपने निश्चय के अनुसार ही आप अपने देश से श्रीमथुरा वृन्दावन के लिये चल पड़े। परन्तु संयोग की बात, जब आप मथुरा पहुँचे तो पता चला कि श्रीहरिव्यासजी तो नित्य निकुंज में प्रवेश कर गये। इस दुःखद समाचार से आपको बड़ी मर्मान्तक पीड़ा हुयी। आप मथुरा विश्राम घाट पर प्राण त्याग का संकल्प कर जा बैठे। अन्त में निष्ठा की विजय हुयी। श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी ने नित्य धाम से प्रकट होकर इन्हें दर्शन दिया। मन्त्रोपदेश देकर श्रीमहावाणीजी के अनुशीलन का आदेश दिया। श्रीगुरुदेवजी की यह अलौकिक कृपा देखकर आप आनन्द विभोर हो गये। तत्पश्चात् श्रीगुरु के आदेशानुसार आप आजीवन श्रीमहावाणीजी के चिन्तन-मनन में रत रहते हुये इष्टाराधन करते रहे। श्रीरूपरसिकजी ने आराधन सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं। आपकी रचना बड़ी ही सरस है। यथा-"नैंना प्रकृति गही यह न्यारी। जाचत जे लै श्याम सरूपहिं बन-बन बिकल महारी।। अटके नेक न रहे लालची सीख दये सब हारी। रूपरसिक दरसै मनमोहन तबही होय सुखारी।।"

बद्रीनाथ, उड़ीसे, द्वारिका सेवक सब हरि भजन पर।।
केसौ, पुनि हरिनाथ भीम, खेता, गोविन्द ब्रह्मचारी।
वालकृष्ण, बड़भरथ, अच्युत, अपया व्रतधारी।।
पंडा गोपीनाथ, मुकुन्दा, गजपति महाजस।
गुननिधि, जस गोपाल, देइ भक्तन कौ सरबस।।
श्री अंग सदा सानिधि रहैं कृत पुन्य पुंज भल भाग भर।
बद्रीनाथ, उड़ीसे, द्वारिका सेवक सब हरि भजन पर।।१०१।।

शब्दार्थ—श्रीअंग=श्रीभगवत्स्वरूप, श्रीभगवत्प्रिय। सानिधि=सान्निध्य, निकट। कृत पुन्य पुंज=पूर्व जन्म में अनन्त पुण्य करने वाले। भल भाग भर=परम सौभाग्यशाली।

भावार्थ—श्रीबदरिकाश्रम, उड़ीसा (श्रीजगन्नाथपुरी), श्रीद्वारिकापुरी-इन श्रीभगवद्धामों में भगवान श्रीनर-नारायण, श्रीजगन्नाथ भगवान और श्रीरणछोड़ भगवान के सभी सेवक बड़े ही श्रीभगवद्-भजन परायण हुये। इनके नाम ये हैं-''श्रीकेशवजी, श्रीहरिनाथजी, श्रीभीमजी, श्रीखेताजी, ब्रह्मचारी श्रीगोविन्दजी, श्रीबालकृष्णजी, श्रीबड़भरतजी, श्रीअच्युतजी, श्रीअपयाजी, पण्डा श्रीगोपीनाथजी, श्रीमुकुन्दजी, महायशस्वी श्रीरुद्रप्रताप गजपतिजी (पुरी नरेश), श्रीगुणनिधिजी और श्रीजसगोपालजी। ये सभी भक्त संत-भगवन्त सेवा का व्रत धारण करने वाले परम यशस्वी तथा भक्तों को अपना सर्वस्व समर्पण करने वाले हुये। ये सदा भगवान के श्रीअंग के समीप रहते थे। इन्होंने पूर्वजन्म में महान् सुकृत किया था। ये बड़े सौभाग्यशाली थे।।१०१।।

व्याख्या—श्रीअङ्ग सदा सानिधि रहैं—इससे जनाया गया कि ये भक्त भगवान का समस्त कैङ्कर्य अपने हाथों से करते थे। यह सेवा की ही महिमा है कि इन्हें सदैव श्रीभगवत्सामीप्य प्राप्त था। जैसे श्रीहनुमानजी हमेशा श्रीरामजी के समीप रहते हैं। सेवकों को सामीप्य मुक्ति मिलती है। ''कृत पुण्य पुंज''-भाव यह कि जिन्हें भगवान की सेवा का, भगवान के दर्शन का, भगवान के साथ सम्बन्ध रखने का सौभाग्य मिलता है, वे निश्चय ही पूर्व जन्म के महान् सुकृति होते हैं। यथा-''नाहित हम कहँ सुनहुँ सखि इन्हकर दरसन दूरि। यह संघट तब होइ जब पुण्य पुराकृत भूरि।। हम सब सकल सुकृत कैं रासी। भये जग जनमि जनकपुरवासी। जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस विशेषी।। (रामा०) पुनः-हम सब पुण्य पुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे।।'' (रामा०) आदि। ''भलभागभर''-अर्थात् बड़भागी। श्रीतुलसी दासजी के मत से श्रीहरिचरणानुरागी जन ही बड़भागी कहाने के अधिकारी हैं। यथा-''सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुवीर चरन अनुरागी।।''

श्रीरुद्रप्रताप गजपतिजी

श्रीप्रतापरुद्र गजपति कै बखान कियौ लियौ भक्तिभाव महाप्रभु पै न देखहीं।
किये हूँ उपाय कोटि ओटि लै संन्यास लियौ हियौ अकुलायौ अहो किहूँ मोकों पेखहीं।।
जगन्नाथ रथ आगे नृत्य करैं मत्त भये नीलाचल नृप पांय पर्‌यौ भाग लेखहीं।
छाती सों लगायौ प्रेमसागर बुड़ायौ भयौ अति मन भायौ दुख देत ये निमेखहीं।।४०९।।

शब्दार्थ—ओट=आड़, बहाना। निमेषहीं=क्षणभर ही, थोड़े ही समय।

भावार्थ—श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि श्रीनाभाजी ने छप्पय में जो 'गजपति' कहकर वर्णन किया है, वह श्रीजगन्नाथपुरी के राजा थे। उनका पूरा नाम श्रीरुद्रप्रतापजी गजपति था। उन्होंने राजा होकर भी भक्ति भाव को ग्रहण किया था। परन्तु इनकी प्रेम-परीक्षा के लिये श्रीप्रेमपुरुषोत्तम गौराङ्ग महाप्रभुजी इनकी ओर नहीं देखते थे। करोड़ों उपाय करने पर भी श्रीमहाप्रभुजी ने नहीं देखा। तब इन्होंने संन्यास ले लिया। ये हृदय में अत्यन्त आकुल-व्याकुल होते थे कि श्रीमहाप्रभु किसी प्रकार मुझको देखें। आखिर रथयात्रा के समय जब श्रीमहाप्रभुजी श्रीजगन्नाथ भगवान के आगे प्रेमोन्मत्त होकर नृत्य कर रहे थे, उस समय श्रीनीलाचल (जगन्नाथपुरी) के राजा श्रीरुद्रप्रताप गजपति ने श्रीमहाप्रभुजी का दर्शनकर अपना बड़ा भाग्य समझा और भाव-विभोर होकर श्रीमहाप्रभुजी के चरणों में पड़ गये। श्रीमहाप्रभुजी ने भी इनको उठाकर छाती से लगा लिया और प्रेम सागर में डुबो दिया। श्रीरुद्रप्रतापजी का मन भावनापूर्ण हो गया। ये श्रीमहाप्रभुजी का निर्निमेष दर्शनकर रहे थे। उस समय यदि पलकें गिरतीं तो राजा को महान् दुःख होता।।४०९।।

व्याख्या—श्रीप्रतापरुद्र लियौ भक्तिभाव—पुरी नरेश श्रीरुद्रप्रताप जी परम भागवत राजा हुये। श्रीजगन्नाथ भगवान में इनकी परम निष्ठा थी। भगवान की सेवा की समस्त व्यवस्था इनके ही द्वारा होती थी। इनकी भक्ति की सराहना करते हुये सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्यजी कहते हैं कि-"जगन्नाथे एकराजा किन्तु भक्तोत्तम।।" (चै० च०) अर्थात् श्रीरुद्रप्रतापजी यद्यपि राजा हैं परन्तु श्रीजगन्नाथ भगवान के सेवक हैं और भक्तों में श्रेष्ठ भक्त हैं। " महाप्रभु पैन देखहीं"-राजा की प्रेम-परीक्षा के लिये तथा इनके प्रेम को और भी अधिक उद्दीप्त करने के लिये श्रीमहाप्रभुजी ने यह लीला की थी। "किये हूं उपाय कोटि"-प्रथम तो राजा ने सार्वभौम वासुदेव भट्टाचार्यजी से सिफारिश की कि मुझे जैसे हो तैसे श्रीमहाप्रभुजी का दर्शन करा दीजिये। श्रीसार्वभौमजी ने श्रीमहाप्रभुजी से निवेदन भी किया। परन्तु श्रीमहाप्रभुजी ने दो टूक जवाब दे दिया कि संन्यासी को रजोगुणी राजा-महाराजाओं से मिलना उचित नहीं है। श्रीसार्वभौम ने राजा को जब यह प्रभु वचन सुनाया तो प्रथम तो राजा ने मन में बड़ा खेद माना कि मैं श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन का अधिकारी नहीं हूँ। तत्पश्चात् प्रण किया कि-"यदि श्रीमहाप्रभुजी का मुझे दर्शन नहीं होगा तो मैं इस शरीर को ही त्याग दूँगा।" इनके इस दृढ़ निश्चय को देखकर सार्वभौम ने धैर्य बँधाया कि आप जैसे निष्ठावान के ऊपर श्रीमहाप्रभुजी अवश्य अनुग्रह करेंगे।

कुछ दिन बाद राजा ने श्रीरायरामानन्दजी से श्रीप्रभु का दर्शन कराने की प्रार्थना की। अधिकारी जानकर श्रीरायरामानन्दजी ने भी श्रीमहाप्रभुजी से राजा की प्रीति की सराहना करते हुये

दर्शन देने का अनुरोध किया। तब श्रीमहाप्रभुजी ने कहा-''राय! तुम श्रीकृष्ण के प्रधान भक्त हो। तुम्हारे में राजा की इतनी प्रीति है तो इसी गुण से श्रीकृष्ण उसे अवश्य अङ्गीकार करेंगे।'' श्रीरायरामानन्दजी के इस सन्देश से राजा को कुछ आश्वासन मिला। फिर राजा ने श्रीमहाप्रभुजी के समस्त परिकरों से प्रार्थना किया कि वे जैसे हो तैसे मुझे श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन करावें। सब परिकर मिलकर श्रीमहाप्रभुजी के पास गये। परन्तु बोलने का साहस किसी को नहीं हुआ। तब श्रीमन्नित्यानन्द महाप्रभुजी ने साहस करके श्रीमहाप्रभुजी से निवेदन किया कि-''यदि आप राजा रुद्रप्रतापजी के ऊपर कृपा नहीं करेंगे तो वे राजपाट छोड़कर संन्यासी हो जायेंगे और देह भी त्याग देंगे।'' परन्तु तब भी श्रीमहाप्रभुजी ने कुछ अनुकूल उत्तर नहीं दिया। तब श्रीनित्यानन्दजी ने प्रार्थना किया कि-''यदि आप अपना एक कटि वस्त्र कृपा करके राजा को प्रदान कर दें तो वह उसे पाकर आपके चरण दर्शन की आशा रखते हुये प्राण धारण कर सकेगा।'' कृपामय की कृपा हो गयी। राजा को श्रीप्रभु का अमूल्य कटिवस्त्र प्राप्त हो गया। उस कटिवस्त्र को पाकर राजा का मन प्रसन्न हो गया और वे उस वस्त्र की प्रभु के समान पूजा करने लगे।

कुछ दिन बाद राजा ने पुनः श्रीरायरामानन्दजी से श्रीप्रभुजी के दर्शन कराने की प्रार्थना की। श्रीरायरामानन्दजी ने सुअवसर देखकर श्रीप्रभु के समक्ष राजा की वार्ता चलायी। परन्तु श्रीप्रभु अब भी राजा से मिलने को राजी नहीं हुये। श्रीरायरामानन्दजी का विशेष आग्रह देखकर श्रीमहाप्रभुजी ने कहा-''यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो मुझे रुद्रप्रताप के लड़के को लाकर मिला दो। पुत्र पिता की आत्मा ही होता है, अतः पुत्र के मिलने से मानो उसका अपना मिलना हो जायेगा।'' श्रीरायरामानन्दजी ने ऐसा ही किया। राजा के पुत्र को देखते ही श्रीमहाप्रभुजी को श्रीकृष्ण की स्मृति हो आयी। वे राजपुत्र का गाढ़ालिङ्गन किये। श्रीमहाप्रभुजी का आलिंगन पाते ही राजकुमार को प्रेमावेश हो गया। शरीर में एक साथ प्रेम के सात्विक भाव अनुभावादिकों का संचार हो आया और वह ''कृष्ण-कृष्ण'' कहकर नाचने लगा। उसकी आँखों से अविरल अश्रु प्रवाह चलने लगा। श्रीमहाप्रभुजी ने राजपुत्र से नित्य मिलने के लिये आने को कहा। फिर श्रीरायरामानन्दजी राजपुत्र को लेकर राजा के पास आये। राजा ने अपने पुत्र का आलिंगन किया तो स्वयं भी उसी प्रेमादशा को प्राप्त हो गये। मानो इन्होंने साक्षात् श्रीमहाप्रभुजी का आलिंगन किया हो। अब राजा को विश्वास हो गया कि मुझे अवश्य श्रीमहाप्रभुजी के दर्शन होंगे।

रथ यात्रा का समय था। श्रीमहाप्रभुजी अपने परिकरों सहित श्रीजगन्नाथ भगवान की रथयात्रा का दर्शन करने के लिये वहाँ उपस्थित थे। पुरी नरेश महाराज रुद्रप्रतापजी स्वर्ण

मार्जनी लेकर भगवान के सामने का रास्ता बुहार रहे थे एवं चन्दन मिश्रित जल का छिड़काव कर रहे थे। श्रीमहाप्रभुजी राजा की यह सेवा देखकर बहुत ही सुखी हुये। इसी सेवा के कारण राजा को श्रीमहाप्रभुजी की कृपा प्राप्त हो गयी। श्रीजगन्नाथ भगवान का रथ चला। प्रेम-पुरुषोत्तम श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी अपने परिकरों सहित रथ के आगे कीर्तन करते हुये चल रहे थे। श्रीमहाप्रभुजी का प्रेमोन्मत्त होकर उद्दाम नृत्य पूर्वक संकीर्तन सबके मन को आकर्षित कर रहा था। राजा रुद्रप्रतापजी उस समय का श्रीप्रभु का प्रेमावेश देखकर विस्मित हो रहे थे। इतने में श्रीमहाप्रभुजी नृत्य करते-करते प्रेमावेश में पछाड़ खाकर राजा रुद्रप्रताप के आगे गिरने लगे। प्रभु को गिरता हुआ देखकर राजा ने अतिशीघ्र अपनी बलिष्ठ भुजाओं से पकड़ लिया। राजा का स्पर्श होते ही प्रभु सावधान हो गये और कहने लगे-"छिः छिः मुझे तो रजोगुणी का स्पर्श हो गया, धिक्कार है मुझको।" प्रभु के वचन सुनकर राजा भयभीत हो गये। तब श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यजी ने इन्हें समझाया कि-"आप चिन्ता न करें, यह तो श्रीप्रभु ने अपने भक्तों को शिक्षा देने के लिये कहा है। आप पर तो अब श्रीप्रभु की शीघ्र कृपा होने वाली है।"

बलगण्डि नामक स्थान पर पहुँचकर श्रीजगन्नाथ भगवान का रथ रुका। वहाँ भगवान को बहुत-बहुत व्यंजनों का भोग लगता है। भक्त लोग भगवान को भोग लगाने लगे। भोग के समय वहाँ बहुत भीड़ हो गयी। अतः श्रीमहाप्रभुजी अपनी मण्डली सहित पास के बगीचे में चले गये। सभी भक्त वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। श्रीमहाप्रभुजी भी एक एकान्त स्थल पर प्रेमावेश में नेत्र बन्द किये हुये शयन कर रहे थे। इतने में राजा रुद्रप्रतापजी सार्वभौमजी की बताई हुयी विधि के अनुसार राजवेष छोड़कर, वैष्णव वेष धारणकर अर्थात् गले में तुलसी की माला, ललाट पर तिलक, बाहुओं में शंख-चक्रादि चिह्न, कटि में साधारण वस्त्र धारण किये हुये वहाँ आये और श्रीप्रभु के चरण दबाने लगे। चरण सेवा करते समय राजा रासपंचाध्यायी के "गोपीगीत" के श्लोकों का सुमधुर स्वर से गान करने लगे। जब राजा ने "तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्। श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः।।" यह श्लोक गाया तो उसे सुनकर श्रीमहाप्रभुजी बड़े सुखी हुये और प्रेमावेश में उठकर राजा का आलिंगन कर लिया और बोले-"तुमने मुझे बहुत अमूल्य रत्न दिये हैं। मेरे पास और कुछ देने को नहीं हैं, इसलिये मैं तुम्हें आलिंगन ही देता हूँ।" फिर श्रीप्रभु ने उसी प्रेमावेश में पूछा-"मेरा परमहित करने वाले तुम कौन हो?" राजा ने कहा- "प्रभो! मैं आपके दासों का एक क्षुद्र दास हूँ। आप मुझे अपने दासों का दास कर लीजिये।" तब श्रीमहाप्रभुजी ने राजा को अपना ऐश्वर्य दिखलाया और कहा कि इसे कहीं प्रकट नहीं करना। राजा रुद्रप्रताप के सौभाग्य को देखकर समस्त भक्त आनन्दित मन होकर प्रशंसा करने

लगे। राजा प्रभु को दण्डवत् करके बाहर चले आये और हाथ जोड़कर उन्होंने सभी भक्तों को भी प्रणाम किया। श्रीभक्तमाल के टीकाकार श्रीप्रियादासजी ने कवित्त-४०९ में इसी कथन का संक्षिप्त वर्णन किया है।

श्रीहरिनाथजी—आप दक्षिण देश के रहने वाले थे। घर धन-सम्पत्ति से भरा-पूरा था। श्रीभगवद्-भागवत परिचर्या ही इनकी प्रमुख साधना थी। एकबार स्वप्न में भगवान श्रीनर-नारायण ने इनको आदेश दिया कि सबकुछ छोड़कर मेरी सेवा में आ जाओ। इन्होंने श्रीभगवदादेश शिरोधार्यकर दूसरे दिन प्रात:काल ही सर्वस्व त्यागकर श्रीबदरिकाश्रम के लिए प्रस्थान कर दिया। वहाँ पहुँचकर मनसा-वाचा=कर्मणा भगवान की सेवा में लग गये। इनकी सेवा से रीझकर भगवान ने इन्हें निज अङ्ग सेवा में रख लिया।

श्रीगोविन्द ब्रह्मचारीजी—ये बड़े उदारमना, परोपकारी सन्त थे। एकबार एक भक्त को सभी मन्दिरों में दर्शन करते हुये तथा आंसू बहाते हुये देखकर इन्होंने दु:ख का कारण पूछा तो उसने बताया कि-''मैं घर से भगवत्सेवा एवं सन्त-सेवा निमित्त बीस स्वर्ण मुद्राएँ लेकर चला था। रास्ते में एक जगह विश्राम कर रहा था। वहीं मेरी सभी मुहरें किसी ने चुरा लीं। मेरे मन का मनोरथ नहीं पूर्ण हो सका। इस बात का मुझे बड़ा दु:ख है। इन्होंने कहा-''तुम शोक मत करो, जितना धन चाहो, मुझसे लेकर अपना मनोरथ पूर्ण कर लो।'' भक्त का हृदय प्रसन्नता से खिल उठा। उसने श्रीगोविन्द ब्रह्मचारीजी से द्रव्य लेकर अपने मन के अनुसार भगवान को भेंट चढ़ाया और सन्तों का भोज भण्डारा किया। उसी रात भगवान ने श्रीगोविन्दजी को स्वप्न में बताया कि-''भक्त की मुहरें अमुक ने चुरायी हैं। तब इन्होंने चोर को एकान्त में बुलाया और विविध प्रकार से उपदेश दिया। चोर ने सब मुहरें लाकर वापस कर दीं और वह स्वयं भी चोरी छोड़कर भक्त बन गया।

हरि सुजस प्रचुर कर जगत में ये कविजन अतिसय उदार।।
विद्यापति, ब्रह्मदास, बहोरन, चतुर विहारी।
गोविन्द, गङ्गा, रामलाल, वरसानियां मंगलकारी।।
प्रिय दयाल, परसराम, भक्त भाई, खाटीकौ।
नन्द सुवन की छाप कवित 'केशव' को नीकौ।।
आस करन, पूरन नृपति, भीषम, जनदयाल गुन नहिन पार।
हरि सुजस प्रचुर कर जगत में ये कविजन अतिसय उदार।।१०२।।

शब्दार्थ—प्रचुर कर=अधिक वर्णन करने वाले, प्रचारक। अतिसय=अधिक। उदार=बड़े दानी।

भावार्थ—श्रीहरि के सुन्दर यश का जगत में प्रचार करने वाले ये कविजन अत्यन्त उदार हुये। इनके नाम ये हैं-श्रीविद्यापतिजी, श्रीब्रह्मदासजी, श्रीबहोरनजी, श्रीचतुरकवि श्रीविहारीजी, श्रीगोविन्दस्वामीजी, श्रीगंगारामजी, जगत का कल्याण करने वाले बरसाना निवासी श्रीलालजी, श्रीप्रियदयालजी, श्रीपरशुरामजी, श्रीभक्त भाईजी, श्रीखाटीकजी, श्रीकेशवाचार्यजी, जो अपनी कविता में 'नन्द सुवन' की छाप लगाते थे तथा जिनकी कविता बड़ी ही अच्छी होती थी। श्रीआशकरनजी, राजापूर्णजी, श्रीभीष्मजी, श्रीजनदयालजी, इन सुकवियों के सद्गुणों का पार नहीं है।।१०२।।

व्याख्या—अतिशय उदार—श्रीभगवच्चरित गाने वालों को श्रीमद्भागवतजी में ''भूरिदा'' कहा गया है। यथा-''भुविगृणन्ति ते भूरिदा जनाः।'' (भा० १०/३१/९) अर्थ-''व्रजसुन्दरियाँ कहती हैं-''हे प्यारे! जो आपके कथामृत का कीर्तन करते हैं एवं उसका निरुपण करते हैं, वे सबसे बड़े दानी अर्थात् सर्व पदार्थों को प्रदान करने वाले हैं।'' आगे छप्पय-१४६ में श्रीनाभाजी ने स्पष्ट रूप से हरिगुण गायकों को ''भूरिदा'' कहा है। यथा-''गुनगन बिसद गोपालके एतेजन भये भूरिदा।।'' वही भाव यहाँ ''अतिशय उदार'' में है।

श्रीगोविन्द स्वामीजी

गोबर्धन नाथ साथ खेलैं सदा झेलैं रंग अंग सख्य भाव हिये गोविन्द सुनाम है।
स्वामी करि ख्यात ताकी बात सुनि लीजे नीके सुने सरसात नैन रीति अभिराम है।।
खेलत हो लाल सङ्ग गयौ लौट दाव लैकै मारी खैंचि गिल्ली देखि मन्दिर में स्याम है।
मानि अपराध साधु धक्कां दै निकारि दियौ मति सो अगाध कैसे जानै वह बाम है।।४१०।।

शब्दार्थ—झेलै रंग=प्रेम से अघाये, सन्तुष्ट रहैं। ख्यात=प्रसिद्ध। लाल=श्रीश्रीनाथजी, श्रीकृष्णजी। गिल्ली=गुल्ली, लड़कों के खेलने का लकड़ी का गोल छोटा टुकड़ा।

भावार्थ—जिनका सुन्दर नाम ''गोविन्द'' है, ऐसे श्रीगोविन्द नामक भक्तकवि श्रीठाकुरजी के प्रति हृदय में सख्य भाव रखते थे। आप श्रीगोवर्द्धननाथजी (ठाकुर श्रीनाथजी) के साथ नित्य खेला करते थे तथा अपार प्रेमरस में छके रहते थे। ये जनसमाज में ''श्रीगोविन्द स्वामी'' नाम से विख्यात थे। श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि-अब आप लोग उनकी वार्ता को अच्छी प्रकार से श्रवण कीजिये। उनकी प्रीति-रीति बड़ी ही मनोहारिणी थी।

उसे सुनने से नेत्र प्रेमाश्रुओं से भीगकर सरस हो जाते हैं। एकबार ये श्रीलालजी (श्रीनाथजी) के साथ गुल्ली-डण्डे का खेल खेल रहे थे। श्रीठाकुरजी दाँव दिये बिना ही भाग गये। श्रीगोविन्द सखा ने पीछा किया। श्रीश्यामसुन्दर श्रीनाथजी को मन्दिर में विराजमान देखकर इन्होंने क्रुद्ध होकर श्रीठाकुरजी को गुल्ली मारा। पुजारी ने देख लिया। उसने इनका अपराध मानकर इन्हें धक्का देकर मन्दिर से बाहर कर दिया। भला वह प्रेम विमुख इनकी इस अगाध भावप्रवणा बुद्धि को कैसे जान सकता था?।।४१०।।

व्याख्या—गोवर्द्धननाथ साथ खेलैं—अवतारकाल में श्रीकृष्ण की खेलने की साध पूरी नहीं हुई, क्योंकि कुल ग्यारह वर्ष तक ही तो बाललीला किये हैं। फिर तो मथुरा चले गये। प्रसंगवश यहाँ एक प्रश्न का समाधान कर दूँ कि भगवान ने ग्यारह वर्ष तक ही बाललीला क्यों की? तो इसका समाधान करते हुए सन्तजन यह कथा सुनाते हैं कि-"एकबार बड़े जोर का अकाल पड़ा। प्रजा भूखों मरने लगी। तब एक धनवान सेठ ने कुछ निर्माण कार्य प्रारम्भ कर दिया जिसमें एक घंटा का काम करने पर एक छटांक चून मिलता था। इस प्रकार लोगों को प्राण रक्षा का सम्बल मिल गया। उन्हीं दिनों एक ब्राह्मण के घर एक ऋषि आये। ब्राह्मण के घर में अन्न का एक दाना भी नहीं था, जिससे वह ऋषि का आतिथ्य-सत्कार करता। परन्तु शास्त्राज्ञा है कि अतिथि-सत्कार अवश्य करना चाहिये। जिसके घर से अतिथि भूखा लौट जाता है, वह उस घर के समस्त पुण्यों को ले जाता है और अपने समस्त पाप दे जाता है। अतः ब्राह्मण ने पास-पड़ोस से कुछ माँगकर ऋषि के जलपान का प्रबन्ध किया और सुखपूर्वक उन्हें घर पर ठहराकर स्वयं सेठ के यहाँ काम करने चला गया। ग्यारह घण्टा काम किया, ग्यारह छटांक चून मिला। लाकर सब ऋषि के सम्मुख रख दिया। ऋषि भी भूखे थे, अतः सब चून बनाकर अकेले ही पा गये। फिर प्रसन्न होकर उन्होंने ब्राह्मण से वर माँगने को कहा। निष्काम ब्राह्मण ने कुछ भी नहीं माँगा। जब ऋषि ने बहुत जोर दिया तो ब्राह्मण ने कहा-"यदि आप देना ही चाहते हैं, तो मुझे यही वर दीजिये कि भगवान मेरे पुत्र बनकर मुझे बाल-लीला का सुख दें।" ऋषि ठगे से रह गये। उन्होंने सोचा था कि गरीब ब्राह्मण है, स्वयं भूखा रहकर इसने मुझे भोजन कराया है तो कुछ धन-सम्पत्ति माँगेगा। परन्तु यह तो भगवान को ही माँग बैठा। मैं तो ठगा गया। परन्तु अब तो देना ही पड़ेगा। अतः ऋषिजी बोले-"तुमने ग्यारह घण्टे काम कर ग्यारह छटांक चून कमाकर मुझे खिलाया है, तो इसके बदले भगवान तुम्हारे यहाँ प्रकट होकर ग्यारह वर्ष तक बाललीला करेंगे।" वही ब्राह्मण दम्पत्ति कालान्तर में नन्द यशोदा हुये और भगवान श्रीकृष्ण ने ग्यारह वर्ष तक इनके यहाँ पर बाललीला की।

लेकिन इतने मात्र से न तो भगवान श्रीकृष्ण को भी सन्तोष हुआ न संग के सखाओं को ही। अतः भगवान पुनः कलियुग में श्रीनाथजी के रूप में प्रकटे और उनके सखा सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, कृष्णदास, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, नन्ददास आदि के रूप में प्रकट हुये।

श्रीगोविन्दस्वामीजी श्रीदामा सखा के अवतार थे। ''गोविन्द सुनाम है''–भक्त गोविन्द स्वामी का जन्म सं० १५६२ के लगभग भरतपुर राज्यान्तर्गत आँतरी ग्राम में सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। ये काव्य तथा संगीत शास्त्र के उच्चकोटि के विद्वान् थे। इन गुणों के साथ–साथ पवित्र ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के नाते इनके अनेक शिष्य थे, इसीलिये ये ''स्वामी'' कहलाते थे। ''मानि अपराध''–एक तो इन्होंने श्रीठाकुरजी को गुल्ली मारी थी, दूसरे गुल्ली अपवित्र होती है, वह जहाँ–तहाँ गिरती रहती है, कभी–कभी गन्दी नालियों में भी गिर जाती है। बालकों को तो खेल में इसका विचार नहीं रहता परन्तु मन्दिर में तो विचार किया जाता है। गोविन्द ने मन्दिर में गुल्ली फेंककर मारा था अतः पुजारी ने नाराज होकर धक्का देकर बाहर निकाल दिया। ''कैसे जानै वह बाम है''–इसके दो अर्थ होंगे। एक तो भावार्थ में दिया गया है। दूसरा अर्थ यह होगा कि वह सख्य रस वाम अर्थात् बड़ा टेढ़ा है। इसे भला वह कैसे जान सकता है। इस पर–

दृष्टान्त—एक ग्वारिया का—इसका श्रीकृष्ण के साथ सख्यभाव था। नन्दगाँव में रहता था। घर का गरीब था। सगाई की बात चल रही थी। कन्यापक्ष वाले इसे देखने के लिये आने वाले थे। जिस दिन उनका आना था, उस दिन इसने मौका लगाकर श्रीठाकुरजी की पोशाक पहन ली और स्वयं मैली–कुचैली पोशाक श्रीठाकुरजी को पहना दिया। वर देखने वाले उसे पसन्द कर विवाह करके चले गये। उधर श्रीठाकुरजी के पोशाक का हल्ला मचा तो किसी ने बता दिया कि मैंने अमुक ग्वारिया को पहने देखा। जब लोगों ने आकर इससे पूछा तो इसने कहा–''मेरी सगाई मारी जाती, अतः मैंने ठाकुर की पोशाक पहन ली थी। ठाकु की कौन सगाई मारी जा रही है।'' यह सख्यरस का बाँकापन। सख्य रस के सम्बन्ध में देखि पूर्वार्द्ध पृष्ठ–२६।

बैठ्यौ कुण्ड तीर जाय निकसैगो आय बन, दिये हैं लगाय ताको फल भुगताइ
लाल हिय सोच पर्‌यौ, कैसे भर्‌यौ जात वह अर्‌यौ मग मांझ भोग धर्‌यौ पै न खाइयै
कही श्री गुसाईंजी कौं, मोकों ये न भाई कछू चाहौ जौ खवावौ तोपै वाकों जा मनाइ
वाको हुतो दाँव मोपै, सो तौ भाव जान्यो नहीं कही मोसों बातैं सो कुमारे बेगि ल्याइयै।।४१

भावार्थ—साधु के द्वारा धक्का देकर मन्दिर से बाहर निकाले जाने पर श्रीगोविन्द सखा एक कुण्ड के किनारे जाकर बैठ गये और सोचने लगे कि आखिर वह (श्रीठाकुरजी) इसी मार्ग से तो निकलकर खेलने के लिये वन को जायेगा। उसने लगवार लगा दिया, जिसने हमें धक्का देकर बाहर निकाल दिया तो इसका फल उसे अवश्य चखाऊँगा। अब तो श्रीलालजी के हृदय में सोच हुआ कि दिन कैसे बीतेगा? मुझे तो खेले बिना बनेगा नहीं, और यह मार्ग में ही डटा बैठा है। अब इसे कैसे सन्तुष्ट किया जाय, कैसे इसका दाँव चुकाया जाय? इतने में गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी ने श्रीठाकुरजी के सामने भोग रखा। परन्तु वे भोग नहीं आरोगे। श्रीगोसाईंजी ने पूछा कि-''जै-जै'' आप आरोगते क्यों नहीं हैं?'' तो उन्होंने श्रीगोसाईंजी से कहा कि-''मुझको ये कोई भी पदार्थ अच्छे नहीं लग रहे हैं। यदि आप मुझको खिलाना चाहें तो पहले उसको (गोविन्द सखा को) प्रसन्न कीजिये। उसका मुझ पर दाँव था, परन्तु मैं अपना दाँव दिये बिना भाग आया था, इसलिये उसने मुझे गुल्ली मारी थी, इस भाव को तो पुजारी ने जाना नहीं, उल्टे उसका अपराध मानकर उसे धक्का देकर बाहर निकाल दिया। अब वह मुझको तमाम उल्टी-सीधी बातें सुना रहा है। अतः आप उस ब्राह्मण कुमार को शीघ्र मनाकर मेरे पास लाइये तब भोग अरोगूँगा।।४११।।

बन बन खेले बिन बनत न मोकौं नेकु भनत जु गारी अनगनत लगावैगो।
सुधि बुधि मेरी गई भई बड़ी चिन्ता मोहिं ल्याइये जू ढूँढ़ि कहूँ चैन ढिंग आवैगो।।
भोग जे लगाये मैं तौ तनक न पाये रिस वाकी जब जाये तब मोहूं कछु भावैगो।
चले उठि धाये नीठ नीठकै मनाय ल्याये मन्दिर में खाय मिल कही गरें लावैगो।।४१२।।

शब्दार्थ—भनत=बकत, बड़बड़ात, देत। नीठ नीठ=बड़ी कठिनता से।

भावार्थ—श्रीठाकुरजी ने कहा-मुझे वन-वनान्तर में जाकर खेले बिना मुझे तनिक भी अच्छा नहीं लगता और वह मार्ग में बैठा हुआ अगणित गालियाँ दे रहा है। यदि मैं बाहर निकलूँगा तो वह बहुत मार लगायेगा। मेरे तो होश-हवास जाते रहे, मुझे बहुत चिन्ता हो गयी है। जब आप उसे कहीं से खोजकर, मनाकर मेरे पास लाइयेगा तब मुझे चैन पड़ेगा। आपने जो भी भोग रखे हैं, उसमें से मैंने तनिक भी नहीं पाया है। जब उसका क्रोध शान्त होगा तभी मुझको भी कुछ अच्छा लगेगा। तब श्रीगुसाईंजी गोविन्द सखा को मनाने चले तो यह उन्हें अपनी ओर आता हुआ देखकर उठ भागे। श्रीगुसाईंजी बड़ी कठिनाई से इन्हें मनाकर मन्दिर में लिवा लाये और बोले कि तुम्हारे सखा (श्रीठाकुरजी) ने कहा है कि हम दोनों एक साथ बैठकर मिलकर खायेंगे और परस्पर गले से लगकर मिलेंगे।।४१२।।

व्याख्या—बन बन खेले बिन०—श्रीगुसाईंजी ने कहा कि तो क्या जरूरत है वन-वन जाकर खेलने की। मन्दिर के आँगन में ही खेल लिया करो। यहाँ ही ठीक रहेगा। छोड़ो गोविन्द का साथ। तब श्रीठाकुरजी ने कहा-"मुझे आँगन में खेलना सुहायेगा ही नहीं और बाहर का मार्ग वह बन्द किये है। "भनत जुगारी"-यथा-"पोत लै आयो भाजि गँवार। खोलि किवार धँस्यो घर भीतर सिखै दिये लँगवार।। कबहूँ तौ निकसैगो बाहर ऐसी दउँगो मार। गोविन्द प्रभु सौं बेरऽब करिकै सुखी न सोवै यार।।" "नीठ नीठकै मनाय ल्याये" -श्रीगोसाँईंजी तो मनाने के लिये चले थे, परन्तु गोविन्द ने समझा कि श्रीठाकुरजी ने गुसाईंजी से शिकायत की होगी, अतः ये मुझे मारने के लिये आ रहे हैं। श्रीगुसाईंजी के हाथ में छड़ी थी। छड़ी लेने का वास्तविक हेतु तो यह था कि श्रीगुसाईं का एक तो वृद्ध शरीर था दूसरे स्थूलकाय भी थे, अतः बिना छड़ी का सहारा लिये चल नहीं सकते थे। परन्तु गोविन्द तो डर गये कि ये मुझे मारने के लिये ही लिये हैं। अतः वह डरकर भागे। श्रीगुसाईंजी बड़े प्रेम से बुलाते कि-"अरे बेटा गोविन्दा! नेक मेरी सुन तो।" गोविन्द कहते-"आप मारेंगे।" जब श्रीगुसाईंजी ने बहुत-बहुत विश्वास दिलाया, तब जैसे-तैसे लौटकर आया। "गरे लावैगो" गोविन्द मन ही मन सोचते आ रहे थे कि यदि मुझे देखकर वह (श्रीठाकुरजी) सिर नीचा कर लेंगे तब तो माफ कर दूँगा और यदि तनिक भी सिर उठाये तो बिना मारे नहीं छोड़ूँगा, चाहे कुछ भी हो जाय। भगवान ने भक्त की बात रख दी। गोविन्द को देखते ही सिर झुका लिया। गोविन्द का क्रोध शान्त हो गया। अब तो दोनों ने संग-संग पाया और गले से लगकर मिले।

गये हे बहिरभूमि तहां कृष्ण आये झूमि करी बड़ी धूम आक बोड़िन सौं मारिकै।
इनहूँ निहारि उठि मारि दई वाहीं सों जु कौतुक अपार सख्य भाव रससार कै।।
माता मग चाहै, बड़ी बेर भई आई तहाँ कहाँ बार लाई ओट पाई उरधारि कै।
आयौ यों विचार अनुसार सदाचार कियौ लियो प्रेम गाढ़ कभूँ करत सँभारि कै।।४१३।।

शब्दार्थ—बहिर भूमि=मल त्याग करने के लिये, डोलडाल। धूम=ऊधम, उत्पात, हलचल। आक=अर्क, मन्दार। बोड़िनसों=फलियों से। मग चाहें=रास्ता देखे। ओटपाई=ऊधमी अथवा ओट=सहारा, बचाव।

भावार्थ—एकदिन गोविन्द सखा शौच के लिये बाहर जंगल में गये हुये थे। प्रेम में झूमते हुये श्रीकृष्ण भी वहाँ आ गये। श्रीकृष्ण ने वहाँ बड़ा ऊधम मचाया। वे गोविन्द को मन्दार के फलों से मारने लगे। इन्होंने भी जब श्रीकृष्ण को देखा तो उठकर उन्हीं फलों से उनको भी मारे। इस प्रकार श्रीकृष्ण और गोविन्द सखा के बीच अपार कौतुक हुये।

श्रीभक्तमालजी के टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि–''अरे भाई! यह सख्यभाव भक्तिरस का सार जो ठहरा। उधर इनकी माता मार्ग देख रही थीं। जब बहुत देर हो गई और ये घर नहीं गये तब इनकी माता ही वहाँ आयीं। गोविन्द की माता को आया हुआ देखकर श्रीठाकुरजी ने हृदय में विचार किया कि अब ऊधम करना ठीक नहीं है, अत: गोविन्द की ओट में छिप गये, इसी बहाने से गोविन्द की मार से बच गये। गोविन्द को देखकर मैया ने कहा–''अरे ओटपाई (उपद्रवी)! तूने इतनी देर कहाँ लगायी।'' गोविन्द बिना कुछ बोले मैया के संग चल पड़े। फिर थोड़ी देर बाद विचार आया कि मैं तो शौच करने बैठा था, परन्तु शुद्धि तो की नहीं, तो तुरन्त इन्होंने नियमानुसार शरीर की शुद्धि रूप सदाचार किया। श्रीप्रियादासजी जी कहते हैं कि श्रीगोविन्द सखा का श्रीठाकुरजी में प्रगाढ़ प्रेम था, अत: श्रीठाकुरजी के साथ खेलते समय ये प्राय: लौकिक सदाचार करना भूल ही जाया करते थे। फिर जब कभी याद आयी तो कर लेते थे।।४१३।।

आवत हो भोग महासुन्दर सुमन्दिर कौं रह्यौ मग बैठि, कही, आगे मोहिं दीजियै।
भयौ कोप भार, थार डारि, जा पुकार करी, भरी न अनीति जात सेवा यह लीजियै।।
बोलिकै सुनाई, अहो कहा मन आई? तब बोलिकै वताई अजू बात कान कीजियै।
पहिले जु खाय बनमाँझ उठि जाय, पाछे पाऊँ कहाँ धाय सुनि मति रस भीजियै।।४१४।।

शब्दार्थ—भार=अधिक। भरी=सही।

भावार्थ—एक दिन मन्दिर में श्रीठाकुरजी के लिये परम सुन्दर भोग आ रहा था। गोविन्द सखा मार्ग में ही बैठे थे। रसोईया से बोले कि–''पहले मुझे भोग लाकर दीजिये फिर बाद में मन्दिर में ले जाना। इतना सुनते ही रसोईया को अपार क्रोध हुआ। उन्होंने भोग का थाल पृथ्वी पर पटक दिया और श्रीगुसाईं विट्ठलनाथजी से जाकर पुकार की कि अब हमसे गोविन्द की अनीति नहीं सही जाती है। अब आप अपनी यह रसोई की सेवा लीजिये अर्थात् हमसे नहीं होने की है, किसी और से करा लीजिये। तब श्रीगुसाईंजी ने गोविन्द को बुलाकर रसोईया की बात सुनाई और कहा–''तेरे मन में क्या आई है, जो श्रीठाकुरजी से पहले अपने लिये भोग माँग रहा है।'' तब गोविन्द सखा ने कहा–''अजी गुसाईंजी! मैं इसका रहस्य बताता हूँ। मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनिये। यह आपके ठाकुरजी पहले खाकर वन को चले जाते हैं और मैं भोजन करके बाद में वन को जाता हूँ तो ये मुझे मिलते ही नहीं है। मैं ढूँढ़-ढूँढ़कर हार जाता हूँ।'' यह सुनकर श्रीगुसाईंजी की बुद्धि प्रेमरस में भीग गयी।।४१४।। (तभी से गुसाईंजी ने ऐसी व्यवस्था

कर दी कि मन्दिर में थार जाते समय ही अमनियाँ एक थार गोविन्द सखा को दे दिया जाता। जिससे साथ-साथ वन में जाकर सानंद खेल सकें।)

विशेष—नित्यलीला परिकर होने के कारण श्रीगोविन्द स्वामी को भक्ति का संस्कार जन्मजात था तथा कवित्व शक्ति भी स्वतः सिद्ध थी। अतः बचपन से ही कविता करने लगे थे। इनके पदों को सीखकर बहुत से गायक जहाँ-तहाँ बहुत सम्मान प्राप्त करते थे। कोई-कोई वैष्णव जब इनके पद गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी के सम्मुख गाते तो गुसाईंजी बहुत प्रसन्न होते और उसे श्रीठाकुरजी का भोग प्रसाद प्रदान करते। वैष्णवजन आकर श्रीगोविन्द स्वामी को यह खुशखबरी सुनाते। एकबार श्रीभगवदिच्छा से श्रीवृन्दावन में श्रीगोविन्द स्वामी का श्रीगुसाईंजी के एक सेवक से मिलाप हुआ। सत्संग वार्ता के सिलसिले में श्रीगोविन्द स्वामी ने पूछा कि-"श्रीठाकुरजी की लीलाओं का साक्षात् दर्शन कैसे हो?" तब उस वैष्णव ने कहा कि-"मैं इस सम्बन्ध में फिर कभी कहूँगा।" इन्होंने कहा कि-"मैं तो यह रहस्य जानने के लिये अत्यन्त आर्त हूँ और आप कहते हैं-पीछे कहूँगा। मैं कब तक यों ही अज्ञान में पड़ा रहूँगा?" तब उस वैष्णव को इन पर दया आई और वह बोला-"आजकल तो श्रीठाकुरजी को श्रीविट्ठलनाथजी ने अपने वश में कर रखा है। अतः श्रीठाकुरजी की प्राप्ति तो उन्हीं के द्वारा हो सकती है।" तब श्रीगोविन्द स्वामीजी ने उस वैष्णव से निवेदन किया कि मुझे श्रीगोकुल ले चलो और श्रीगुसाईंजी का सेवक बनवा दो। दूसरे दिन दोनों गोकुल आये। उस समय श्रीविट्ठलनाथजी श्रीठकुरानी घाट पर स्नान करके सन्ध्या-वन्दन कर रहे थे। यह देखकर श्रीगोविन्द स्वामी को सन्देह हुआ कि श्रीठाकुरजी तो प्रीति के अधीन हैं और ये कर्मकाण्डरत दिखाई पड़ते हैं, तो भला श्रीठाकुरजी क्योंकर इनके अधीन होंगे। इतने में श्रीगुसाईंजी अपने नित्य कृत्य से निवृत्त होकर इनके समीप आकर पूछे-"गोविन्द! तुम कब आये? प्रश्न सुनकर ही इनका संदेह निवृत्त हो गया। ये समझ गये कि श्रीगुसाईंजी तो श्रीठाकुरजी की तरह सर्वज्ञ जान पड़ते हैं। क्योंकि बिना पूर्व की किसी जान-पहचान के परिचित सरीखे नाम लेकर कुशल पूछ रहे हैं। लगता है कि हमारी इनकी पुरानी (जन्म-जन्मान्तर) की जान-पहचान है। इन्होंने उत्तर में कहा-"महाराज! अभी आया हूँ।" तत्पश्चात् श्रीगुसाईंजी ने राजभोग के अनन्तर इन्हें श्रीठाकुरजी का दर्शन कराया तो साक्षात् बालरूप का दर्शन हुआ। अब तो श्रीगोविन्द स्वामीजी से नहीं रहा गया। इन्होंने श्रीगुसाईंजी से प्रेम भरा उपालम्भ देते हुये कहा-"महाराज! आपने प्रथम तो मुझे अपना कर्मकाण्डी रूप दिखाया और अब देखता हूँ तो आपके यहाँ साक्षात् श्रीप्रभु विराजे हैं।"

वा० १०२, क० ४१४)

तब श्रीगुसाईंजी ने कहा-"गोविन्द! बात यह है कि भक्ति तो फूल रूपी है और कर्म मार्ग काँटा रूप है। जैसे काँटों से फूलों की रक्षा होती है उसी प्रकार कर्म मार्ग रूपी काँटों की बाड़ से भक्तिरूपी फूल की सुरक्षा होती है। अत: मैंने कर्मयोग की रीति दिखलायी।" रहस्य की यह बात सुनकर श्रीगोविन्द स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुये। फिर इनके अनुरोध पर श्रीगुसाईंजी ने इन्हें विधिपूर्वक वैष्णव-दीक्षा दी, ब्रह्म सम्बन्ध कराया। अब ये गोविन्दस्वामी से गोविन्ददास हो गये। इन्होंने ने अपनी जन्मभूमि आँतरी छोड़कर श्रीगोकुल (महावन) को ही अपना निवास स्थान बनाया। इन पर श्रीगुसाईंजी बहुत कृपा करते।

श्रीगोविन्ददासजी नित्य महावन के एक टीले पर बैठकर पद-कीर्तन करते थे। श्रीठाकुरजी नित्य इनके पदों को सुनने वहाँ आते थे। कभी-कभी ठाकुरजी भी इनकी तान में तान मिलाकर पद गाने लगते थे। एकदिन मदनगोपालदास नाम के एक वैष्णव इनके समीप बैठकर पद श्रवण कर रहे थे। श्रीठाकुरजी भी इनके साथ गा रहे थे। तान में तनिक अन्तर देखकर इन्होंने श्रीठाकुरजी से कहा कि-"तान सूधी लो।" मदनगोपालदास को आश्चर्य हुआ कि यहाँ तो कोई और है नहीं, यह किससे कह रहे हैं? उन्होंने पूछा भी, तो इन्होंने बात टाल दी कि मैं यों ही बका करता हूँ। परन्तु आखिर एकदिन रहस्य उद्घाटन हो ही गया। श्रीविट्ठलनाथजी ने एक दिन पूछा-"गोविन्द! श्रीठाकुरजी कैसा गाते हैं?" तब इन्होंने कहा-"महाराज! श्रीठाकुरजी जैसा गाते हैं वैसा तो गाते ही हैं, श्रीस्वामिनीजी उनसे भी बढ़िया गाती हैं। श्रीविट्ठलनाथजी गोविन्द के ऊपर युगल की कृपा विचारकर मुस्क्या गये।

एकदिन इनकी जन्मभूमि आँतरी ग्राम से कुछ लोग इनसे मिलने आये। ये श्रीयशोदा घाट पर बैठे थे। उन लोगों ने इन्हें पहचाना नहीं, इनसे ही पूछने लगे-"गोविन्द स्वामी कहाँ रहते हैं?" इन्होंने कहा-"उनको मरे तो बहुत दिन हो गये।" उन लोगों को विश्वास नहीं हुआ। वे पता लगाते-लगाते इनके घर पहुँचे। इतने में ये भी घर आ गये। इनकी बहिन कान्हाबाई ने कहा कि-"यही है गोविन्द स्वामी।" तब उन लोगों ने इनसे पूछा कि-"आपने ऐसा क्यों कहा है कि उनको मरे बहुत दिन हो गये।" तो उन्होंने बताया कि-"आप लोगों ने स्वामी कहकर पूछा था, तो मेरे स्वामीपने का तो कब का अन्त हो गया है, अब तो मैं दास हो गया हूँ।" इनकी यह प्रेम भरी वाणी सुनकर लोग बड़े प्रभावित हुये और इनसे प्रार्थना किये कि हमें भी नाम सुना दीजिये। इन्होंने कहा कि-"नाम सुनाने के अधिकारी तो स्वामी ही होते हैं, दास नहीं। फिर सबको लेकर श्रीविट्ठलनाथजी का शिष्य करा दिया।

श्रीयमुनाजी में ये साक्षात् श्री श्रीजी की भावना करते थे। अत: कभी भी उनमें पाँव नहीं डालते थे। स्नानादि कुँए पर ही करते थे। एकदिन श्रीगुसाईंजी के पुत्र श्रीबालकृष्णजी और श्रीगोकुलनाथजी ने इन्हें जबर्दस्ती पकड़कर श्रीयमुना स्नान कराना चाहा, तो इन्होंने अपनी निष्ठा की बात बतायी। तब उन लोगों ने इन्हें छोड़ दिया और स्वयं भी बड़े भावपूर्वक श्रीयमुनाजी का दर्शन करने लगे। तब उन लोगों को भी श्रीयमुनाजी ने श्रीजी के रूप में दर्शन दिया था।

एकदिन श्रीगुसाईंजी श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के अठारहवें अध्याय ''वेणुगीत'' के अन्तिम श्लोक की व्याख्या कर रहे थे। रस का प्रसंग होने से वक्ता-श्रोता ऐसे भाव-विभोर हो गये कि आधी रात हो गयी, व्याख्या पूरी नहीं भयी। तब श्रीगुसाईंजी सबको शयन का आदेश देकर स्वयं भी शयन करने चले गये। श्रीगोविन्ददासजी अपने घर को जा रहे थे। मार्ग में बैठक में श्रीबालकृष्णजी, श्रीगोकुलनाथजी एवं और भी बहुत से वैष्णव मिले। श्रीगोकुलनाथजी ने पूछा-''आज घर जाने में इतनी देर क्यों लगाई? इन्होंने कहा-''महाराज! श्रीगुसाईं के श्रीमुख से कथामृत का पान करने में कुछ विलम्ब हो गया।'' उन्होंने पूछा-''व्याख्या कैसी थी?'' इन्होंने गद्गद होकर कहा-''महाराज! अपनी बात आप स्वयं कहें तो उसकी क्या तुलना? अर्थात् श्रीगुसाईंजी तो साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं। वे स्वयं अपनी लीला का आप ही वर्णन कर रहे हैं, भला वैसा वर्णन कोई और कर ही कैसे सकता है?'' तब श्रीगोकुलनाथजी सबके समक्ष कहा-''श्रीगोविन्ददासजी ने श्रीगुसाईंजी के स्वरूप को अच्छी तरह जाना है। तत्पश्चात् श्रीगोविन्द दासजी सबको प्रणाम करके घर गये।

कवित्त ४१० में श्रीप्रियादासजी ने जो लिखा है कि-''गोवर्धननाथ साथ खेलैं सदा'' सो सचमुच श्रीनाथजी श्रीगोविन्ददासजी के साथ नित्य वन-वन में जाकर क्रीड़ा करते थे। एकदिन दोनों अप्सरा कुण्ड पर खेल रहे थे। खेल समाप्त होने पर गोविन्ददास जब गिरिराज पर आये तो देखे कि यहाँ तो राजभोग की आरती हो चुकी है। तब इन्होंने कहा कि श्रीठाकुरजी तो मेरे साथ अप्सरा कुण्ड पर खेल रहे थे, अभी-अभी मन्दिर में आये हैं फिर भोग किसको लगा, किसने आरोगा? तब श्रीगुसाईं ने पुन: रसोई बनवायी, भोग लगाया और आरती की। एकबार श्रीगोपालदासजी भीतरिया ने भी श्रीनाथजी एवं गोविन्ददास को पूछरी की ओर से आते देखा था। उन्होंने ने श्रीगुसाईंजी से कहा तो श्रीगुसाईंजी ने भी उनके कथन का समर्थन किया।

एकदिन उत्थापन के समय गोविन्ददासजी श्रीनाथजी का दर्शन कर रहे थे। इन्होंने देखा कि श्रीठाकुरजी की पाग की पेंचें ढीली पड़ गई हैं तो ठाकुरजी से पूछे-''जै-जै!

पाग की पेंचें खुली क्यों हैं? जरा सँभाल लीजिये अपनी पाग को।'' श्रीठाकुरजी ने कहा-''गोविन्ददास! तुम पाग बहुत अच्छी बाँधता है, आज तू ही मेरी पाग सँभाल दे।'' तब श्रीगोविन्ददासजी मन्दिर में घुसकर श्रीठाकुरजी की पाग बाँधे। भीतरिया ने श्रीगुसाईंजी से शिकायत की कि गोविन्ददास ने मन्दिर में प्रविष्ट होकर श्रीठाकुरजी का स्पर्श किया है, छूकर पाग बाँधी है। श्रीगुसाईंजी ने कहा-''गोविन्ददास के छूने से श्रीनाथजी नहीं छू जाते हैं। वे तो नित्य गोविन्ददास के साथ खेलते रहते हैं।

एकदिन श्रीगुसाईंजी श्रीनाथजी का शृङ्गार कर रहे थे और श्रीगोविन्ददासजी जगमोहन में कीर्तन कर रहे थे। श्रीनाथजी श्रीगुसाईंजी की दृष्टि बचा-बचाकर गोविन्ददासजी को कांकरी मार रहे थे। जब आठ कांकरी मार चुके तब श्रीगोविन्ददासजी ने भी एक कांकरी श्रीनाथजी को मारी। श्रीनाथजी चौंक पड़े। श्रीगुसाईंजी ने पूछा-''जै-जै, क्या बात है?'' श्रीनाथजी ने कहा-''गोविन्द ने कांकरी मारी है?'' श्रीगुसाईंजी ने झुँझलाकर कहा-''क्यों रे गोविन्दा! सेवा के समय भी उधम करता है।'' तब तो गोविन्ददासजी ने भी रिसियाकर कहा-''गुसाईंजी! आपको अपने ठाकुरजी का दोष दिखलायी नहीं पड़ता है, मुझे ही आँख तरेर रहे हो! कहावत सच है-''अपनों पूत सपूत दूसरे को मूली गाजर।'' आप भी अपने पूत को तो सपूत मानते हो और दूसरे के पूत को मूली गाजर समझते हो? देखो हमारी ओर, जब आपके ठाकुरजी ने आठ कांकरी मुझको मारी, तब तो आपको नेकहूँ रिस नहीं आई और जब मैंने एक कांकरी मार दी तो आप आँखें लाल-पीली कर रहे हो। यह सुनकर श्रीगुसाईंजी हँस गये।

एकबार श्रीगोविन्ददास की बेटी आँतरी ग्राम से मिलने आयी। कुछ दिन रही भी। परन्तु इन्होंने उससे कुशल-मङ्गल नहीं पूछा। इनकी बहिन कान्हबाई ने कहा भी कि-''बेटी को आये इतने दिन हो गये, परन्तु तुमने बात भी नहीं पूछी।'' इन्होंने कहा-''कन्हिया! मन तो एक ही है, चाहे इसे श्रीठाकुरजी में लगा लो, चाहे बेटी में। मैंने तो श्रीठाकुरजी में लगा रखा है, अत: बोलने का अवकाश ही कहाँ रहा?'' कहते हैं कि जब इनकी बेटी अपने घर जाने लगी तो श्रीगुसाईंजी की बहू-बेटियों ने उसे कुछ प्रसाद स्वरूप में वस्त्रादि दिया। परन्तु जब गोविन्द दासजी को यह पता चला तो इन्होंने यह कहकर वापस करा दिया कि-''गुरु-गोविन्द को तो कुछ देना ही चाहिये, इनसे लेने की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

एकदिन बसन्त के समय ये लीला का चिन्तन करते हुये धमार पद गा रहे थे। लीला के प्रसंग में श्री श्रीजी औचक ही आकर श्रीठाकुरजी के गाल में अबीर, गुलाल, अरगजा, कुंकुम लगाकर भाग गयीं तो श्रीगोविन्ददासजी ने उतना ही गाकर कि-''अरगजा

कुंकुम घोरिकै प्यारी लीन्हों कर लपटाइ। अचकाँ अचकाँ आइ करि भाजी गिरिधर गाल लगाइ।।'' पद को पूरा किये बिना ही पद गाना बन्द कर दिया। श्रीगुसाईंजी ने पूछा-''गोविन्द! तुमने पद पूरा किये बिना ही गान क्यों बन्द कर दिया? इन्होंने कहा-''गुसाईंजी! क्या करूँ, खेल ही खतम हो गया, अब आगे गाऊँ क्या?'' श्रीजी भागीं तो उनके साथ मेरी धमार भी भाग गयी। यह विनोदवार्ता सुनकर श्रीगुसाईंजी बहुत प्रसन्न हुये। तब पद की पूर्ति श्रीगोकुलनाथजी ने की।

श्रीगोविन्ददासजी को पगड़ी बाँधने का बहुत शौक था। ये पाग बहुत अच्छी बाँधते भी थे। परन्तु गरीब होने के कारण इनके पास पाग बाँधने के लिये समुचित वस्त्र का अभाव था, अतः कई वस्त्र खण्ड मिलाकर पाग बाँधते थे। एकदिन एक ब्रजवासी इनकी पाग देखकर मोह गया और इनके सिर से पाग उतार ली। इन्होंने कहा-''सारे! सोरह टूक की मेरी पाग है, सँभाल के रखना।'' ब्रजवासी ने तुरन्त इस महा अकिंचन को प्रणाम कर पाग वापस कर दी।

ये बड़े विनोदी भी थे। एकदिन एक आदमी मनमुखी ढङ्ग से बहुत ही बेसुरा गा रहा था। इन्होंने उसे टोका तो उसने कहा-''मैं तो अपने भगवान को रिझा रहा हूँ। मुझे स्वर-ताल से क्या प्रयोजन?'' इन्होंने कहा-''बावरे! जब तेरे गान पर मनुष्य ही नहीं रीझेंगे तो भगवान क्या रीझेंगे?'' इनका तात्पर्य यह था कि जो भी साधन किया जाय, वह श्रीगुरु-उपदिष्ट विधि से किया जाय, तब भगवान प्रसन्न होते हैं।

एकदिन श्रीनाथजी श्याम ढाक पर बैठे हुये मुरली बजा रहे थे। ग्वाल-बाल सब नीचे बैठे थे। श्रीगोविन्ददासजी एक चबूतरा पर बैठकर पद-कीर्तन कर रहे थे। इतने में उत्थापन-भोग का समय हुआ। श्रीगुसाईंजी स्नान करके सेवा निमित्त पधारे। श्रीनाथजी ढाक पर से कूदकर तुरन्त मन्दिर को भागे और जाकर सिंहासन पर विराजमान हो गये। उतावली में श्रीनाथजी का बागा ढाक में उलझकर फट गया। उसका फटा हुआ टुकड़ा ढाक में उलझा ही रह गया। उधर जब श्रीगुसाईंजी ने मन्दिर का पट खोला तो उन्हें बागा फटा दिखाई पड़ा। प्रथम तो उन्होंने श्रीठाकुरजी से प्रेमपूर्वक पूछा कि-''जै-जै यह, नया बागा इतनी जल्दी फट कैसे गया?'' परन्तु श्रीठाकुरजी ने भयवश कुछ भी उत्तर नहीं दिया। केवल मुस्कुराकर सिर नीचा कर लिये। तब श्रीगुसाईंजी ने अन्य सेवकों से पूछा कि-''यहाँ कोई आया तो नहीं था?'' उन सबों ने कहा-''महाराज! इस दरम्यान तो कोई नहीं आया था।'' श्रीगुसाईंजी चुप लगा गये। भोग लगाकर अपनी बैठक में अनमने से होकर जा बैठे।

इतने में ही गोविन्ददासजी आ गये। उन्होंने श्रीगुसाईंजी को अनमना देखकर पूछ ही दिया कि-''आज आप उदास क्यों बैठे हैं?'' प्रथम तो उन्होंने कुछ टाल-मटोल किया, परन्तु आग्रह करने पर बताया कि-''गोविन्द! आज न जाने श्रीठाकुरजी ने कौन-सी लीला की है जो उनका बागा फट गया है। पता नहीं किसी से कुछ अपराध तो नहीं बन गया है।'' तब गोविन्ददासजी ने हँसकर कहा-''गुसाईंजी! आप भी बड़े भोरे हैं। अरे, आप अपने लालजी (श्रीठाकुरजी) का स्वभाव तो जानते ही हैं कि वे कितने चपल हैं। चलिये, मैं आपको दिखाऊँ कि इनका बागा कहाँ फटा है और कैसे फटा है?'' फिर गोविन्ददासजी ने श्रीगुसाईंजी को ले जाकर श्याम ढाक पर अटका हुआ वह बागे का टुकड़ा दिखलाया और समस्त वृत्तान्त बताया। श्रीगुसाईंजी वह टुकड़ा लेकर मन्दिर को आये और बागे से मिलाकर देखे तो निश्चय हो गया कि श्रीनाथजी के बागे से ही फटा है। तब श्रीगुसाईंजी श्रीनाथजी की ओर देखकर हँस गये और श्रीनाथजी भी श्रीगुसाईंजी की ओर देखकर हँस गये। श्रीगुसाईंजी गोविन्ददास पर बहुत प्रसन्न हुये और उसी दिन से सेवा में यह नियम बना दिये कि भोग के समय प्रथम तीन बार घण्टानाद, फिर तीन बार शंखनाद करके कुछ देर तक रुककर तब भोग धरा जाय, जिसमें श्रीठाकुरजी को इतना श्रम न करना पड़े।

एकदिन प्रात:काल के समय श्रीगोविन्ददासजी श्रीयशोदाघाट पर बैठकर भैरवी राग में पद गा रहे थे। सुनकर श्रोतागण भाव-विभोर हो रहे थे। कहते हैं कि श्रोताओं में बादशाह अकबर भी छिपकर इनका पद सुन रहा था। पद सुनकर वह ऐसा मुग्ध हुआ कि उसके मुख से बरबस 'वाह-वाह' निकल पड़ा। परन्तु उसके 'वाह-वाह' से श्रीगोविन्ददासजी को प्रसन्नता नहीं हुयी, बल्कि उन्हें इस बात की बड़ी ग्लानि हुयी कि म्लेच्छ ने इस राग को सुन लिया। अब तो यह राग जूठा हो गया। अब भला मैं इसे प्रभु के समक्ष कैसे गा सकूँगा? उसी दिन से श्रीगोविन्ददासजी ने कभी भी भैरवी राग में कोई पद नहीं गाया।

एकबार संगीत सम्राट तानसेन गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजी को अपने गान से रिझाने गोकुल पहुँचे। बादशाह के दरबार का गायक जानकर श्रीगुसाईंजी ने तानसेन का सम्मान किया और उनका पद सुनकर पारितोषिक में उन्हें १०००) एक हजार रुपया और एक कौड़ी दिया। तानसेन की समझ में नहीं आया कि श्रीगुसाईंजी ने रुपयों के साथ कौड़ी क्यों दी है। आखिर उन्होंने इसका रहस्य श्रीगुसाईंजी से पूछा। तब उन्होंने बताया कि-''बादशाह के गवैया हो, अत: सम्मान में एक हजार रुपये दिये और हमारे श्रीठाकुरजी के कीर्तनियाँ गोविन्ददासजी के सप्रेम कलात्मक गान के समक्ष आपका कोरा कलात्मक गान एक कौड़ी का लगा, अत:

मैंने एक कौड़ी भी दी। तानसेन का मन मचल उठा श्रीगोविन्ददासजी का गान सुनने को। श्रीगुसाईंजी ने बुलाकर श्रीठाकुरजी के सामने गवाया तो तानसेन ने कहा-''महाराज! आपने इनके गान के समक्ष मेरे गान की कीमत जो एक कौड़ी आँकी थी वह अधिक थी। वस्तुतस्तु इनके सामने तो मेरा गान एक कौड़ी का भी नहीं है।

एकदिन एक वैष्णव ने श्रीगोविन्ददासजी को खड़े-खड़े लघुशंका करते देखा तो उन्होंने श्रीगुसाईंजी से इनकी शिकायत की। इतने में श्रीगोविन्ददासजी श्रीगुसाईंजी का दर्शन करने आये तो आप श्री ने इनसे पूछा कि-''गोविन्द! तुमने आचार-विचार को एकदम तिलांजलि क्यों दे दी? देखो, ये वैष्णव आपकी शिकायत कर रहे हैं। इन्होंने हाथ जोड़कर कहा-''गुसाईंजी! आप तो सर्वान्तर्यामी हो। आपसे कुछ भी छिपा नहीं है। फिर भी मैं आपसे कहता हूँ कि क्या घोड़ा कभी बैठकर लघुशंका करता है? अरे, उस समय श्रीनाथजी मुझे घोड़ा बनाकर मेरे कंधे पर सवार होकर वन में खेलने जा रहे थे। तभी मुझको लघुशंका लगी, तो भला मैं बैठकर कैसे कर सकता था? इसीलिये मैंने खड़े-खड़े ही लघुशंका किया। इस अन्धे ने मुझे लघुशंका करते तो देख लिया परन्तु श्रीनाथजी तो इसे दिखाई नहीं पड़े। अत: शिकायत करने चला आया। श्रीगुसाईंजी सुनकर मुस्क्या गये।

कान्हा नाम का एक भंगी का बालक था। वह नित्यप्रति श्रीनाथजी के मन्दिर के सामने झाड़ू लगाने आता था। उसकी भी श्रीनाथजी के चरणों में अनन्य प्रीति थी। श्रीनाथजी जैसे गोविन्ददासजी के साथ खेलते थे वैसे ही कान्हा के साथ भी क्रीड़ायें करते थे। एकदिन श्रीनाथजी और श्रीगोविन्ददासजी कान्हा के साथ खेल रहे थे। खेल में कान्हा हार गया तो श्रीनाथजी ने उसे घोड़ा बनाया और उसकी पीठ चढ़े। जब खेल खत्म हो गया और श्रीनाथजी मन्दिर में जाने लगे तो श्रीगोविन्ददासजी ने कहा-''जै-जै, श्रीगुसाईंजी तो मन्दिर में बड़ा आचार-विचार करते हैं और आप अब भंगी को छूकर मन्दिर में प्रवेश करेंगे, राजभोग आरोगेंगे, इस प्रकार आप मर्यादा मिटाकर भ्रष्टाचार फैलायेंगे। यह उचित नहीं है। मुझसे तो यह अनीति सही नहीं जा सकती। मैं तो श्रीगुसाईंजी से शिकायत करूँगा। श्रीठाकुरजी ने कहा-''भैया ऐसा नहीं करना। मुझे जी भरकर अपने सखाओं के साथ खेलने दो। मैं तुम्हारी हा-हा खाता हूँ।'' परन्तु श्रीगोविन्ददासजी ने एक नहीं मानी। इनका कहना था कि आप पहले समीपस्थ गोविन्दकुण्ड में स्नान करके तब मन्दिर में प्रवेश करिये।'' श्रीठाकुरजी ने कहा-''भैया ठण्ड के दिन हैं, स्नान करने का मन नहीं हो रहा है। मैं ऐसे आचार-विचार से बाज आया।'' तब श्रीगोविन्ददासजी ने कहा-''अच्छा स्नान नहीं करना चाहते हैं तो कम से कम कुण्ड

पर चलकर मन्त्र पढ़कर मार्जन तो कर लीजिये।" श्रीठाकुरजी ने श्रीगोविन्ददासजी का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। कुण्ड पर आकर मार्जन आचमन करने लगे। तब तक औचक ही गोविन्द ने धक्का देकर श्रीनाथजी को कुण्ड में गिरा दिया। संग-संग अपने भी गिरा। श्रीनाथजी को तैरने का अभ्यास कुछ कम था, अतः वह कुण्ड में गोता खाने लगे। तब श्रीगोविन्ददासजी ने ही बाँह पकड़कर निकाला भी। तत्पश्चात् ताली बजाते हुये गोविन्द अपने घर को भाग गये और श्रीनाथजी भीगे वस्त्र मन्दिर में आकर विराजे। जब श्रीगुसाईंजी सेवा में गये और श्रीठाकुरजी को भीगे वस्त्र पाये तो पूछे-"जै-जै, यह वस्त्र कैसे भीगे हैं?" श्रीनाथजी ने मुँह बिचकाकर कहा-"गोविन्द ने धक्का देकर मुझे कुण्ड में गिरा दिया था, अतः मेरे सभी वस्त्र भीग गये।" श्रीगुसाईंजी ने तुरन्त गोविन्ददासजी को बुलाया और बड़ी फटकार लगायी कि कहीं ऐसा खेल खेला जाता है, जिससे जान जोखम उपस्थित हो, रार-तकरार बढ़े। श्रीगोविन्ददासजी ने हँसकर कहा-"गुसाईंजी! आपके श्रीलालजी (श्रीठाकुरजी) भंगी के बेटे को घोड़ा बनाकर उस पर सवारी किये थे। हमने कहा-"स्नान करके मन्दिर में चलो, परन्तु ये नहीं माने, तब मैं जैसे-तैसे इन्हें स्नान कराकर मन्दिर में ले आया। यदि मैं ऐसा नहीं करता तो आपका सब आचार-विचार समाप्त हो जाता। यह सुनकर श्रीगुसाईंजी का हृदय भर आया और कहने लगे कि धन्य हैं गोविन्द सखा, जिनके साथ खेले बिना श्रीठाकुरजी का मन ही नहीं मानता।"

इस प्रकार श्रीगोविन्ददासजी के अनन्त चरित्र हैं। श्रीसूरदासजी, श्रीपरमानन्ददासजी, श्रीकुम्भनदासजी की तरह श्रीगोविन्ददासजी भी नित्य नूतन पद रचना तथा गायन द्वारा श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा किया करते। आपके पद बड़े ही सुललित हैं। यथा-"प्रीतम प्रीति ही ते पैये। जदपि रूप गुण सील सुघरता इन बातन न रिझैये।। सत कुल जनम करम सब लच्छन वेद पुरान पढ़ैये। गोविन्द प्रभु गुन रूप सुधा बिन रसना कहाँ नचैये।।१।। आओ मेरे गोविन्द गोकुल चन्दा। भइ बड़ि बार खेलत जमुना तट बदन दिखाय देहु आनन्दा।। गायन की आवन की बिरियाँ दिन मनि किरन होति अति मन्दा। आये तात मात छतियाँ लगे गोविन्द प्रभु ब्रजजन सुखकन्दा।।२।।" श्रीगोविन्दस्वामीजी का तिरोधान श्रीगुसाईं विट्ठलनाथजी के साथ ही हुआ। श्रीगुसाईंजी के तुरन्त बाद ही ये श्रीगोवर्धनजी की कन्दरा में प्रवेश कर गये।

श्रीविद्यापतिजी—मैथिल कोकिल महाकवि श्रीविद्यापतिजी का प्रादुर्भाव विक्रम की पन्द्रहवीं सदी में बिहार प्रान्त के विसपी ग्राम में मैथिल ब्राह्मण कुल में हुआ था। श्रीराधा-कृष्ण इनके परमाराध्य थे। इन्होंने कवि चक्रवर्ती श्रीजयदेवजी की तरह शृङ्गार रस पद्धति

से श्रीराधाकृष्ण की लीलाओं का आस्वादन किया है। इनके पदों में रस मूर्तिमान हो गया है। यथा–''नन्दक नंदन कदम्बक तरु तरे धिरे धिरे मुरली बजाव। समय संकेत निकेतन बइसल फेरि फेरि बोलि पठाव।। सामरि तोरा लगि अनुखन बिकल मुरारि। जमुना के तिर उपवन उदवेगल फिरि-फिरि ततहिं निहारि।। गोरस बेंचए अवइत जाइत जनि जनि पुछ कन मारि। तोहें मतिमान सुमति मधुसूदन वचन सुनहुं किछु मोरा।। भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति वंदह नंद किशोरा।।१।। लोचन धायेल फेधायेल हरि नहिं आयल रे। शिव शिव जिवउ न जाये आस अरुझायल रे।। मन करि तहँ उड़ि जाइय जहँ हरि पाइय रे। प्रेम परस मनि जानि ताहि उर लाइय रे।। सपनेहुं संगम पाओल रंग बढ़ाओल रे। सेउ हमरा विधि विघटावल निन्दिओ हेरायल रे।। भनइ विद्यापति गाओल धनि धीरज कर रे। अचिरे मिलि तोहिं बालम पुरत मनोरथ रे।।२।। कुँज भवन ते निकसलि हे रोकल गिरिधारी। एक ही नगर बस माधव हे जनि करु बटमारी।। छाँडू कन्हैया मोर आँचर हे फाटति नवसारी। अपजश होइत जगत भरि हे जनि करहु उघारी।। संग की सखी अगुआइल हे हम एकसरि नारी। दामिनि आइतुलायल हे एकराति अंध्यारी।। भनइ विद्यापति गाओल हे सुनु गुनवंती नारी। हरि के संग तोहि डर नाहिं हे, तू है परम गँवारी।।३।।''

श्रीविद्यापतिजी की उपासना में अनन्यता के नाम पर संकीर्णता नहीं थी। वे सभी देवी-देवताओं के प्रति आदर भाव रखते थे। इनके पदों में श्रीशिव, पार्वती, गङ्गा के प्रति भी इनकी बड़ी भक्ति दिखाई पड़ती है। श्रीपार्वतजी का स्मरण करते हुये आप लिखते हैं कि-''हिमगिरि कुँवरि चरन हिरदय धरि कवि विद्यापति भाखे।'' वाणेश्वर महादेव की स्तुति करते हुये आप कहते हैं-''कखन हरब दु:ख मोर, हे भोलानाथ। दुखहि जनम भेल दुखहि गमाएब, सुख सपनेहु नहिं भेल हे भोलानाथ। भनइ विद्यापति मोर भोलानाथ गति, देहु अभय वर मोहिं हे भोलानाथ।।'' आदि। इनकी भक्ति से सन्तुष्ट होकर भगवान शिव ने बहुत काल तक इनकी चाकरी बजाई। वह प्रसंग इस प्रकार है-''एकबार श्रीविद्यापतिजी के मन में एक सुयोग्य सेवक की अभिलाषा हुई। बस, उसी क्षण एक गौर वर्ण व्यक्ति इनके पास आया और अपने को नौकर रख लेने की प्रार्थना करने लगा। उसके सुन्दर स्वरूप और मधुर वचनों ने इनके मन को आकृष्ट कर लिया। अत: इन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। उसका नाम उगना था। उगना इनकी समस्त सेवायें करता। एकदिन ये उगना को साथ लिये कहीं पर जा रहे थे। मार्ग में इन्हें प्यास लगी। उगना से जल लाने को कहा। उगना थोड़ी ही दूर जाकर वृक्षों के झुरमुट में से लोटा भर लाया। इन्होंने जलपान किया। गंगाजल का सा स्वाद आया।

चकित हो गये कि यहाँ गंगाजल कहाँ? पूछे तो उगना ने कहा-" यही पास से ही लाया हूँ।" उगना के उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ। श्रीविद्यापतिजी ने नेत्र बन्दकर किंचित् ध्यान किया। जब नेत्र खोले तो इन्हें उगना की जगह भगवान शिव के दर्शन हुये। ये भगवान शिव के चरणों में लोट-पोट हो गये। श्रीशिवजी की जटाओं से गंगा की धारा बह रही थी। श्रीविद्यापतिजी समझ गये कि सचमुच वह जल किसी अन्य कूप बावली का न होकर साक्षात् गंगाजी का ही था। श्रीशिवजी ने कहा-"विद्यापतिजी! मुझे आपके साथ रहने में बड़ा सुख मिलता है, अत: मैं ही उगना रूप से आपकी सेवा में रह रहा था। अभी भी मैं आपके ही साथ रहना चाहता हूँ। परन्तु देखना, यह रहस्य किसी से प्रकट न करना।" इतना कहकर भगवान शिवजी पुन: उगना रूप में हो गये। परन्तु अब श्रीविद्यापतिजी और उगना में पहले जैसा स्वामी सेवक का भाव नहीं रहा। अब तो यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि कौन स्वामी है और कौन सेवक? सेवक के साथ इस प्रकार का बर्ताव श्रीविद्यापतिजी की पत्नी को अच्छा नहीं लगता, अत: वह उगना से चिढ़ने लगीं। एकदिन तो किसी कार्य में किंचित् देर हो जाने पर वे उगना को जलती हुई लकड़ी लेकर मारने दौड़ी। यह देखकर श्रीविद्यापतिजी से रहा नहीं गया। वे बोल ही पड़े-"अरे, अधमे! तू मेरे इष्टदेव देवदेव महादेव को मारने दौड़ रही है।" पत्नी तो जहाँ की तहाँ रुक गईं परन्तु उगना अन्तर्धान हो गया। श्रीविद्यापतिजी को उगना का वियोग व्याप गया। उस समय इन्होंने यह पद गाया-"उगना रे मोर कतए गेला। कतए गेला सिवकी दहु भेला।। भांग नहिं बटुआ रूसि वैसलाह। जोहि हेरि आनदेल हँसि उठिलाह।। जे मोर कहता उगना उ देस। ताहि देबओकर कंगना बेस।। नन्दन बन में भेंटल महेस। गौरि मन हरषित मेटल कलेस।। विद्यापति भन उगना सो काज। नहिं हितकर मोर त्रिभुवन राज।।

"श्रीगंगावाक्यावली" नामक रचना में इनकी गङ्गानिष्ठा व्यक्त होती है। कहते हैं कि इनके देह-त्याग के समय जब इनके परिवार के लोग इन्हें श्रीगंगाजी ले जा रहे थे तो मार्ग में इन्होंने पूछा-"अब गंगाजी कितनी दूर हैं?" घरवालों ने बताया-"तीन कोस।" तब इन्होंने कहा-"अब मुझे यहीं उतार दो। जब मैं श्रीगंगाजी के लिये इतनी दूर से आया हूँ क्या वे मेरे लिये इतनी दूर भी नहीं आ सकती हैं?" यही हुआ, घरवालों ने इन्हें वहीं उतार दिया और वही हुआ जो भक्तराज चाहते थे। सचमुच रातोंरात श्रीगंगाजी वहाँ आ गयीं। आज भी श्रीविद्यापति स्टेशन इस प्रसंग का स्मरण दिला रहा है।

श्रीब्रह्मदासजी—आप अपनी कविता में सदैव श्रीकृष्ण लीला का ही गुणगान करते थे। जन समाज में आपकी कविता का बड़ा आदर था। आपका परमोत्कर्ष एक प्राकृत कवि